जिनकी महान् कृपा ने
सम्यग्-ज्ञान-दर्शन चारित्र की साधना में
सुदृढ़ और विकसित होने की प्रेरणा दी
उन, पूज्य प्रगुरुवर (दादा गुरु)
पण्डितरत्न स्व० श्री मंगलचन्द जी महाराज
की
पावन-स्मृति में·······

—मुनि सतीशचन्द्र

मधुर वक्ता श्री रतन मुनि जी महाराज

हम आज कर्मयुग (कर्मभूमि) में जी रहे हैं। आज वाणी का नहीं, आचरण (कर्म) का युग है। आचार ही विचार को जीवित रख सकता है और युग-युग तक उसकी तेजस्विता से विश्व को आलोक दे सकता है।

सन्तों की वाणी शीघ्र प्रभावकारिणी होती है, इसका कारण भी उनका आचरण, चरित्र और साधना ही है। साधना-स्फूत वाणी अमोघ होती है।

श्री रतन मुनिजी से मैं परिचित हूँ। वे बड़े ही मधुर व साधना-प्रिय सन्त हैं। अध्ययन-चिन्तन-मनन में उन्हें रुचि है। इस कारण उनकी वाणी में भी प्रभाव है। जहाँ भी जाते हैं—

वीतराग प्रभु की वाणी की रसधार बहाते हैं और श्रोताओं को भाव-विभोर कर देते हैं। प्राचीन तत्त्व-ज्ञान के साथ आधुनिक विज्ञान का समन्वय साधकर सोचने—करने की वृत्ति उनमें है, ऐसा मेरा अनुभव है। अतः मुझे विश्वास है कि उनके प्रवचनों में भी केवल गूढ़ दार्शनिक और पौराणिक बातें न होकर मानव के अन्तःकरण को स्पर्श करने की, उसे झकझोर कर चेतना को विकासोन्मुखी बनाने की क्षमता होगी।

सब के मंगलमय भविष्य की मंगल कामना के साथ—

—उपाध्याय अमर मुनि

वीरायतन
२१।८।७८

आशीर्वचन

वाणीभूषण पं० रत्न श्रीरतन मुनि जी के प्रवचनों का संकलन 'साधना का राजमार्ग' नाम से प्रकाशित किया जा रहा है, यह जानकर सन्तोष हुआ।

श्री रतन मुनि जी शांत और मधुर स्वभाव के विचारक सन्त है, उनकी वाणी मे माधुर्य भी है, ओज भी है। सन्तो के साधना-पूत अन्त:करण से निकली हुई वाणी ने भूले-भटके अनेक पथिको को सन्मार्ग पर लगाया है, आज भी यही आशा है।

वीतराग वाणी की निर्मल-विश्वबन्धुत्व पूरित मन्दाकिनी जन-जन के जीवन को सुख, शांति और सद्भाव की शीतलता प्रदान करे और मानव आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर विभाव दशा से स्वभाव दशा मे आये—यही मेरी हार्दिक भावना है।

—आचार्य आनन्द ऋषि

जालना
२६।७।७८

प्राक्कथन

साधना की परिक्रमा

साधना से सिद्धि

विश्व मे कोई भी व्यक्ति ऐसा नही होगा, जो सिद्धि या सफलता न चाहता हो। दुर्बल, असहाय, पराधीन एव अपङ्ग व्यक्ति भी सिद्धि या सफलता चाहता है। वह भी चाहता है कि मुझे अपने प्रत्येक कार्य मे सफलता मिले, सिद्धि मेरी चेरी बनकर हाथ जोडे मेरे सामने खडी रहे। परन्तु बहुत ही कम लोग ऐसे होगे, जो यह जानते होगे कि सिद्धि के लिए किस वस्तु का होना परम आवश्यक है? सिद्धि का मूल कारण कौन-सा है? ससार के विविध मनीषी इस विषय मे एकमत हैं कि साधना से ही सिद्धि प्राप्त होती है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक साधना करता है, वही कालान्तर मे सिद्धि को हस्तगत कर सकता है। यह निर्विवाद तथ्य है कि साधना के बिना संसार मे आज तक किसी को सिद्धि नही मिल सकी। विद्यार्थी विद्या-अध्ययन की साधना करता है, तभी उसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है, वह उत्तीर्ण होकर उत्तरोत्तर विद्या के सोपानो को पार करके एक दिन विद्या के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। व्यापारी अपने मनोनीत व्यवसाय के क्षेत्र मे साधना के बिना कदापि सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। वह व्यावसायिक क्षेत्र का अध्ययन करता है, माल खरीदने-बेचने का साहस करता है, अनुभव के सहारे व्यवसाय को चमकाता है और एक दिन वह अपने व्यवसाय के क्षेत्र मे अभीष्ट सिद्धि पा लेता है। यह लौकिक सिद्धि की बात हुई। लोकोत्तर सिद्धि के सम्बन्ध मे भी ठीक यही बात अनुभवसिद्ध है। भौतिक क्षेत्र मे सिद्धि प्राप्त करने के लिए जैसे साधना की आवश्यकता है, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधना की उससे भी अधिक अनिवार्य आवश्यकता है। यह ठीक है कि भौतिक क्षेत्र की साधना मे व्यक्ति बहुत शीघ्र जुट जाता है, उसमे उसकी रुचि भी हो जाती है, भौतिक लाभ के प्रलोभन को देखकर उसमे अधिकांश व्यक्ति प्रवृत्त भी हो जाते है, जबकि आध्यात्मिक क्षेत्र की साधना मे प्राय लोगो की रुचि कम होती है, रुचि भी तब होती है, जब वे भौतिक क्षेत्र की साधना करते-करते ऊब जाते है, थक जाते है, या दूसरो की प्रगति देखकर पस्त-हिम्मत हो जाते हैं, अथवा विधिपूर्वक साधना किये बिना ही एकदम मालामाल हो जाना चाहते है, अपनी प्रतिष्ठा को ताव मे रखकर उलटे-सीधे ढग से अनायास ही सिद्धि प्राप्त करना

चाहते है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र की सिद्धि मे भी चिरकाल तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा अवश्य करनी पड़ती है, बल्कि सच्चे साधक को तो अपना पूरा का पूरा जीवन इसके लिए समर्पित कर देना पड़ता है, होमना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सच्चा साधक आध्यात्मिक साधना से भौतिक सिद्धियो या उपलब्धियो की कतई इच्छा नही कर सकता। बल्कि वह तो आध्यात्मिक सिद्धियो (फलो) की भी आकाक्षा नहीं करता, वह गीता के इस महामन्त्र को दृष्टिगत रख कर अपनी अध्यात्म साधना मे सतत जुटा रहता है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

तेरा सिर्फ कर्म (कर्तव्य) करने का अधिकार है, फलो की ओर देखने का नही।

यही बात आध्यात्मिक साधक के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। वह सतत अपनी साध्यानुलक्षी साधना मे जुटा रहता है। अन्धकार भरी रात हो, चाहे दिन का उजाला हो, एकान्त निर्जन अरण्य हो, या जनता का विशाल समूह हो, सोया हो या जागता हो, कोई देखता हो या न देखता हो, वह पर्वतीय झरने की तरह अबाधगति से अपने साध्य की ओर गति करता हुआ साधना करता रहता है। ऐसा साधनाशील साधक किसी की निन्दा-स्तुति की परवाह नहीं करता, अपनी प्रशसा और प्रसिद्धि नहीं करता और न ही उसके लिए किसी की चाटुकारिता करता है। दृढ श्रद्धा और अदम्य उत्साह के साथ उसके कदम साधना-पथ पर अविरत बढते जाते है। हाँ, वह बीच-बीच मे अपने गुरुजनो से साधना के सम्बन्ध मे कोई शका हो तो पूछकर समाधान करता है, कही कोई त्रुटि या भूल हो गई हो तो उसे भी सुधारता है, साधना करते-करते कहीं स्खलना या दोष हो गए हो तो उनका परिमार्जन भी करता है। वह *अपनी आत्मा को साधना मे हुई क्षति की शुद्धि एव पूर्ति के लिए हरदम तैयार रखता* है। साथ ही साधना मे तेजस्विता और पवित्रता लाने के लिए वह अपने मुख्य साधनो—मन, वचन और काया (इन्द्रियाँ, अगोपाग आदि) को आत्मा की सेवा मे विपरीत दिशा में भटकने नहीं देता। इस प्रकार की जागरूकता, सावधानी और विवेक भी वह प्रतिक्षण रखता है। इस बात की भी वह पूरी सावधानी रखता है कि साधारण अज्ञ लोगो द्वारा की गई मिथ्या प्रशंसा से या अतिभक्ति से प्रेरित होकर वह अपने को सिद्धि प्राप्त समझ कर साधना को ठप्प न कर दे, अपना मूल्याकन करने मे वह गलती न कर बैठे। इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र मे दृढश्रद्धा और साहसपूर्वक साधना करने वाला साधक नि सन्देह एक दिन सिद्धि प्राप्त करता है।

साधना के लिए पथ-निर्देश आवश्यक

परन्तु साथ ही ऐसी आध्यात्मिक साधना करने वाले साधक के सामने भी—चाहे वह गृहस्थ साधक हो या त्यागी साधक—यह ज्वलन्त प्रश्न मुह बाए खडा रहता है कि अध्यात्म साधना का यथार्थ पथ कौन-सा है ? क्योकि जब तक व्यक्ति को सही पथ नहीं मिलता, तब तक वह उत्पथ पर भी गति कर सकता है, अथवा सम्यक् पथ

२ दर्शन-चिन्तन
३. जीवन की धारा—संयम के तटबन्ध
४. संस्कृति के अमरदीप

मानवजीवन यद्यपि एक और अखण्ड है, किन्तु उसमें साधना के विविध पहलू होते हैं। जैसे मानव-शरीर एक और अविभाज्य होते हुए भी उसके अंगोपांग अलग-अलग होते हैं और वे अलग-अलग कार्य करते हैं, सबके पीछे आत्मा की प्रेरणा और शक्ति होती है। इसी प्रकार मानवजीवन एक और अखण्ड होते हुए भी चिन्तन की धारा पृथक्-पृथक् होती है। वह जीवन को विभिन्न दृष्टिकोणों से तौलता-नापता है। कभी वह विशुद्ध अध्यात्म के दृष्टिकोण से जीवन पर विचार करता है, कभी दार्शनिक विश्लेषण-पूर्वक आत्मा के सम्बन्ध में चिन्तन करता है, कभी वह व्यावहारिक दृष्टिकोण से आत्मा की उज्ज्वलता पर मनन करता है और कभी वह सांस्कृतिक दृष्टिकोण से आत्मसाधना पर अनुप्रेक्षण करता है। इसी दृष्टि से साधना के प्रवचनों को चार खण्डों में वर्गीकृत किया गया है।

प्रथम खण्ड अध्यात्म और साधना में विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ७ प्रवचनों में अध्यात्म-साधना का पथ बताया गया है, मन को साधने की कला, आत्मा को जगाइए, देखिए ! शान्ति की समग्र साधना, सामायिक आदि सातों प्रवचन अध्यात्म साधना से सीधे सम्बन्धित है। अगर उस सम्बन्ध में कोई पथ-प्रदर्शन न होता और सीधे ही धार्मिक क्रियाकाण्ड बता दिये जाते तो साधक साधना की भ्रान्ति से पान्थिक झगड़ों और अहंकार के मायाजाल में ही फँस जाता।

इसके पश्चात् द्वितीय खण्ड दर्शन-चिन्तन में दार्शनिक जगत् में प्रचलित विविध विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में अध्यात्म-साधक को साधना का सीधा, युक्ति-संगत और सुगम रास्ता न बताया जाता तो साधक की दशा 'इतोभ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' जैसी हो जाती, वह अध्यात्म-साधना प्रारम्भ तो कर देता, लेकिन कुछ दूर चल कर दार्शनिकों की आत्मा, परमात्मा, विविधवाद, विविध धर्म आदि के विषय में विचार वैविध्य देखकर घबरा जाता और 'शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्' की तरह दार्शनिकों के शब्दजालरूपी महारण्य में भ्रान्तचित्त होकर भटकता रहता, अपनी की कराई आध्यात्मिक साधना को भी चौपट कर देता। इसलिए दूसरे खण्ड में—बंध और मोक्ष का स्वरूप जैनधर्म का अनेकान्तवाद, ईश्वर का स्वरूप और स्थान, 'धर्म का स्वरूप एवं अहिंसा की व्यावहारिक दिशा आदि ५ दार्शनिक प्रवचनों द्वारा स्पष्ट पथ-प्रदर्शन किया गया है। इससे साधक दार्शनिक क्षेत्र में समाहितचित्त होकर अपनी आत्मा के विकास के लिए साधना में प्रगति कर सकता है।

इसके अनन्तर तीसरा खण्ड—**जीवन की धारा : संयम के तटबन्ध** है। जीवन का आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण स्पष्ट होने पर भी साधक के सामने जब आत्मा को व्यवहार चारित्र के मार्ग पर चलाने की बात आती है, तब यदि उसे

केवल निश्चय दृष्टि से आत्मा का स्वरूप समझा कर बिठा दिया जाए तो वह मे सन्तुष्ट हो जाएगा, वह केवल अध्यात्म के आकाश में हवाई उड़ानें भरेगा, हार की धरती पर उसके कदम नहीं बढ़ सकेंगे। फिर उसमें जीवन में अध्यात्म व्यवहार का सामजस्य नहीं होगा। आध्यात्मिक विचार तो आसमान को छूते होंगे, लेकिन उसका व्यावहारिक जीवन अधर्म, अनीति, अन्याय, दुर्व्यसन आदि दोषों से लिप्त होगा। इसलिए इस खण्ड में जीवन के चारित्रिक—आचरण-के पर सांगोपांग मार्गदर्शन दिया गया है। आचार धर्म, संयम, व्यवहार में नीति ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दान, वाणी और विचारों पर संयम, दो महारोग—व्यसन फैशन, मद्य—जीवन का दुश्मन, खाद्यविवेक बनाम शाकाहार, इन ११ प्रवचनों अध्यात्म की व्यावहारिक साधना का स्पष्ट पथ-निर्देशन किया गया है।

इसके पश्चात् चौथा खण्ड है—संस्कृति के अमरदीप। अध्यात्म-साधना वाला साधक बीच-बीच में थक जाने के कारण विश्राम चाहता है, प्रेरणा उत्साह भरने वाले कार्यक्रम चाहता है, और तरोताजा होकर पुन. साधना-प गतिशील होने के लिए मार्गदर्शन चाहता है। इसी दृष्टि से चतुर्थ खण्ड में जै के अध्यात्म से ओतप्रोत सांस्कृतिक पर्वों से प्रेरणा या उनका सहारा लेकर की वाली अध्यात्म साधना में पथ निर्देश किया गया है। प्रत्येक सांस्कृतिक पर्व स के लिए एक-एक पड़ाव है, जहाँ साधक विश्राम लेकर, तरोताजा होकर प्रेर सम्बल के साथ आगे बढ़ता है और साध्य को प्राप्त करता है।

इस खण्ड में दीपपर्व, ज्ञानपंचमी, अक्षयतृतीया, रक्षाबन्धन, पर्युषण मह क्षमापर्व—संवत्सरी, और विजयादशमी इन ७ अध्यात्म सपृक्त सांस्कृतिक पर्व विवेचन किया गया है, ताकि साधक इन पर्वों के माध्यम से प्रेरणा का सम्बल एवं आत्मा पर जमी हुई धूल, कीचड़ या स्खलन आदि दोषों का भली-भांति परि जन करके अपनी साधना यात्रा साध्य की दिशा में आगे बढ़ा सके।

कुल मिलाकर 'पुस्तक' के सभी प्रवचन बहुत ही अनूठे, सरल, सरस मे सम्पृक्त एवं अपने विषय के अनुरूप पाठक को यथार्थ पथ-प्रदर्शन करने वाले प्रवचनों की भाषा प्राजल है, भाव दुरूह नहीं, अपितु अर्थ-गम्भीर और स्पष्ट इन सभी प्रवचनों में ओज है, लालित्य है, और प्रतिपाद्य विषय के सभी पहलुओं दिग्दर्शन किया गया है।

प्रवचनकार एवं सम्पादक

प्रस्तुत प्रवचन संग्रह के प्रवचनकार है—पण्डितरत्न श्री रत्नमुनिजी राज। प्रवचनकार सुवक हृदय है, भावों के शिल्पी है, प्रवचन कला में सिद्धहस्त गूढ़ से गूढ़ विषय को युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा समझाने में कुशल कलाकार कहना होगा कि प्रस्तुत प्रवचनों के प्रवचनकार अपने उद्देश्य में पूर्ण हुए है।

गुरुदेव श्री के प्रवचन सुनने वाले श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाओं ने समय-समय पर मुझे प्रेरणा दी—इन प्रवचनों का प्रकाशन हो तो सभी के लिए उपयोगी होंगे। लेकिन मैं अध्ययन और परीक्षा की तैयारी में संलग्न रहा, अतः इस ओर ध्यान नहीं दे सका। कुछ निकटस्थ सज्जनों का अत्यधिक प्रेमाग्रह देख कर मैं भी प्रेरित हुआ, प्रवचनों को कलमबद्ध किया और सुविज्ञ संपादक श्रीचन्दजी सुराना से सम्पादन करने का आग्रह भी किया। मेरे आग्रह को सम्मान देकर—इन प्रवचनों को सम्पादन की शाण पर चढ़ाकर वर्गीकरण करके, भाषा की पोशाक पहनाकर सुसज्जित करने एवं प्रवचनों में चमक-दमक लाने का कार्य— सिद्धहस्त लेखक एवं कुशल सम्पादक श्री श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' ने किया है।

सरसजी की लेखनी का जादुई स्पर्श पाकर प्रवचनों में अपूर्व निखार आ गया है। मैं उनको साधुवाद देता हूँ।

आशा है, अध्यात्म प्रेमीजन एवं जीवन को सुखी, शान्तिमय बनाने को इच्छुक सज्जन इन प्रवचनों से लाभ उठायेंगे।

—मुनि सतीशचन्द्र

अनुक्रमणिका

१

मन को साधने की कला

हमारे शरीर में सबसे अधिक शक्तिशाली, सबसे अधिक काम करनेवाला और सारे शरीर का नेता मन है। मन हमारे जीवन रूपी यान का सबसे बड़ा यन्त्र है। परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि आपने कभी अपने मन से बात की है? आपने अपने मित्रों से कई बार बातें की होंगी, अन्य लोगों से भी आप मिले होंगे, परन्तु मन से आप कभी एकान्त में मिले हैं? मैं समझता हूँ कि नहीं मिले होंगे। इसका कारण यह है कि 'मन' नामक तत्त्व की शक्ति और महत्त्व का आपने कभी विचार ही नहीं किया। आप तन की सुरक्षा करते हैं, खाना भी खूब सजा-संवार कर भोगते हैं, जगत् की तमाम चीजों को संभालते हैं। परन्तु मन नामक तत्त्व की संभाल नहीं करते।

मन में कितना मैल भरा है?

आप प्रातःकाल उठते ही हाथ-मुंह धोते हैं, दांत साफ करते हैं, शरीर की सफाई करते हैं, उसके लिए शरीर पर साबुन घिसकर मल-मल कर नहाते हैं, आंखें साफ करते हैं। सबको स्वच्छ और शुद्ध करते हैं। आपसे कोई पूछता है कि इतनी सफाई क्यों करते हैं? तो आप झट से कह देंगे कि "मुझे गन्दगी जरा भी पसन्द नहीं है। मैं तो सब कुछ साफ और स्वच्छ देखना चाहता हूँ।" परन्तु आप कभी मन की गन्दगी के विषय में ऐसा कहते हैं कि मुझे मन की गन्दगी बिलकुल पसन्द नहीं है, मैं मन को शुद्ध और स्वच्छ देखना चाहता हूँ? मन में कितना मैल भरा है? इसका भी आप कभी विचार करते हैं? मन में अपवित्र, अशुद्ध और राग-द्वेष से गन्दे, घिनौने विचारों का कितना कूड़ा-करकट जमा हो गया है, क्या आप कभी इस सम्बन्ध में चिन्तन करते हैं? आप कहेंगे कि नहीं, महाराज! इस विषय में हम सोचते ही कम हैं।

मन को साधे बिना सभी सुख फीके

आप कदाचित् यह कहकर छिटक सकते हैं कि मन पर विजय पाना या मन को शुद्ध रखने का काम तो साधु-सन्तों या योगियों का है, हमारा नहीं। हम तो गृहस्थ हैं। हमें तो अपनी घर-गृहस्थी चलाने से मतलब है। हमें तो अपनी कमाई और सुख-शान्ति से जीने से प्रयोजन है। हमें मन को साध कर करना क्या है? परन्तु

मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ ।
त सम्मं तु निगिण्हामि, धम्म सिक्खाइ कन्थगं ॥

× ×

एक सदा शाश्वतिको ममात्मा
विनिर्मल: साधिगमस्वभाव: ।
बहिर्भवा संत्यपरे समस्ता
न शाश्वता. कर्मभवाः स्वकीया ॥

१

मन को साधने की कला

हमारे शरीर में सबसे अधिक शक्तिशाली, सबसे अधिक काम करनेवाला और सारे शरीर का नेता मन है। मन हमारे जीवन रूपी यान का सबसे बड़ा यन्त्र है। परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि आपने कभी अपने मन से बात की है ? आपने अपने मित्रों से कई बार बातें की होंगी, अन्य लोगों से भी आप मिलते होंगे, परन्तु मन से आप कभी एकान्त में मिले हैं ? मैं समझता हूँ कि नहीं मिले होंगे। इसका कारण यह है कि 'मन' नामक तत्त्व की शक्ति और महत्त्व का आपने कभी विचार ही नहीं किया। आप तन की सुरक्षा करते हैं, भाषा भी खूब सम्हल-सम्हल कर बोलते हैं, जगत् की तमाम चीजों को सम्भालते हैं। परन्तु मन नामक तत्त्व की सम्भाल नहीं करते।

मन में कितना मैल भरा है ?

आप प्रातःकाल उठते ही हाथ-मुँह धोते हैं, दाँत साफ करते हैं, शरीर की सफाई करते हैं, उसके लिए शरीर पर साबुन घिसकर मल-मल कर नहाते हैं, आँखें साफ करते हैं। सबको स्वच्छ और शुद्ध करते हैं। आपसे कोई पूछता है कि इतनी सफाई क्यों करते हैं ? तो आप झट से कह देंगे कि "मुझे गन्दगी जरा भी पसन्द नहीं है। मैं तो सब कुछ साफ और स्वच्छ देखना चाहता हूँ।" परन्तु आप कभी मन की गन्दगी के विषय में ऐसा कहते हैं कि मुझे मन की गन्दगी बिलकुल पसन्द नहीं है, मैं मन को शुद्ध और स्वच्छ देखना चाहता हूँ ? मन में कितना मैल भरा है ? इसका भी आप कभी विचार करते हैं ? मन में अपवित्र, अशुद्ध और राग-द्वेष से गन्दे, घिनौने विचारों का कितना कूड़ा-कर्कट जमा हो गया है, क्या आप कभी इस सम्बन्ध में चिन्तन करते हैं ? आप कहेंगे कि नहीं, महाराज ! इस विषय में हम सोचते ही कम हैं।

मन को साधे बिना सभी सुख फीके

आप कदाचित् यह कहकर छिटक सकते हैं कि मन पर विजय पाना या मन को शुद्ध रखने का काम तो साधु-सन्तों या योगियों का है, हमारा नहीं। हम तो गृहस्थ हैं। हमें तो अपनी घर-गृहस्थी चलाने से मतलब है। हमें तो अपनी कमाई और सुख-शान्ति से जीने से प्रयोजन है। हमें मन को साध कर करना क्या है ? परन्तु

आप मानें या न मानें मन को साधे बिना, मन को शुद्ध और स्वस्थ किये बिना आप चाहे लाखों रुपये कमा लें, चाहे आपके पास बंगला, कार, कोठी तथा अन्य साधन सामग्री हो, आप न तो सुख-शान्ति से जी सकेंगे और न ही घर-गृहस्थी का पालन सुखपूर्वक कर सकेंगे। आपके मन में अशान्ति होगी तो न सुख से खा-पी सकेंगे और न ही सुख से सो सकेंगे। जिसका मन रोगी है, जिसका मन अस्वस्थ और चिन्तातुर है, जिसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह के गन्दे विचारों का कूड़ा-कर्कट भरा है, वह चाहे जितना धन तिजोरी में जमा कर लें, चाहे जितने जीवनयापन के साधन जुटा ले, सुखपूर्वक जी नहीं सकेगा।

आपकी इन्द्रियों के साथ मन न जुड़ा हो तो !

कई बार आपको पता भी नहीं चलता कि मन कितनी उथल-पुथल मचा देता है। आपके शरीर का प्रधाननायक तथा जिन्दगी के सारे मैदानों का खिलाड़ी मन है। फिर भी आप उसे पहचानते नहीं, अथवा उसकी ओर ध्यान ही नहीं देते। आपकी जो पाँचों इन्द्रियाँ हैं, उनके पीछे कौन काम करता है? ऐसा कौन है जिसकी शक्ति से आपके कान, नाक, आँख, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय काम करते हैं? आपका मन ही तो है! आँख के साथ आपका मन जुड़ा हुआ नहीं होगा, तो आँख वस्तुओं को देखती होगी, फिर भी न देखने जैसा होगा, आप किसी रास्ते से जा रहे हों, उस समय आपके पास से कोई गुजर रहा हो, आपकी आँखें उसके सामने हों, उसकी भी आँखें आपके सामने हों, अगर आपका मन अन्यत्र कहीं होगा, तो आप उसे देखकर भी नहीं देखेंगे, भले ही वह आपके निकट से होकर चला गया हो। दूसरी बार जब कभी आपसे वह मिलेगा तो कहेगा—"अजी ! मैं तो उस दिन आपके पास से ही होकर गया था, आपने मेरी ओर देखा भी था, फिर भी आप बोले तक नहीं।"

आप कहेंगे—"जी ! मेरा ध्यान आपकी ओर नहीं था।"

मैं आपसे पूछता हूँ कि ऐसा क्यों ? आपकी आँखें तो उस भाई की ओर ही थी, लेकिन उस समय आँख का तंत्र मन के साथ जुड़ा हुआ नहीं था। इसलिए आँखों ने देखा जरूर, मगर देखने का सन्देश मन के पास पहुँचा नहीं, और जब तक मन का प्रत्युत्तर न मिले, वहाँ तक कोई भी काम होता नहीं।

कई बार आपका मन दुनिया की दूसरी तरंगों में बह रहा हो, उस समय आप किसी के पास बैठे हों, बात चल रही हो, और सामने बैठा हुआ व्यक्ति आपसे पूछे—"सुना आपने ?" तो आप कहेंगे—नहीं सुना, मेरा मन जरा ठिकाने नहीं था। जरा दूसरी बार कहिए तो। आपको तकलीफ तो होगी।"

यदि वह व्यक्ति उससे पूछे कि आपके कान तो ज्यों के त्यों खुले हैं, उन पर कोई आवरण भी नहीं है, फिर भी आपने उस समय मेरी बात कैसे नहीं सुनी ? मैं कहूँगा कि आपके कान तो खुले थे, लेकिन कान को जो मन का सन्देश पहुँचना

चाहिए, वह नहीं पहुँचा, इसलिए आपके कान तो खुले थे, पर मन से जुड़े हुए नहीं थे।

आपका नाक खुला हो, किन्तु आपका मन कहीं अन्यत्र घूम रहा हो तो आपको चाहे जितने इत्र और सेंट सुंघाए जाएँ फिर भी वे आपके लिए आनन्ददायक नहीं होंगे।

इसी प्रकार आप भोजन करते हों, आपकी थाली में बढ़िया मिठाइयाँ और स्वादिष्ट चीजें परोसी गई हों, आप उन चीजों को खा भी रहे हों, किन्तु अगर आपका मन न्यायालय के किसी मुकद्दमे की पेशी के चक्कर में होगा, तो आप चाहे थाली में परोसी हुई चीजों पर हाथ साफ कर लेंगे, लेकिन आपसे पूछा जाए कि आपने जो चीजें खाई, वे कैसी मीठी, खट्टी या चरपरी थीं, साग में नमक कम था या ज्यादा ? तो आप कहेंगे—"मुझे इस बात का जरा भी पता नहीं है।"

अगर आपका मन रसनेन्द्रिय के साथ जुड़ा हुआ होता तो आप फौरन कहते—"साग में नमक कम है। मिठाइयाँ अच्छी नहीं बनी।" परन्तु आपका मन दूसरी जगह चक्कर काट रहा था, इसलिए उस समय आपकी थाली में जो भी चीज परोसी गई हो, उनमें से लड्डू, पेड़े, बर्फी आदि भी आपने खाई होंगी, परन्तु उस समय आपके लिए वे वस्तुएँ किसी महत्त्व की नहीं थीं, क्योंकि आपको भोजन करके सीधे कोर्ट में जाना था, अतः आपके मन का लगाव रसनेन्द्रिय के साथ नहीं था, इस कारण आपने जो भी चीज खाई हो, उसके रस का मन से स्पर्श नहीं हुआ।

निष्कर्ष यह है, बन्धुओ ! पाँचों ही इन्द्रियों का जो मुख्य केन्द्र है, वह है मन। आप पाँचों इन्द्रियों को तो साफ-स्वच्छ रखते हैं, लेकिन जो उनका कार्यवाहक केन्द्र—मन है, वह कितना मैला पड़ा है ? उसमें कितनी गन्दगी भरी हुई है, कितना कूड़ा-क[illegible] भरा हुआ है ? उस पर जंग लग गया है, फिर भी आप उस पर तेल [illegible]ग्रीसिंग' नहीं करते। फलतः आपकी पाँचों इन्द्रियों को व्यवस्थित रूप में

मन कैसे अशुद्ध होता है ?

आप पूछेंगे कि "मन कैसे अशुद्ध हो जाता है ? मन में इतना कूड़ाकर्कट और गन्दगी कैसे भर जाती है ?"

आपका प्रश्न बहुत ही उचित है। जब तक मन में प्रविष्ट अशुद्धि का ज्ञान न हो, तब तक उसे दूर करने की बात भी कैसे सोची जा सकती है ?

इसे एक उदाहरण द्वारा मैं आपको समझाता हूँ। एक जगह आँधी चल रही है, एक आदमी घर के दरवाजे बन्द करके खुले बदन बाहर बैठ जाता है। वह इतना गाफिल है कि उसे अपने स्वास्थ्य बिगड़ने का जरा भी डर नहीं है। नतीजा यह हुआ कि उसका सारा शरीर रेत के कणों से भर गया, गर्म हवा के कारण उसे लू लग गई और वह बीमार पड़ गया।

यही बात मन के सम्बन्ध में समझ लीजिए। चारों ओर खराब विचारों की आँधी चल रही है। कहीं पाँचों इन्द्रियों के विषयों की गर्मागर्म हवाएँ चल रही हैं। लापरवाह और गाफिल मनुष्य अपने मन को खुला छोड़ देता है। वे गन्दे विचार और विषयों की गर्म हवाएँ उसके मन में सीधी प्रविष्ट हो जाती हैं। उसका मन इस प्रकार अस्वच्छ और अस्वस्थ हो जाता है।

एक नन्हे-से बच्चे को देखिए। उसके मन में असंख्य विचार चलते रहते हैं, उनके कारण ही वह अनेक ऊटपटाँग प्रश्न पूछता रहता है।

आपके मन में भी अनेक अशुद्ध विचार आते हैं, पर आप उनको भगाते या खदेड़ते नहीं, प्रायः उन्हें पपोलते रहते हैं। कई बार तो आप उन अशुभ मलमय विचारों को दबाते-छिपाते रहते हैं। आप यों मान लेते हैं कि कहीं मेरे इन अशुभ विचारों को जान लेगा तो क्या कहेगा ? लोग मुझे पापी, अधार्मिक, ठग, दम्भी और पामर मनुष्य कहेंगे। समाज में मेरी जो भी प्रतिष्ठा, सम्मान और प्रसिद्धि है, वह समाप्त हो जाएगी। लोग मुझे धूर्तों का सरदार बताएँगे।" इस दृष्टि से आप अपने मन में प्रविष्ट होने वाले उन गन्दे विचारों को चुपचाप अन्दर घुसने देते हैं, मन में आने वाले अशुभ विचारों के तूफान को, रागद्वेष, कामक्रोध आदि विकारों से परिपूर्ण मन के उन अशुद्ध विचारों को आप छिपा लेते हैं, उन्हें मन ही मन में दबा देते हैं।

जो जीवनद्रष्टा अथवा जीवन के अर्थ का जिज्ञासु होता है, वह यों सोचता है कि मन के अशुद्ध और गन्दे विचारों को अन्दर ही अन्दर दबाए रखूँगा तो कब तक दबे रह सकेंगे, एक दिन भयंकर विस्फोट इनमें से होगा, और वह सारे ही जीवन को ले डूबेगा।

दबी हुई वस्तु में से तो अन्ततोगत्वा एक दिन भयंकर विस्फोट होता ही है, जो आसपास के शुद्ध वातावरण का भी सत्यानाश कर बैठता है। इसी प्रकार मन की गुफा में दबी हुई गन्दे विचारों की पिटारी एक दिन टूट कर बाहर आती है।

उस समय इतना भयंकर विस्फोट होता है कि वह उस धर्म, समाज और व्यक्ति के प्रति श्रद्धा को नष्ट-भ्रष्ट मुक्त कर डालता है। उस व्यक्ति को तो सर्वस्व खत्म कर डालता है।

इस प्रकार मन आपके जीवन में गहरा घुस जाता है। मन में गन्दे विचारों की परतें जम जाती है, वे मन को अशुद्ध और अस्वस्थ बना देती है।

विकृत मन, पतन की ओर ले जाता है

आपको मैं यह भी बता दूँ कि मन आपके अन्दर किस जरिए घुसता है।

अगर आप गाफिल है तो आप जहाँ कहीं भी जाएँगे, मन आपको पतन की ओर घसीट ले जाएगा। आप संभल भी नहीं पाएँगे और वह आपको पछाड देगा। कैसे? जरा सुनिए! आप अपने मन को बहलाने के लिए अधिकतर ऐसे स्थानों में जाया करते है, जहाँ इन्द्रियों के विषयों का पोषण होता हो। जैसे आप किसी संगीत की महफिल में जाते है, जहाँ एक से एक बढ़कर संगीतज्ञ ताल और लय के साथ स्वर लहरियाँ छोड़ते है। वे आपके कानों से टकराती हैं। आपको वह संगीत अत्यन्त कर्णप्रिय लगता है। आप धार्मिक और आध्यात्मिक संगीत को प्राय रूखा और कर्णकटु समझते है, उसमें आपको आनन्द नहीं आता। आप चाहते है, दूसरे शब्दों में कहें तो आपका मन चाहता है, ऐसे गीत, जिसमें वासनामय प्रेम की झंकार हो, गाने वाली भी कोई ऐसी सुरैया हो, चाहे वह प्रत्यक्ष सामने न हो, रेडियो पर ही गा रही हो, अथवा टेलीविजन पर गा रही हो, तो आपको वह सुरीला स्वर इतना मधुर और आकर्षक लगेगा कि आप झूम उठेंगे।

इसी प्रकार आप कहीं अपना मन बहलाने के लिए सिनेमा देखने चले गए या किसी नाटक का प्रेक्षण करने चले गए तो आप अपने कानों और अपने नेत्रों को धन्य समझने लगेंगे। आप सोचेंगे, वाह! कितना मधुर संगीत है और कितना अद्भुत एवं अप्सरा-सा रूप है। आप उसकी भावभंगी में इतने सराबोर हो जाएँगे कि आपको पता ही नहीं चलेगा कि किसप्रकार कान और आँख के विषय आए और अन्दर चुपके से प्रविष्ट हो गए। उन्होंने आपके मन को विकृत एवं अस्वस्थ बना दिया।

इसी प्रकार आप किसी पार्टी में चले गये या किसी बरात में बराती बन कर गए। आजकल पार्टियों और बरातों में खाने-पीने की कोई मर्यादा नहीं रहती। एक से एक बढ़कर मिठाइयाँ बनती है, प्राय. वे डालडा घी की होती है। इसी प्रकार तेज मसालेदार चरपटी चीजें भी बनती है, जिनमें मिर्च, नमक, खटाई आदि अत्यधिक मात्रा में होती है। आपको और अन्य बरातियों को प्राय. वे मिठाइयाँ और नमकीन जायकेदार लगते है। आपका मन उनका रसास्वादन करके तृप्त हो उठता है। आपकी रसनेन्द्रिय उसे बहुत बढ़िया बढ़कर पेट में ठूँसने के लिए हाथ और मुँह को आदेश देती है, मन भी अपना-अपना आर्डर जारी कर देता है। आप अपने आपको

[illegible] हैं। [illegible] और फिर [illegible] का दौर चलता है। [illegible] कोई [illegible] नहीं होता। [illegible] मानता है। [illegible] इसमें [illegible] किसी [illegible] होती है। [illegible] मन को [illegible] का भी उत्पन्न कर देता है। मन भी उस [illegible] किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं करता, न किसी प्रकार की रोक-टोक ही करता है। इस प्रकार [illegible] विषयों के वशीभूत होकर आज अपने को [illegible] विषयलम्पट बना डालता है।

आपकी नासिका भी आजकल विकृत हो चुकी है। आपके मन को सुगन्धित वस्तुएँ अच्छी लगती हैं। आप तेल भी सुगन्धित लगाते हैं। साबुन भी बढ़िया सुगन्धित लगाते हैं। उस पर आप अपने चेहरे को आकर्षक बनाने के लिए क्रीम, स्नो और पाउडर भी लगाते हैं, वे भी सुगन्धित होते हैं। फिर आपका हाथ इत्र या सेंट की ओर बढ़ता है। आपका मन चाहता है कि इन कपड़ों पर छिड़क कर या कानों में इत्र का फोआ ठूंस कर किसी भी तरह से मनभावन सुगन्ध से महक उठूँ। सुगन्ध से दिमाग तरोताजा हो जाता है, महक से आदमी महक उठता है, सभा-सोसाइटियों में, इस प्रकार मन की सिफारिशें सुनकर आप प्रवृत्त हो उठते हैं। और आपका मन भ्रष्ट एवं गन्दा हो जाता है। वह सुगन्ध उसे विषयों का गुलाम बना देती है।

अब लीजिए स्पर्शेन्द्रिय का हाल। आजकल के सिनेमा के गन्दे अश्लील फिल्म या नाटकों में होने वाले अश्लील नृत्य और गीत, अथवा उपन्यासों में चित्रित अश्लील, असभ्य, कामवासनावर्द्धक वर्णन या सड़कों पर जगह-जगह दीवारों पर चिपकाए हुए सिनेमा के अश्लील चित्र या नग्न, अर्धनग्न महिलाओं के कामोत्तेजक चित्र आपके मन को और स्पर्शेन्द्रिय विषय के आक्रमण से आपके जीवन को पतन से रोक सकते हैं? सच मानें तो स्पर्शेन्द्रिय के इन विकृत विषयों में जब मन ढल जाता है, उस पर उत्तम होने की मुहर छाप लगा देता है, तब वह विकृत हो जाता है, अस्वस्थ और बेचैन हो उठता है। प्रायः घासलेटी साहित्य पढ़कर या सिनेमा के अश्लील चित्र देखकर अधिकांश व्यक्तियों का मन कामरोग से ग्रस्त हो जाता है। फिर कोई सीमा या अंकुश तो मन पर रहता ही नहीं, तब मन क्यों रुकेगा, उन विषयों से अपने आपको बचाने का प्रयत्न क्यों करेगा?

इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सतत हमला होने के कारण तथा मन की पूरी सम्मति उन्हें मिल जाने के कारण मन सर्वथा निरंकुश, अस्वस्थ एवं विकृत हो जाता है।

ऐसा मन लेकर अगर व्यक्ति मन्दिर या धर्म स्थान में भी जाता है तो वहाँ

भी इन्हीं विषयों में प्रायः उसका मन भटकता रहता है। वहाँ भी वह इन्द्रियों को अपने विषय-पोषण के लिए ऑर्डर देता रहता है। इसी प्रकार सामायिक में बैठे रहने पर भी व्यक्ति का मन उन्हीं-उन्हीं परिचित विषयों में घूमता रहता है। आप कहेंगे कि सामायिक में तो वह निश्चल बैठा है, वहाँ तो किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करता। या तो वह स्वाध्याय करता है, या जप करता है, माला फेरता है या व्याख्यान सुनता है, फिर भी सामायिक में मन अन्यत्र क्यों चला जाता है? बस, उसी पूर्वाभ्यास के कारण, अस्वस्थ और विकृत बने हुए मन के कारण वह सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओं के समय भी स्थिर और एकाग्र नहीं रह सकता। वह चचल, व्यग्र, चपल और अस्थिर हो उठता है। ऐसा व्यक्ति उपवास करेगा तो भी उसका मन चुपके-चुपके खाने-पीने और पारणा करने का विचार करता रहेगा।

ऐसा विकृत मन काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का शिकार हो जाता है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सगात् सजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

यह है विकृत मन से पतन की प्रक्रिया। विकृत मन जहाँ भी जाता है, वहाँ विषयों का ही चिन्तन करता है। विषयों का चिन्तन करते-करते मनुष्य का मन विषयों में आसक्त हो जाता है। विषयों में जब अत्यधिक आसक्ति हो जाती है तो फिर उनकी प्राप्ति के लिए कामना और सकल्प-विकल्प पैदा होते हैं। जब उनकी पूर्ति नहीं होती, कोई उसमें रुकावट डालता है तो क्रोध पैदा होता है। क्रोध इतना उग्र होता है कि आखिर अपनी उक्त विषयेच्छा की पूर्ति को वह अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेता है, उससे वह सम्मोहित हो जाता है, उसकी सात्विक बुद्धि तिरोहित हो जाती है। और फिर उसकी पूर्वापरस्मृति लुप्त-सी हो जाती है, और स्मृति भ्रष्ट होते ही बुद्धिनाश हो जाता है और बुद्धि नष्ट होते ही मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

इस प्रकार जब मनुष्य का मन अत्यन्त बीमार हो जाता है, वृद्धावस्था आ जाती है, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती है, तब वह निवृत्ति धारण करता है, और धार्मिक क्रियाएँ करने लगता है। परन्तु पहले का वर्षों पुराना रुग्ण मन धार्मिक क्रियाओं में भी व्यग्र एव चचल हो उठता है, लगता नहीं। तब जाकर वह साधु-साध्वियों या योगियों के पास पहुँचता है—मन को स्वस्थ, शुद्ध एव एकाग्र करने की कला सीखने के लिए।

बीमार मन का इलाज नहीं कराते

जरा विचार तो करिये! शरीर बीमार हो जाता है तो उसका इलाज कराने

के लिए मनुष्य डॉक्टर-वैद्यों के पास कितना नम्र बनकर शीघ्र पहुँच जाता है। किन्तु इतने बीमार बने हुए मन का इलाज कराने के लिए क्या वह पहुँचता है, इतना नम्र बन कर मन के चिकित्सकों के पास? वह धनिक या सत्ताधारी होता है तो ऐसे लोगों के पास फटकता भी नहीं। जाता भी है तो, देखा-देखी, शर्मा-शर्मी उनके दर्शन कर लेता है या कभी-कभी उनके व्याख्यान सुन लेता है। वह इतने से ही सन्तोष मान लेता है। या साधु-सन्तों के यहाँ जाकर कुछ धार्मिक क्रियाकाण्ड कर लेता है, इतने से साधु उसे धर्मवीर, धर्म-धुरन्धर आदि कोई टाइटिल दे देते हैं। इतने से तो वह अपने-आपको बहुत बड़ा आध्यात्मिक मानने लगता है।

शरीर में कोई रोग हो जाता है या सहसा कोई बीमारी आती है, तो उस विषय के एक्सपर्ट डॉक्टर के पास मनुष्य दौड़ा जाता है। वह डाक्टर बम्बई कलकत्ता या दूर-सुदूर विदेश में भी होगा, तो वहाँ पर भी वह शीघ्र जा पहुँचता है और अपनी चिकित्सा कराता है। परन्तु मन इतना बीमार हो जाता है, उसके लिए कोई चिन्ता नहीं। यदि शरीर की चिकित्सा के लिए औषधि की जरूरत है तो क्या मन की चिकित्सा के लिए औषधि की जरूरत नहीं है? क्या तन ही बीमार है, मन बीमार नहीं है? क्या कभी मन की बीमारी के इलाज के लिए, कोई विचार आता है? वास्तव में देखा जाय तो तन को बिगाड़ने वाला या तन की बीमारी का मूल कारण मन ही तो है?

परन्तु अफसोस है कि आप इसे भूल जाते हैं। आप मूल को नहीं ढूँढ़ते। आप मूल को नहीं सींचते, उसके पत्तों और शाखाओं को सींचते हैं। यही कारण है कि मन इतना अस्वस्थ एवं अशुद्ध हो रहा है, इसकी चिन्ता आप लोगों को नहीं होती।

जिसका मन स्वस्थ एवं स्वच्छ होता है, वह प्रातःकालीन पुष्प की तरह सदा प्रसन्न और प्रत्येक परिस्थिति में मस्त रहता है। उसे दुःख का जरा भी स्पर्श नहीं होता।

किसी समय अपने स्वजन का वियोग हो जाय, कभी किसी अभीष्ट वस्तु का वियोग हो जाए, किसी समय अपमान भी हो जाए अथवा किसी समय कोई अप्रत्याशित अघटित घटना हो जाए तो भी उसके मन में उफान नहीं आएगा, वह पहले की तरह ही प्रसन्न और मस्त बैठा रहेगा। क्यों? इसका कारण है कि उसका मन स्वच्छ, स्वस्थ और निरोग है। ऐसे व्यक्ति के पास हो या न हो, सत्ता और साधन हो या न हो, उसके स्वजन हों या न हों, तो भी वह विषाद से हताश तो नहीं होता। वह अपने स्वस्थ और स्वच्छ मन के बल पर विषम परिस्थितियों में भी 'सम' रहेगा।

परन्तु जिसका मन स्वस्थ नहीं होगा, वह धन, स्वजन, साधन और सत्ता सब कुछ होने पर भी सिर पर हाथ धरे, चिन्तित और उदास बन कर बैठा रहेगा। वह कभी प्रसन्नमुद्रा में नहीं रहेगा।

अन्त में हार मान कर योगीश्वर आनन्दघनजी को भी कहना पड़ा—

'मन साध्यु' तेणें सघलु' साध्यु', एह बात नहिं खोटी'

जिसने मन को साध लिया, समझ लो उसने जीवन में सब कुछ साध लिया। यह बात मिथ्या नहीं है। मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ।

मनडु किम ही न बाजे हो कुंथु जिन,
मनडु किम ही न बाजे।
जिम जिम जतन करीने राखु',
तिम तिम अलगू भाजे।

जैसे-जैसे मैं मन को पकड़ता हूँ, वैसे—वैसे दुगुने वेग से भागता फिरता है। रात-दिन दौड़ता रहता है। ऐसे मन को वश में करना आसान काम नहीं है। विरले ही इसको वश में कर सकते हैं।

मन के घोड़े पर सवारी करना सहज नहीं है, कहीं ऐसा न हो कि वह तुम पर सवार हो जाय?

ब्रह्मा वाहन हंस किया है,
विष्णु गरुड़ असवारी रे।
शिव का वाहन बैल बन्यो है,
मूषक गणेश गुणधारी रे।
मन वाहन पर बैसे विरला,
वा नर को बलिहारी रे।

जो मन के घोड़े पर सवार होना जानता है, अर्थात् मन को प्रशिक्षित कर उसे अपने काबू में करने की कला जानता है, वही चतुर है, विद्वान है और वही साधक है।

आज मन को प्रशिक्षित करने की परिपाटी साधकों में छूटती जा रही है। प्रायः साधक उसी पुराने ढर्रे पर चलते हैं। यद्यपि अपने व्याख्यानों में वे जोर-शोर से गरजते हैं कि साधक वही सच्चा है, जिसका मन वश में हो।

पहले के साधकों में परस्पर इस बात की चर्चा चलती थी कि मन को वश में करने का उपाय क्या है? आप इसे कैसे वश में करते हैं? उत्तराध्ययन सूत्र इस बात का साक्षी है। भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा के श्री केशी स्वामी और भगवान् महावीर के पट्टधर शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम स्वामी दोनों परस्पर मिलते हैं, कई बातों पर परस्पर मधुर विचार-विमर्श करते हैं। उनमें से एक बात मन के सम्बन्ध में भी श्री केशीस्वामी ने उठाई थी—

अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावइ।
जंसि गोयम! आरूढो कहं तेण न हीरसि?

अर्थात्—"हे गौतम! मन तो बड़ा ही साहसिक और भयंकर है। यह दुष्ट

अश्व की तरह विषयों के बीहड़ वन में भागता है। आप इस पर आरूढ़ होकर कैसे इसके वश में नहीं होते ? श्री गौतम स्वामी ने इस प्रश्न का बहुत ही संक्षिप्त और सारगर्भित उत्तर दिया है—

पधावंतं निगिण्हामि सुय-रस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जई ॥५६॥
मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं निगिण्हामि, धम्मसिक्खाए कंथगं ॥५८॥

—मैं भागते हुए मन का श्रुतरूपी लगाम से निग्रह करता हूँ। इसलिए मेरा मन उन्मार्ग में नहीं जाता बल्कि सन्मार्ग पकड़ लेता है। मन भयंकर साहसी और दुष्ट अश्व की तरह दौड़ता है, लेकिन मैं धर्म शिक्षारूपी लगाम खींचकर उसका भलीभाँति निग्रह कर लेता हूँ। यह है, मन को वश में करने की साधना। मन वश में हो जाय तो सारी ही आध्यात्मिक साधनाएँ तेजी के साथ होती चलती हैं। मन वश में नहीं है तो एकाग्रता और स्वच्छता मन में नहीं आ सकती, न ही मन स्वस्थ और शुद्ध रह सकता है। ऐसी स्थिति में कोई भी धार्मिक क्रिया आध्यात्मिक साधना तप, जप, ध्यान, मौन आदि व्यवस्थित ढंग से नहीं हो सकते हैं। इसीलिए आद्यशंकराचार्य को भी कहना पड़ा—

'मनो विजेता, जगतो विजेता'

'जो मन को जीत लेता है, वह सारे जगत् को जीत लेता है।'

मन को जीतना कठिन भी, सरल भी

आप कहेंगे कि मन को जीतना इतना कठिन काम है। बड़े-बड़े साधक, योगी, तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी भी मन पर विजय प्राप्त करने में असफल हो गए हैं, तब हमारे जैसे साधारण लोगों की क्या बिसात है ? हम तो इसे एक जन्म में उसे कैसे वश में कर पाएँगे ? परन्तु आप यह न समझिए कि मन को जीतना कठिन है, मन को वश में करना, पहाड़ से टकराना है। परन्तु जो कार्य जितना भी कठिन समझा जाता है, वह उतना ही सरल होता है। जिस चीज में मनुष्य की प्रबल रुचि, तड़फन और तीव्रता होती है, उस चीज को प्राप्त करना उतना ही सरल होता है। पुरुषार्थी और प्रबल रुचि वाले व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य कठिन नहीं होता।

रामयुग में समुद्र पर पुल बाँधना कितना विकट कार्य था, किन्तु लंका विजय के अवसर पर रामचन्द्र जी की सेना लंका की ओर कूच कर रही थी। आगे विशाल समुद्र देख कर नल, नील आदि वानर वीरों ने गर्जना की—"हम इस पर पुल बाँध कर रहेंगे। हमारी सेना इसी नव-निर्मित पुल पर से लंका में प्रवेश करेगी।" साहसी और दृढ़ संकल्पी व्यक्ति के लिए कोई भी बात असम्भव नहीं है।

मन को साधने का मन्त्र

हाँ तो, मन को वश में करने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय आपको बतला दूँ। आप उत्सुकतापूर्वक मेरे मुँह से मन को वश में करने का मंत्र सुनना चाहते होंगे। लीजिए वह मन्त्र, जो योगदर्शन में महर्षि पतंजलि ने बताया है, भगवद्गीता में कर्मयोगी कृष्ण ने अर्जुन को बताया है—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" —पातंजल योगदर्शन

"अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।" —भगवद्गीता

अर्थात्—अभ्यास और वैराग्य, इन दोनों से मन का निरोध होता है।

हे अर्जुन! अभ्यास और वैराग्य से मन का निग्रह होता है।

मनोनिग्रह का प्रथम साधन : अभ्यास

सचमुच वैराग्यपूर्वक अभ्यास करने से बड़े से बड़े विकट एवं चंचल मन को वश में किया जा सकता है। एक चंचल घोड़े को भी बार-बार चलने का अभ्यास कराया जाए, उसे तालीम दी जाए तो वह सुन्दर चाल से शीघ्रगति से चल सकता है। सर्कस कम्पनी वाले सर्कस में हाथी, घोड़े, बन्दर, कुत्ते आदि को सुन्दर तालीम देकर अपने मनोऽनुकूल बना लेते हैं और उन प्रशिक्षित जानवरों के आश्चर्यजनक करतब देखकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है।

इसी प्रकार दीर्घकाल तक, सतत दृढ़ श्रद्धा और रुचि के साथ मन को साधने का अभ्यास किया जाए तो कोई कठिन नहीं है, मन का निग्रह!

अभ्यास से बड़े-बड़े कार्य सिद्ध होते हैं। अभ्यास से बालक बोलना सीखता है, अभ्यास से ही बालक चलना सीखता है। अभ्यास से ही मनुष्य मोटरकार आदि चलाना सीखता है। सतत अभ्यास से तोता मनुष्य की तरह बोलना सीख जाता है।

हम एक जगह पहुँचे। वहाँ एक आदमी के पास एक पालतू तोता था। वह उस तोते का मूल्य एक हजार रुपये माँगता था। हमें लगा कि तोते का दाम अधिक से अधिक पच्चीस-पचास होगा। इतना अधिक एक पक्षी का मूल्य होना सम्भव नहीं प्रतीत होता। खैर, हमने उस तोते वाले से पूछा तो उसने कहा—"इसकी ऐसी ही विशेषता है, इसीलिए इसकी इतनी कीमत है। यह मनुष्य की तरह स्पष्ट रूप से बातचीत कर सकता है।"

उसकी बात सच्ची निकली। तोता इतना सुन्दर था कि वह मनुष्य-भाषा में ऐसे बोलता था, मानो हूबहू कोई मनुष्य ही बोलता हो। हमने उस तोते वाले से मनुष्य भाषा में इतना सुन्दर बोलने का कारण पूछा कि "यह ऐसा सुन्दर बोलना कैसे सीख गया? आपने उसे कैसे प्रशिक्षण दिया?"

उसने बताया कि "यह तो मेरे व्यवसाय की गुप्त बात है। यह उपाय मैं सब को नहीं बता सकता। पर आप तो ठहरे साधु, आप मेरे व्यवसाय में प्रतिस्पर्द्धी

करने वाले नहीं है। इसलिए अभ्यास ही बना सकता है। चलिये मेरी प्रयोगशाला
में। यों कहकर वह मुझे अपनी प्रयोगशाला में ले गया। वहाँ एक आदमकद आइना
रखा हुआ था। वह कहने लगा कि मैं इस आइने के सामने तोते का पिंजरा रखता
था और फिर मैं इस शीशे के पीछे छिप कर बोलता था। तोता इस आवाज को
सुनकर आईने में दिखने वाले तोते के सामने देखता और उसे लगता कि मेरे सामने
बैठा हुआ कोई तोता बोल रहा है, इसलिए वह तोता भी उसी की तरह बोले
का प्रयत्न करने लगा। यों कई महीनों के सतत अभ्यास से यह तोता मनुष्य की
तरह बोलना और बातचीत करना सीख गया। तोते की इस करामात को देखकर
मैं दंग रह गया। मैं सोचता हूँ कि मानव एक तोते को तालीम देकर सतत —
द्वारा मनुष्य की तरह बोलना सिखा सकता है, तो क्या वह अपने इन्सानी म
तालीम देकर सतत अभ्यास के द्वारा साध नहीं सकता? अवश्य साध सकता
सतत अभ्यास से सरकस का खिलाड़ी एक पतली डोरी पर बेखटके चल सक
है। सतत अभ्यास से ही मानव एक मास नहीं, ६-६ मास तक के उपवास
सकता है।

एक नगर में कुछ प्रसिद्ध नट आए। राजा ने उनके विषय में शोहरत सुन-
कर अपने राजदरबार में उन्हें आमन्त्रित किया और नटमण्डली को अपनी करामात
बताने के लिए कहा। राजसभा के ठीक पीछे विशाल मैदान में शामियाना बाँधा
दिया गया। राजा, रानी तथा राजपरिवार के सभी लोगों के बैठने का स्थान निश्चित
हो गया। आम जनता भी दर्शक बनकर बैठी थी। सामने एक मंच पर नटमण्डली ने
अपना आसन जमाया और एक से एक बढ़कर आश्चर्यजनक खेल दिखाए। राजा
और जनता सभी ने उनकी प्रशंसा की और बहुत-सा पुरस्कार देकर विदा किया।
उसी रात को राजा ने नटों के खेल के बारे में रानी से पूछा। रानी ने कहा—
इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है? अभ्यास से मनुष्य सब कुछ कर सकता है।"
ा ने कहा—"मैं नहीं मानता कि इतनी अद्भुत बातें अभ्यास से हो सकती हैं।"

रानी ने कहा—"नाथ! आपको मैं ६ महीने के अभ्यास के द्वारा अपनी
की जो पाड़ी होगी, उसे अपनी पीठ पर उठा कर राजमहल की सभी सीढ़ियाँ
चढ़-उतर कर बता सकती हूँ। मुझे सिर्फ ६ महीने की अवधि दीजिए।" राजा
नी स्वीकृति दी और कहा—तुम्हें इसके लिए जो भी सामग्री चाहि
गा लेना।" भैंस कुछ ही दिन पहले ब्याही थी, उसकी पाड़ी को इस विवाद
दिन से ही रानी अपनी पीठ पर उठाकर राजमहल की सीढ़ियों पर चढ़ने
का अभ्यास करने लगी। पहले दिन यह कार्य अत्यन्त कष्ट साध्य लगा। फिर
रे रानी का अभ्यास बढ़ता गया और वह बहुत आसानी से पाड़ी को अपनी
उठाकर राजमहल की सीढ़ियों पर चढ़ जाती और वापस उतनी ही सीढ़ियाँ
ती। इस प्रकार अभ्यास करते-करते छह महीने हो गए। अब भैंस की पाड़ी

भी हिन्डोल में काफी बड़ी हो गई थी, लगभग भैंस जैसी ही वह दिखने लगी थी, फिर भी रानी का अभ्यास इतना सुदृढ़ और परिपक्व हो गया कि वह उसे अपनी पीठ पर उठाकर आसानी से महल की सीढ़ियाँ चढ़-उतर लेती थी। रानी ने एक दिन राजा को छह महीने पहले हुई चर्चा की बात याद दिलाई और अगले दिन सिर्फ राज-परिवार के लोगों के सामने अपने अभ्यास का चमत्कार बताने को कहा। राजा तथा सभी राज-परिवार के लोगों के सामने रानी ने प्रतिदिन की तरह आज भी भैंस की पाड़ी को अपनी पीठ पर उठाकर राजमहल की सीढ़ियों पर चढ़ने और उतरने का पराक्रम बताया। सभी लोग आश्चर्यचकित रह गए। राजा को रानी की बात माननी पड़ी और उसी दिन से राजा ने उसे पटरानी पद दे दिया।

यह है अभ्यास की करामात।

अभ्यास किसका और कैसे किया जाए ?

यह तो समझ में आ गया होगा, लेकिन आप सोचते होंगे कि मन को वश में करने के लिए अभ्यास किस बात का और कैसे किया जाए ? अभ्यास इन बातों का करना है—

१. मन की गतिविधि का निरीक्षण करते रहने और जहाँ भी वह किसी अनिष्ट विषय में फँसने लगे, तुरन्त उसे वहाँ से हटा कर अभीष्ट शुभ एवं हितकर विषय की ओर लगाने का अभ्यास।

२ विषयों के वातावरण के बीच रहते हुए भी मन को नियन्त्रित कर लिया जाए कि वह उस विषय में जाए ही नहीं।

३ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, माया, छल आदि के प्रसंगों पर मन को इन विकारों में न बहने देकर सम रखने का अभ्यास।

४ प्रभु-नामस्मरण—जप एवं ध्यान का बारबार अभ्यास।

वास्तव में मनुष्य का मन बालक जैसा है। बालक के सामने हर समय कोई न कोई काम होना चाहिए अन्यथा वह खाली बैठा तोड़फोड़ या अन्य उत्पात करेगा। अगर उसे किसी अच्छे काम में लगा दिया जाएगा तो वह उसी में लग जाएगा। मन बन्दर की तरह चचल है, वह बैठा तो नहीं रहेगा, चाहे आप इसे एकान्त में हिमालय की चोटी पर ले जाकर बिठा दें। वहाँ भी यह कुछ न कुछ उछल-कूद मचाता ही रहेगा। इसलिए सबसे अच्छी बात यह है कि इसे किसी बुरे विचार या चिन्तन में न लगने दिया जाए। जब भी कोई बुरा विचार मन में घुसने लगे कि तुरन्त उसका ऑपरेशन कर दें। उसे वहाँ से एकदम हटा कर अच्छे विचार करने में लगा दें। बुरे विचारों से बार-बार हटाने पर अपमानित होकर फिर वह उसमें नहीं लगेगा। जैसे कुत्ते को आप भोजन में मुँह डालते समय दुत्कार कर निकाल देते हैं, फिर आता है तो दो-तीन बार उसे दुत्कार कर निकाल देते हैं, तो फिर वह सहसा नहीं आता। यही बात मन के सम्बन्ध में समझिए। मन को इस

प्रकार बार-बार के अभ्यास से प्रशिक्षित कर देने पर वह सध जाता है। फिर वह सहसा बुरे विचार या दुश्चिन्तन की ओर नहीं जाता। परन्तु इस प्रकार अभ्यास कराकर मन को प्रशिक्षित करने के लिए आपको मन पर सतत चौकी-पहरा देना होगा। खबरदार! कोई कुविचार चोर की तरह चुपके से प्रविष्ट न हो जाए। इस प्रकार के अभ्यास से मन घबराकर भागने लगेगा, आपको यह साधना भी नीरस और रूखी मालूम होगी। इसके लिए मन को या तो सात्त्विक मनोरंजन—जिसमें भगवान् तीर्थंकर के गुणकीर्तन, स्तुति, भक्ति के गीत या सैद्धान्तिक एवं उपदेशप्रद भजनों में लगाना चाहिए, या फिर उसे किसी नाम जप, प्रभु-नामस्मरण में लगाना चाहिए, ताकि मन उसमें ओतप्रोत हो जाए, अन्यत्र न भटके। स्वाध्याय भी जाप का ही एक विशिष्ट अंग है। इस प्रकार मन को सरस बातों में लगाया जाए। अगर मन प्रशिक्षित हो गया है और उसे शुद्ध स्थान में टिकाए रखना है तो आप उसे धर्मध्यान-शुक्लध्यान में टिकाने का अभ्यास कराएँ। प्रारम्भ में वह इधर-उधर भागने का प्रयत्न करेगा। परन्तु आप उसे आर्त-रौद्रध्यान की ओर तो हर्गिज न जाने दें। जप और ध्यान के अतिरिक्त समय में भी मन पर पूरी निगरानी रखते हुए उसे इतना आज्ञाकारी बना लें कि वह आपकी आज्ञा के बिना किसी भी विषय की ओर झांके ही नहीं, ध्यान ही न दे।

इस प्रकार के अभ्यस्त एवं प्रशिक्षित मन वाली बहनों को देखिए। वे स्वयं उपवास की हुई है, लेकिन घर के लोगों को खीर-पूड़ी इत्यादि विविध भोजन-सामग्री बनाकर स्वयं परोसती हैं। सरस स्वादिष्ट भोजन देखकर भी उनके मुँह में पानी नहीं आता। आप उनसे कहेंगे कि तुम भी भोजन कर लो, तो वे स्नेहपूर्वक कहेंगी—नहीं। हमें भोजन नहीं करना है, आज हमारे उपवास है।

यह है मन को साधने की कला। मन को इस प्रकार प्रशिक्षित करने से ही वह काबू में आ सकता है।

ज्ञानी पुरुष यही कहते हैं कि "इन्द्रिय-विषयों का जाल तो चारों ओर बिछा हुआ है। पर तुम उनसे सावधान रहो। विषय जब भी अपनी मनोनीत इन्द्रियों को पकड़ने लगें, इन्द्रियाँ भी उन्मत्त होकर मन को पकड़ने लगें, मन उन्हीं के प्रवाह में बहकर आत्मा को भी अपने अनुकूल बनाने लगे, उस समय तुम्हें जागृत रहकर फौरन उसे फटकार देना है और विषयों के कुविचारों के जाल से उसे तुरन्त निकाल देना है।"

यों इन चारों का निरन्तर युद्ध चलता है। आपको यह काम करना है कि विषय ज्योंही इन्द्रियों को पकड़ने लगे, त्यों ही आपका मन वहाँ दौड़कर आए और उन इन्द्रियों को समझाए—"खबरदार! इन विषयों से सावधान! विषयों से लिपट जाना तुम्हारे लिए हितावह नहीं है, क्योंकि ये विषय तो विनाश और पतन ही

करते है । इतनी-सी बात आपका प्रशिक्षित एव अभ्यस्त मन इन्द्रियो को समझाएगा, वह उनके प्रवाह मे नही बहेगा तो आपको विषयो से दूर रहना ही ठीक लगेगा ।

एक कटोरे में सुन्दर सरस खीर भरी है । उसमे केसर आदि सुगन्धित द्रव्य तथा बादाम, पिस्ते आदि मेवे पड़े है । परन्तु उसमे जहर की एक बूंद पड जाए और भोजन करने वाले को पता लग जाए तो, कोई आकर उसे उक्त सरस सुगन्धित, स्वादिष्ट खीर पीने को कहे तो क्या वह पी लेगा ? कदापि नही । वह कहेगा—भले ही यह स्वादिष्ट हो, लेकिन मुझे नही पीनी है । इसीप्रकार इन्द्रियों को लुभावने वाले चाहे जितने मनमोहक विषय हो, लेकिन आपका मन जान जाए कि ये विषय विष का काम करने वाले है, इन विषयो का सेवन करने में मृत्यु अवश्यम्भावी है तो आपका मन उन विषयो की ओर कैसे जा सकता है ?

यही बात अभ्यास की है । मन को बार-बार विषयों मे दूर हटने की आदत पड जाना ही अभ्यस्त हो जाना है ।

मन को साधने का दूसरा उपाय : वैराग्य

मनोनिरोध के लिए दूसरी बात है—वैराग्य की । देखे-सुने या पढ़े हुए विषयो के प्रति अरुचि हो जाना, किसी प्रकार की लालसा न रहना विरक्ति है । यह विरक्ति सिद्धान्त-सम्मत होनी चाहिए, तभी वह स्थायी होती है, सात्त्विक होती है और किसी के लिए भी अहितकर या अप्रतीतिकार नही होती । ऐसा वैराग्य सुन्दर साहित्य का स्वाध्याय या सत्सग करने से आता है । मनुष्य के मन मे सच्चा विरक्ति पैदा हो जाए तो उसका त्याग भी सच्चा और स्थायी होता है । अन्यथा त्याग की हुई भोग सामग्री का मन मे बार-बार चिन्तन चला करता है । त्याग करने पर मन विषयों के गहन जगल मे भटकता रहता है; तथा वह चुपके-चुपके उन विषयो का सेवन भी करता रहता है । यह दम्भ हो जाता है । इसलिए मन को साधने के लिए वैराग्य की अत्यन्त आवश्यकता है । परन्तु वैराग्य दीपक कई बार विषयों के झझावात एव वातावरण के कारण बुझ जाता है । उसे सतत प्रज्वलित रखने के लिए बार-बार सिद्धान्तो की गहराई मे जाना चाहिए । आत्मा के तथा पर-पदार्थों के असली स्वरूप को समझना चाहिए । साथ ही विषयो, कषायों रागद्वेषादि विकारों आदि के स्वरूप उनसे होने वाली हानियों, उनके दुष्परिणामो पर चिन्तन-मनन करना चाहिए । तभी मन स्वस्थ, शुद्ध, एकाग्र और वशीभूत होगा ।

कई बार विषयो से विरक्ति धूमिल होने लगती है, तब मनुष्य को अपने मन को समझाने एव काबू मे करने के लिए जबर्दस्ती भी करनी पड़ती है ।

एक साधु थे । उन्होंने वैराग्यभाव से घरबार, परिवार एव धन सम्पत्ति सब कुछ छोड़कर साधुत्व अंगीकार किया था । किन्तु उन्हें प्रतिदिन कढ़ी पीने का बहुत शौक था । जिस दिन भिक्षाचरी मे कढ़ी न आती, उस दिन वे बेचैन हो उठते और भक्त भाई-बहनो से प्रेरणा करते—"तुम्हारे यहाँ कढ़ी नहीं बनती है क्या ?"

भक्त इस संकेत से समझ जाते कि महाराज को कढ़ी चाहिए। वे निवेदन करते—"गुरुदेव! शाम को हमारे यहां पधारें! हमारे यहां शाम को कढ़ी बनती है।" साधु कढ़ी ले आते और पीते। एक दिन ऐसे गांव में पहुंच गये जहां कोई भक्त नहीं था। किससे कहते? कढ़ी मिली नहीं। पहले तो बहुत उदास हो गए। फिर लगे मन को समझाने—'अरे तूने सर्वस्व छोड़ दिया, फिर कढ़ी का गुलाम क्यों बना है? क्या कढ़ी के बिना तेरा काम नहीं चल सकता? सबको कढ़ी कहां मिलती है?" फिर भी मन नहीं माना तो वे जंगल से किसी की आज्ञा लेकर गाय का गोबर पात्र में ले आए। स्थान पर आकर गोबर में पानी मिलाया और मन से कहने लगे—"ले, पी इसे! कढ़ी तुझे अच्छी लगती है न? बस पी जा चुपचाप!" इस प्रकार वे उस गोबर के पानी को पी गए। उसी दिन से उन्हें कढ़ी से विरक्ति हो गई। फिर कभी उनका मन कढ़ी में नहीं गया।

यह एक हठयोग का प्रयोग है। जहां तक हो सके, साधक को मनोनिग्रह करने के लिए सहजयोग का प्रयोग ही करना चाहिए।

इस प्रकार मन को साधने की कला आ जाए तो मन के एकाग्र होने पर बड़े आश्चर्यजनक कार्य हो सकते हैं। आपकी साधना निराबाध रूप से चल सकती है, फिर आप कभी यह शिकायत नहीं करेंगे कि "हमारा मन वश में नहीं रहता।"

२

आत्मा को जगाइए, देखिए

आज आपके समक्ष मैं आत्म-जागृति के सम्बन्ध में कुछ विचार रखना चाहता हूं। आप उस पर मनन-चिन्तन करें।

अपनी आत्मा लाखों वर्षों तक गाढ़ निद्रा में सोती रही। आप कहेंगे, आत्मा इतने वर्षों तक कहां और कैसे सोती रही? वास्तव में आप अपने पिछले जन्मों के इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे तो आपको मेरी बात समझ में आ जाएगी कि सचमुच हमारी आत्मा लाखों वर्षों तक सोती रही और यह भी आपको मालूम हो जाएगा कि आपको अब आत्म-जागृति के लिए क्यों कहा जा रहा है?

कहां-कहां आत्म-जागृति न रही?

सच पूछा जाय तो यह आत्मा जब एकेन्द्रिय जाति में थी, तो वहां वह कहां जागृत थी? वहां तो वह गाढ सुषुप्त अवस्था में थी। जागने का वहां कोई सवाल ही नहीं था। एकेन्द्रिय में आप चाहे पृथ्वीकायिक जीवों के साथ रहे हों, जलकायिक जीवों में उत्पन्न हुए हों, या वनस्पतिकायिक प्राणियों में आपने अपना जीवन बिताया हो, अग्निकायिक प्राणियों में चाहे आपने जन्म लिया हो, अथवा चाहे वायुकायिक जीवों में आपकी उत्पत्ति हुई हो, इनमें सर्वत्र आपकी आत्मा अजागृत रही है। उसे कोई भान ही नहीं रहा कि मैं कौन हूं, दूसरे ये जीव कौन है? मैं यहां कैसे आया हूं? अब मुझे यहां क्या करना चाहिए? इत्यादि। आत्मा से या आत्म-जागृति-सम्बन्धी बातों से बिलकुल अनभिज्ञ रहा है। उसे यह सूझ ही नहीं पड़ी कि मेरा लक्ष्य क्या है? मुझे कहां पहुंचना है? इस समय मैं कहां हूं? मेरी आत्मा में कौन-से गुण-अवगुण हैं? मुझे उन दोषों को कैसे दूर करना चाहिए?

उसके पश्चात् किसी प्रबल पुण्योदय से एकेन्द्रिय से निकल कर यह आत्मा जब द्वीन्द्रिय में आया, तब भी पहले से तो कुछ विकास हुआ लेकिन आत्मा में कोई जागृति नहीं आई। उसके बाद जब त्रीन्द्रिय प्राणियों में जन्म लिया, तब भी वही दशा रही। जागृति की भूमिका तक वहां भी जीव नहीं पहुंचा। पुण्य की अधिकता के कारण चतुरिन्द्रिय का जीवन मिला। स्पर्शन, रसना, नासिका और चक्षु ये चार इन्द्रियां भी मिलीं, पहले से विकास अधिक हुआ, लेकिन वहां भी आत्मा जागरण की

[illegible] विकास के सम्बन्ध में [illegible] की बात भी कैसे सोची जा सकती है। [illegible]

आत्म-जागृति का अवसर मिलने पर भी प्रमाद

मनुष्य जन्म मिला, लम्बी जिन्दगी मिली, स्वस्थ तन मिला, बुद्धि भी मिली, किन्तु अन्धकार के गड्ढे में [illegible] का अवकाश ही नहीं मिला। पशु की तरह रात-दिन लड़ाई-झगड़ा, स्वार्थ, अभिमान, काम, क्रोध आदि में ही उलझा रहा। [illegible] के चक्कर में पड़ा रहा। अथवा मनुष्य जन्म मिलने पर भी बुद्धि का विकास नहीं हुआ। आत्मा का वातावरण नहीं मिला। पशु की तरह रात-दिन खाना और अपना परिवार का पेट भरने की चिन्ता में ही मस्त रहा। ऐसी स्थिति में आत्मा के सम्बन्ध में सोचने का अवसर ही कैसे मिल सकता था। अथवा मनुष्यजन्म पाने पर भी आध्यात्मिकता का वातावरण नहीं मिला। साम्यवादी या भौतिकवादी देश में जन्म पाया, अथवा नास्तिक बन गया। ऐसी दशा में भी आत्मचिन्तन का कोई सवाल ही नहीं उठता। भौतिक सुख सामग्री जुटाने या रजोगुणी बन कर प्रवृत्ति करने में ही लगा रहा। आत्मा के विषय में सोचने का कोई समय ही नहीं मिला या समय निकाला ही नहीं। आत्म-जागृति के प्रति अरुचि ही रही। या फिर अच्छा धार्मिक वातावरण मिलने पर भी मिथ्या-दृष्टि होने के कारण आत्मा के सम्बन्ध में सम्यक् चिन्तन नहीं हुआ। विपरीत दृष्टि, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या आचार-विचार के कारण आत्मा के संसार परिभ्रमण के कारणों को ही आत्म-जागृति का कारण मानता रहा।

ये और इस प्रकार के अन्य अनेक अवसर मनुष्यजन्म प्राप्त होने पर आत्म-जागृति के थे, लेकिन मिथ्या ज्ञान के चक्कर में प्रमाद-आलस्य में, या भ्रान्ति में पड़ कर अब वे सब अवसर खो दिये। जीवन की सन्ध्यावेला में जब अन्तिम समय निकट आता है, मृत्यु की घड़ी सिरहाने आकर खड़ी होती है, उस समय जिन्दगी में किये हुए पिछले कारनामे एक के बाद एक सिनेमा के चलचित्र की तरह आँखों के सामने तैरने लगते हैं। मनुष्य अपने आपको उस समय कोसता है, अफसोस करता है कि हाय! मैं अपनी जिन्दगी में आत्मा के कल्याण के लिए कुछ नहीं कर सका। सारी जिंदगी यों ही खोदी। न भगवान् का भजन किया, और न आत्मा के उत्थान के बारे में कभी सोचा! ओह! अब मैं क्या करूँ? अब भी जो कुछ भी हो, मैं तो खाली हाथ रहा सो रहा, परन्तु मरते समय जगत् के लोगों को कुछ शिक्षा तो दे जाऊँ।

अजागृति के कारण पश्चात्ताप

सिकन्दर बादशाह ने उस समय के अनुसार लगभग आधी दुनिया जीत ली थी, और आधी दुनिया की दौलत इकट्ठी कर ली थी। किन्तु इतनी सब खुराफात करने के बावजूद उसने अपनी आत्मा के भविष्य के बारे में कभी सोचा नहीं था। उसका चिन्तन तो प्रायः नये-नये राज्यों या देशों को जीतने के सम्बन्ध में ही चलता था। रात-दिन इसी उधेड़बुन में रहता था कि कैसे अमुक देश पर चढ़ाई करूं? कैसे जीतूं? और कैसे धन बटोरूं? आत्मा की जागृति के विषय में वह कदापि सोचता ही नहीं था। एक बार सिकन्दर बादशाह बीमार पड़ा। बीमारी असाध्य थी। मृत्यु की घड़ियाँ निकट आने लगी। फिर भी सिकन्दर को जीने की बहुत बड़ी आशा थी। उसने अपने राज्य के सभी नामी हकीमों को बुलाकर उनसे पूछा—"क्या कोई ऐसा उपाय भी है, जिससे मेरी मौत टल सके? मेरी उम्र बढ़ सके? मेरी बीमारी ठीक हो सके?"

हकीमों ने नब्ज, चेहरा आदि के चिह्नों को देखकर कह दिया—"जहाँपनाह! अब आपके बचने की उम्मीद हमें नहीं लगती। मौत के आगे किसी का बस नहीं चलता। हमारी दवाइयाँ भी मौत को रोकने में कामयाब नहीं हो सकतीं। टूटी की कोई बूटी नहीं होती। अब तो आप खुदा को याद करें, उसकी ही इबादत करें।"

परन्तु जो व्यक्ति जिन्दगीभर ऐश-आराम, मारकाट, लड़ाई और धन संग्रह में लगा रहा, जिसने जिंदगी में कभी अपनी आत्मा के विषय में सुना, सोचा या विचार किया नहीं, उसे अन्तिम समय में आत्म-जागरण कैसे हो सकता था।

यही स्थिति सिकन्दर की थी। उसने बहुत ही पश्चात्ताप किया, किन्तु उसके मन में आशा की एक किरण थी। उसने अपने सभी मन्त्रियों और दरबारियों को बुलाकर पूछा—"मेरी मृत्यु अब निकट है। मैं किसी तरह बच नहीं सकता, किन्तु आप लोग मेरी सारी मिल्कियत या धन-सम्पत्ति मेरे सामने इकट्ठी कर दें, ताकि मैं अपनी सम्पत्ति को नजरों से देख सकूँ और आप लोगों को बता सकूं कि मेरे द्वारा जीती हुई जमीन और उपार्जित की हुई सम्पत्ति मेरे मरने के बाद मेरे साथ परलोक में भेज सकें।"

यह सुनकर सभी दरबारी और मन्त्रीगण बोले—हुजूर! आपके मरने के बाद आपकी जीती हुई जमीन या सम्पत्ति का एक कण भी आपके साथ नहीं जाएगी। यह सब यहीं धरी रह जाएगी।"

यह सुनते ही सिकन्दर को बहुत दुःख हुआ। वह जोर से रो पड़ा और कहने लगा—"हाय! मैं समझता था कि यह जमीन, और दौलत मेरे साथ जाएगी। इसलिए मैंने अनेक लोगों को पीड़ा देकर और मुसीबत में डाल कर यह जमीन और दौलत इकट्ठी की। लेकिन मुझे अब पता लगा कि इनका एक जर्रा भी मेरे साथ नहीं जाएगा। हाय! मुझे पता होता तो मैं ऐसा करता ही क्यों? अब क्या हो सकता है?"

सिकन्दर को रोते देख सभी दरबारी उसे आश्वासन देने लगे। पर सिकन्दर मन ही मन बहुत अफसोस कर रहा था। वह अब अन्तिम समय में न तो परमात्मा का नाम ले सका, और न ही आत्म-जागृति कर सका। सहसा उसे एक बात सूझी। उसने अपने दरबारियों से कहा—"मेरा जब जनाजा (अर्थी) निकाला जाय तो मेरे दोनों हाथ जनाजे से बाहर रखना।"

दरबारियों ने कहा—"हुजूर! यह तो शाही परम्परा के खिलाफ है। किसी भी बादशाह के हाथ जनाजे से बाहर नहीं रखे जाते।" सिकन्दर बोला—"सुनो, मेरी बात! मैं अब और तो कुछ कर नहीं सकता। किन्तु जाते-जाते दुनिया को मेरे इन हाथों से नसीहत (शिक्षा) तो मिल जाएगी!"

दरबारी लोग कहने लगे—"कौन-सी नसीहत मिलेगी?" सिकन्दर धीरे-से बोला—"मेरे दोनों हाथ खाली देखकर दुनिया यह प्रेरणा लेगी कि आधी दुनिया का मालिक होकर भी सिकन्दर आज खाली हाथ जा रहा है, परलोक में कुछ भी साथ नहीं ले जा रहा है। हम भी इसी तरह खाली हाथ जाएँगे।"

बन्धुओ! क्या सिकन्दर को अपने जीवन-काल में या जीवन के अन्तिम क्षणों में आत्मजागृति का अवसर प्राप्त हो सका था? नहीं, क्योंकि जिसने अपनी जिन्दगी में कभी आत्मा के कल्याण की कोई चिन्ता नहीं की, जो जिन्दगी भर लापरवाह बना रहा, उसे अन्तिम क्षणों में आत्मजागृति का अवसर कैसे प्राप्त हो सकता है?

आत्मजागृति के अवसर आए और चले गए

यही हाल उन लोगों का होता है, जो अपनी समझदारी से लेकर जीवन की सन्ध्या तक आत्मा को जगाने का कोई विचार नहीं करते। धनजागरण या स्वार्थ-जागरण प्रायः करते रहते हैं, जो माया के मजदूर बने फिरते हैं, येन-केन प्रकारेण धन कमाना ही जिनका एकमात्र लक्ष्य होता है, वे आत्म-धन को कभी सम्भालते नहीं और न ही आत्मा को जगाने का उपक्रम करते हैं।

पुराने जमाने में मारवाड़ के एक माहेश्वरी सेठ थे। उनके चार पुत्र थे। चारों ही सयाने और समझदार हो गए थे। चारों की शादियाँ भी हो चुकी थीं। चारों पुत्र चाहते थे कि अब पिताजी वृद्ध हो चुके हैं, अतः बुढ़ापे में अब इस धन की कमाई छोड़ कर आत्मधन कमाने में लग जाएँ, आत्मजागृतिपूर्वक अपना अगला जीवन सुन्दर बनाने में लगें।"

अतः चारों ने पिताजी से कहा—"पिताजी! अब आप वृद्ध हो चले हैं, जिन्दगी में आपने बहुत कार्य करके खूब धन कमा लिया। अब आप निवृत्त होकर आत्मधन—परलोक की खर्ची—कमाने में जुट जाएँ। यह सारा कारोबार हम सम्भाल लेंगे?"

बूढ़े सेठ ने यह सुनते ही तपाक से कहा—"तुम लोगों को मैं जानता हूँ।

अगर तुम्हारे भरोसे मैं यह कारोबार छोड़ दूँ तो तुम कुछ ही दिनों में सब चौपट कर दोगे। बड़ी मुश्किल से कमाई हुई मेरी सम्पत्ति को नष्ट कर डालोगे। इसलिए मैं तुम्हें कदापि अपना व्यवसाय नहीं सौंप सकता।"

चारों लड़कों ने वृद्ध पिता को बहुत समझाया, पर उन्होंने एक न मानी। आखिर नतीजा यह हुआ कि वृद्धसेठ अचानक असाध्यरोग से ग्रस्त हो गए। व्यवसाय तो हाथ से बरबस छूट ही गया। परन्तु अन्तिम समय में लड़कों ने बहुत कोशिश की कि किसी तरह पिताजी आत्मधन उपार्जित करने के लिए कुछ प्रयत्न करें, किन्तु वृद्धमहाशय के मन में आत्मनिरीक्षण, आत्मसुधार या आत्मजागृति का विचार तक नहीं आया। वे खाली हाथ यहाँ से कूच कर गए। आत्मजागृति के अमूल्य क्षण आए और चले गए।

आत्मा को जागृत करने के लिए

हाँ, तो मैं कह रहा था कि आत्मा को जगाइए और देखिए कि आपकी आत्मा में कितने गुण-दोष हैं ? आपने अब तक अपनी जिन्दगी प्रमाद में, सोने में या गफलत में ही गुजार दी। कभी आत्मा के सम्बन्ध में भी आपने घड़ीभर बैठ कर विचार किया है कि मेरी आत्मा किन-किन दुर्गुणों, दुर्व्यसनों और दुराचरणों से भरी हुई है ? उन्हें कैसे मिटाया जा सकता है ? आत्मा को जागृत रखने के लिए क्या-क्या करना चाहिए ? मेरी आत्मा कर्मों के बन्धन में क्यों और कैसे पड़ गई ? इनसे छुटकारा कैसे हो सकता है ? मेरी आत्मा ने मनुष्य जन्म पाकर क्या-क्या सत्कर्म या धर्म किये हैं ? क्या-क्या सत्कार्य या धर्माचरण करना शेष है ? ऐसे कौन से धर्माचरण या सत्कार्य है, जिन्हें मैं कर सकता था, फिर भी मैं उन्हें जान-बूझकर नहीं कर रहा हूँ।[1]

बहुत-से लोग ऐसे भी होते हैं जो जागते हुए भी सोने-का-सा ढोंग करते हैं। ऐसे लोग पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म सभी कुछ जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि कौन-से तत्त्व आत्मा के लिए हितकर है, कौन-से अहित कर ? परन्तु यह सब पुस्तकीय ज्ञान या आगमों की जानकारी होने के बावजूद एवं अनेक ग्रन्थों का अभ्यास होने पर भी वे तदनुसार उचित आचरण में बिलकुल कोरे होते हैं। ऐसे लोगों को चालाक और बाहोश कहा जा सकता है। दुनियादारी के कार्य में वे जरूर ओतप्रोत रहते हैं। मगर घड़ी भर का अवकाश निकालकर आत्मा के सम्बन्ध में वे कभी विचार नहीं करते। प्रायः वे आत्म-जागृति के नाम से ही भड़कते हैं। जहाँ आत्मा को जगाने की बात आएगी, वहाँ वे सुनी-अनसुनी कर देंगे। जहाँ भी

---

१. 'किं मे कड, किच्चमकिच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि।'

—दशवैकालिक सूत्र

आत्म-जागरण की प्रेरणा के शब्द कानों में पड़ेंगे, वहाँ वे दूर से ही किनाराकशी कर लेंगे। भला ऐसे लोग आत्मजागृति के अवसरों का उपयोग कैसे कर सकते हैं?

बन्धुओ! यह तो आप जानते ही हैं कि आत्मजागृति मनुष्य जन्म में ही हो सकती है। मनुष्य जीवन ही सर्वश्रेष्ठ जीवन है और इसी जन्म में आत्मजागृति का स्वर्णिम अवसर प्राप्त होता है। किन्तु जो अभागे व्यक्ति हैं, वे पहले बताये हुए कारणों से आत्मजागृति नहीं कर पाते।

आत्मजागृति का अर्थ

कुछ लोग आत्मजागृति का अर्थ करते हैं—अपने मतलब की या अपने स्वार्थ की बात में जागरूक रहना। परन्तु आत्मजागृति का मतलब यह नहीं है। अगर आत्मजागृति का यही अर्थ हो तो फिर पशु भी अपने आप में अपने स्वार्थ में जागरूक रहता है। इसलिए आत्मजागृति का सही अर्थ है—अपनी आत्मा को समझना, आत्मा में निहित गुण-दोषों का निरीक्षण करना, अपनी आत्मा को टटोलना।

आत्मजागृति आते ही अपूर्व बल

जिसमें आत्मजागृति हो जाती है, वह अपने आत्मिक विकास के लिए दूसरों का मुंह नहीं ताकता। आत्मा के जागृत होते ही उसमें एक अपूर्व बल आ जाता है। फिर चाहे जितनी विघ्न-बाधाएँ हों, वह उन्हें काटने के लिए तैयार हो जाता है। जैनशास्त्रों में जगह-जगह आत्मजागृति की प्रेरणा दी गई है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि साधक को भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए। जागरूक साधक किस प्रकार प्रत्येक कदम रखे? इसके लिए स्पष्ट मार्गदर्शन दिया गया है—

'चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो।'

—जागरूक साधक प्रत्येक कदम साशंक होकर, फूंक-फूंककर रखे। इस संसार में यत्र-तत्र अनेक प्रकार के पाश (बन्धन) विद्यमान हैं, इस बात को भलीभांति अपने दिमाग में बिठाकर फिर विचरण करे।

जब मानव इस प्रकार आत्मजागृतिपूर्वक चलने का प्रतिदिन अभ्यास करता है तो उसमें कष्ट सहने की क्षमता आ जाती है, विघ्नों को पार करने की वृत्ति पैदा हो जाती है। कई बार मनुष्य को अन्दर से धक्का लगता है, तब उसमें आत्मजागृति होती है। एक उदाहरण द्वारा इसे समझिये—

एक महाराष्ट्रीयन सैनिक ब्रिटिश सरकार की सेना में नौकरी करता था। वह अपनी माता का अनन्य भक्त था। एक बार उसकी माँ बीमार पड़ी। असाध्य बीमारी के कारण उसके जीने की आशा नहीं थी। सैनिक को जब ये समाचार मिले तो वह शीघ्र ही माता की सेवा में जाने के लिए बेचैन हो उठा। उसने छुट्टी के लिए

अर्जी लिखी। परन्तु वहाँ उसकी कौन सुनता! फलत उसकी छुट्टी मंजूर न हुई। उसने सोचा—'अब क्या किया जाए? एक तरफ माता के जीवन-मरण का प्रश्न था, दूसरी ओर सरकारी नौकरी थी। उसके मन में दोनों का तुमुल युद्ध चला। आखिर उसकी मातृभक्ति जीती। उसकी आत्मा एकदम जागृत हो गई। क्या मैं थोड़े-से पैसा के लिए अपने आपको बेच दूँ? मैं क्यों ऐसी सरकार का गुलाम बनूँ? क्या मेरी भुजाओं में बल नहीं है, बिना गुलामी किये, कमाकर खाने का? बस, उसकी अन्तरात्मा ने माता के पास जाने का फैसला कर लिया। उसने तुरन्त ब्रिटिश सरकार की अपनी सैनिक की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। नौकरी छोड़कर वह शीघ्र ही अपनी माँ से मिलने चल पड़ा। किन्तु रास्ते में ही उसे समाचार मिला कि उसकी माता चल बसी है। समय पर छुट्टी न देने वाले सरकारी तन्त्र के खिलाफ उसका पुण्यप्रकोप जाग उठा। उसने राष्ट्र को गुलामी के बन्धन से मुक्त करने हेतु ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चल रहे स्वराज्य-आन्दोलन में महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा किया।

इसी तरह जब तक मनुष्य को अपनी गुलामी का न भान हो, जब तक वह यह नहीं समझ लेता कि मेरी आत्मा इन कर्मों की गुलामी करता है, इनके अधीन है, वह चाहे तो बन्धन को तोड़ सकता है तभी इस प्रकार की आत्मजागृति के फलस्वरूप वह अपनी आत्मशक्ति लगाता है और सफलता प्राप्त करता है।

आत्मजागृति हो जाने पर मनुष्य कर्मों, कषायों, विषयों, विकारों आदि का गुलाम बन कर कीड़े की तरह नहीं जीता। आत्मजागृति हो जाने पर आत्मा व्यवहार में कुशल हो जाती है वह फिर निद्राधीन नहीं होती, वह जागृत ही रहती है।

सच्ची आत्मजागृति आने पर

जब मनुष्य में सच्ची आत्मजागृति आ जाती है, तब वह प्रतिदिन अपने चरित्र का निरीक्षण करता है, अपने गुण-दोषों का अवलोकन करके दोषों को निकालने का प्रयत्न करता है। इसीलिए जैनशास्त्र में कहा है—

'संपिक्खए अप्पगमप्पएण'

—बुद्धिमान साधक अपने आप अपनी आत्मा का भलीभाँति अवलोकन करे। इस प्रकार अपने आप आत्मनिरीक्षण की वृत्ति-प्रवृत्ति ही मनुष्य को आत्मविकास के लिए आगे बढ़ाती है। आत्मार्थी साधक के लिए हितैषी महापुरुषों की यही प्रेरणा है—

'प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं, किं नु सत्पुरुषैरिव॥'

—मनुष्य प्रतिदिन अपने चरित्र का निरीक्षण करे कि मेरा कौनसा आचरण पशुओं के सदृश हुआ है, और कौन-सा सत्पुरुषों के तुल्य।

तात्पर्य यह है कि आत्मजागृति की पहली शर्त है—मनुष्य अपने गुण-दोषों का निरीक्षण करे। अपने जीवन की प्रत्येक वृत्ति-प्रवृत्ति का वह सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करे और अपनी त्रुटियों या दोषों को पहचान कर प्रयत्नपूर्वक उन्हें त्यागने का संकल्प करे। अपने गुणों की तरफ, बल्कि अपने में अमुक गुण न होते हुए भी दूसरों के कहने से या मिथ्या प्रशंसा-चापलूसी आदि करने से अपने में गुणों का आरोपण करने की ओर मनुष्य की दृष्टि झटपट जाती है। इसलिए बुद्धिमान साधकों ने दूसरों के कहने से न मानकर अपने आप बारीकी से अन्तर में डुबकी लगाकर देखने की सलाह दी है। अपने गुणों की ओर न देखकर सर्वप्रथम अपने दोषों की ओर देखना चाहिए। दोषज्ञ होना आत्मजागृति की निशानी है। दोषज्ञ होने का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य दूसरों के छिद्र देखता फिरे। दूसरों की पीठ तो हर कोई आसानी से देख लेता है, लेकिन अपनी पीठ कोई आसानी से नहीं देख सकता। स्वछिद्रान्वेषण करने वाला ही सच्चा आत्मार्थी, आत्मजागृतिमान होना है।

अपने दोषों की छानबीन कैसे करें ?

प्रश्न होता है, मनुष्य अपनी बुराइयों, दोषों या अपराधों की छानबीन कैसे कर सकता है ? नीतिकार का कथन इस विषय में मार्गदर्शक है—

'प्रत्यक्ष दुर्गुणान्नैव वक्तु शक्नोति कोऽप्यतः।
स्वदुर्गुणान् स्वयं ज्ञातो विमृशेल्लोकशास्त्रतः ॥"

—कोई भी व्यक्ति प्रत्यक्ष अपने दुर्गुणों को प्रकट नहीं कर सकता। अतः लोक-शास्त्र की दृष्टि से अपने दुर्गुणों को स्वतः देखना चाहिए।

इसी को आत्म-निरीक्षण या स्वदोष दर्शन कहते हैं। आत्म-निरीक्षण से मनुष्य को अपने स्वभाव, विचार, दृष्टिकोण या व्यवहार आदि का पता लग जाता है।

अपनी आत्मा में जरा-सी भी भूल, दोष, अपराध या असावधानी आत्म-जागृति की न्यूनता की निशानी है। एक मामूली-सी गलती के कारण मनुष्य को बाद में पछताना पड़ता है। एक असावधानी या त्रुटि से बड़े-बड़े कार्य बिगड़ जाते हैं। अपने एक भी दोष को छिपाने या उसकी उपेक्षा करने से आत्म-जागृति की कमी के कारण मनुष्य का आत्म-विकास रुक जाता है। जाँच करने वाले, आपके विरोधी या दुर्जनों की आँखें तो सदैव आपकी हानि करने में लगी रहती हैं। आपकी थोड़ी-सी अजागृति से आपकी बहुत बड़ी हानि हो सकती है। ऐसा करने से शत्रु या विरोधी आपके आत्मबल को क्षीण कर देंगे। आप भले ही अपने मुँह मियाँमिट्ठू बन जाएँ, लोगों की आँखों में आपका एक भी दुर्गुण आए बिना न रहेगा।

आत्म-जागृति के लिए किन-किन दोषों से बचना आवश्यक

कई बार मनुष्य अपने दोषों को देखने के बजाय दूसरों के दोषों का ढिंढोरा पीटने लगता है, अथवा दूसरों को अन्धकारमय, विनाशमय, दोषयुक्त देखने लगता है,

परन्तु जिन दोषों को वह दूसरों में ढूँढ़ता, वे ही दोषरूपी चोर उसके मन-महल में घुसे रहते हैं। जागरूक साधक को अपने अन्दर घुसे हुए उन दोष-तस्करों को पकड़ कर बाहर निकाल देना चाहिए।

कई बार दूसरे लोग आपके दोषों की खरी आलोचना करते हैं, आपके किसी दुर्गुण के कारण आपसे घृणा करते हैं, आप पर विश्वास नहीं करते। उस समय आप उनको भला-बुरा कहने के बजाय अपनी उस गन्दगी की ओर ध्यान दीजिए जिस कारण लोग आपसे नाक-भौं सिकोड़ते हैं। अपनी दुर्बलताओं को देखिए, जिनके कारण लोग आपसे दूर रहते हैं, और फिर उन दुर्बलताओं या दोषों—दुर्गुणों को आप स्वयं निर्ममतापूर्वक खदेड़ दीजिए। फिर आप स्वयं देखेंगे कि वे आलोचक लोग आपके लिए आएँगे आपसे आत्मीयता रखेंगे।

आत्मवंचना से बचें—जो व्यक्ति अपना बहुत अधिक मूल्यांकन करता है वह भी धोखा खाता है। कई लोग यह कहते सुने जाते हैं कि मैं सर्वथा निर्दोष हूँ। मैं ही सच्चा हूँ, मैं ही सर्वाधिक बुद्धिमान हूँ, समझदार हूँ आदि दूसरे सभी लोग दोषयुक्त, झूठे, मूर्ख एवं बेसमझ हैं। ऐसे लोग अजागृत होते हैं, उन्हें अपनी अयोग्यता का ध्यान नहीं रहता।

योगी राजर्षि भर्तृहरि अपनी जागृति और अजागृति का चित्रण प्रस्तुत करते हैं—

> 'यदा किंचिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवम्
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
> यदा किञ्चित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगतम्
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥'

—जब मैं थोड़ा-बहुत जानने लगा, तब मैं हाथी की तरह मदान्ध हो गया। और उस समय तो मेरा मन इसप्रकार घमण्ड से लिप्त हो गया कि मैं ही सर्वज्ञ हूँ। किन्तु जब मैंने पण्डितों से कुछ जाना-सीखा, तब मुझे मालूम हुआ कि अरे! मैं तो इनके सामने बिलकुल अल्पज्ञ एवं मूर्ख हूँ।" इस प्रकार मेरा मद बुखार की तरह बिलकुल उतर गया।

यह है, योगीराज भर्तृहरि की पहले अजागृति और बाद में जागृति का नमूना। वास्तव में ऐसा अजागरूक व्यक्ति अपने को गुणों का भण्डार और दूसरों को दोषों का पिटारा मानकर स्वयं बहुत ही चतुर बनने का प्रयत्न करता है। परिणाम वही होता है, जो बिच्छू का जहर उतारने का मन्त्र तो जानता ही नहीं, साँप की पिटारी में हाथ डालता है।

कुछ लोग स्वयं अयोग्य और दुर्गुणी होने पर अपने बाप-दादों के बखान करके अपने आपके बड़े होने का दावा करते हैं। यह भी आत्मवंचना है, अजागृति है।

कुछ लोग वेश, ठाटबाट, शानशौकत या खर्चीलेपन के कारण अपने बड़प्पन की छाप दूसरों पर जमाते हैं, रौब गाँठते हैं, पर यह भी एक प्रकार से आत्मा को ठगना है।

कई लोग स्वयं निर्बल या निर्धन होते हुए भी सहायकों या आश्रयदाताओं के सहारे अपने आपको समर्थ मान बैठते हैं। ऐसे लोग भी हृदयचक्षु से विहीन हैं, गहरे अँधेरे में हैं।

अत: अपनी अपूर्णता से अनभिज्ञ होने के कारण बहुत-से लोग अपना अधिक मूल्यांकन कर लेते हैं, यह भी आत्मजागृति की कमी का प्रतीक है।

आत्मक्षुद्रता भी ठीक नहीं—जिस प्रकार अपने आपको बहुत अधिक गुणवान और सर्वथा निर्दोष मान लेना ठीक नहीं, वैसे ही अपने आपको अत्यन्त हीन, दुर्गुणी, नीच, निन्द्य या नगण्य मान लेना भी ठीक नहीं है। ऐसे लोग दूसरों से अपनी तुलना करके अपने आपको सर्वथा अयोग्य, दुर्गुणी या नगण्य मान बैठते हैं। वे कहा करते हैं—वे मुझसे बहुत आगे बढ़े हुए हैं, मैं कुछ भी नहीं हूँ आदि। पर, इस प्रकार की हीन भावना भी अजागृति की निशानी है।

जो व्यक्ति अपने गुण-दोषों को नहीं पहिचानते, वे आत्मजागृति से कोसों दूर हैं। ऐसे व्यक्ति धोखे में रहकर संसार के प्रत्येक व्यक्ति से घृणा करने लगते हैं। वे दूसरों की निन्दा करके या दूसरे को नीचा दिखाकर महान् पुरुषों में बच-बच कर चलते हैं। ऐसे व्यक्ति कमजोर मनोबल के होते हैं।

अधीर और असंयमी भी न बनें—आत्मजागृति के लिए धैर्य और संयम में दृढ़ होना बहुत आवश्यक है। जिनमें धैर्य और असंयम होता है, वे हर काम में उतावली और उतावली करते हैं। छोटी-छोटी बातों को लेकर वे दुविधा में पड़ जाते हैं, उनका चित्त शंकाओं, वहमों और अन्धविश्वासों से घिरा रहता है। निराधार शंकाओं से वे अधीर बने रहते हैं, वे अपने मन और इन्द्रियों पर जरा भी संयम नहीं रख सकते। जो नाना अन्धविश्वासों और कुरूढ़ियों में फँसे रहते हैं, वे अपनी आत्मा की जागृति को उनकी तहों में दबा देते हैं। अन्धविश्वास से बुद्धि और मन पराधीन हो जाते हैं, बन्धन में पड़ जाते हैं, अपना आत्मविश्वास स्वयं रुक जाता है।

मूढ़ता या मुग्धता भी अजागृति है—आत्मजागृति के लिए मुग्धता या मूढ़ता विघ्नस्वरूप है। जहाँ मूढ़ता आती है, वहाँ आत्मजागृति पलायित हो जाती है। किसी व्यक्ति से थोड़ी-सी प्रशंसा पाकर फूल जाना, थोड़ा-सा आदर पाकर उसको अपना सब कुछ भेंट दे देना, मिथ्या प्रलोभनों में फँस जाना, क्रोधावेश में अपना सब कुछ न्यौछावर करने को तैयार हो जाना, ये सब मूढ़ताएँ हैं। बहुत भोले और मृदु बन जाना भी मूढ़ता है। इसी प्रकार देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, धर्ममूढ़ता और लोकमूढ़ता भी आत्मजागृति के लिए अवरोधक हैं। इन सबसे बचना चाहिए।

उदासीनता एवं कर्मभीरुता भी जागृति में बाधक—सामाजिक कार्यों, अपने कर्तव्यों और दायित्वों से उदासीनता धारण कर लेना भी आत्म-शक्ति की वृद्धि में दिवालियापन मनाना है। उदासीनता से मनुष्य के अनेक गुण निष्फल हो जाते हैं, चरित्र विकास रुक जाता है। उदासीन व्यक्ति कर्तव्यभीरु बन जाता है। उदासीनता से बड़े से बड़े शक्तिशाली मनुष्य की शक्ति पर पाला पड़ जाता है। उदासीन व्यक्ति शान्ति और जीवन का सच्चा आनन्द नहीं पा सकता। वह मन ही मन कुढ़ता रहता है। अतः उदासीनता धारण करके शारीरिक अंगों को निर्जीव या निकम्मा बनाकर बैठ जाना कायरता है, आत्मजागृति के लिए बाधक है।

दुर्मुखता एवं वाचालता भी अजागृति की परिचायिका है—कठोर भाषण, कुतर्क, परनिन्दा, मिथ्या दोषारोपण, प्रतिकूल भाषण, तुच्छतापूर्वक बोलना, अपशब्द कहना या बढ़-चढ़ कर बातें करना आदि सब अजागृति की निशानी है। वाणी के प्रति भी मनुष्य को सदा जागरूक रहना चाहिए, क्योंकि वाणी भी मनुष्य की भावनाओं की छाया है, वाणी में मनुष्य की आत्मा प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए आत्मजागृति के हेतु वाणी को बहुत समझ-समझकर बोलना चाहिए।

रूखा एवं कठोर व्यवहार भी अनावश्यक—आत्मजागृति के लिए रूखा और कठोर व्यवहार भी बाधक है। ऐसा कटुव्यवहार मनुष्य की आत्मा को स्पष्ट कर देता है कि उसकी आत्मा अविकसित एवं अजागृत है। संकुचितता, कट्टर साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता एवं अन्धराष्ट्रीयता आदि भी संकुचित और अविकसित आत्मा की निशानियाँ हैं। जो व्यक्ति आत्मजागरूक है, वह इन छोटे-छोटे घेरों को मनुष्य में भेदभाव एवं घृणा पैदा करने के हेतु मानता है। वह इन घेरों को सिर्फ व्यवस्था के लिए अस्थायी आयोजन मानता है। इसलिए वह किसी के प्रति अनुदार, घृणापूर्ण एवं संकुचिततापूर्ण व्यवहार नहीं करता।

आत्मजागृति का साधक ये और इनके जैसे अन्य दोषों से सदा बचता रहता है। वह इन्हें अपने जीवन में स्थान नहीं देता और इन्हें जागृति में बाधक समझता है।

आत्मजागृति सम्यग्दृष्टित्व का सूचक

वास्तव में देखा जाय तो जहाँ मिथ्यात्व है, अविद्या है, अज्ञान है, वहाँ आत्मजागृति नहीं है। ऐसे व्यक्ति जिसमें अपने स्वार्थ, अपने अन्धविश्वास, अपनी मानी हुई मिथ्यामान्यता एवं परम्पराओं के पालन के लिए जागृति है, आत्मजागृति नहीं है। आत्मजागृति का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है। जब मनुष्य की दृष्टि सम्यक् हो जाती है, तब वह क्षण-क्षण में जागृत रहता है, प्रत्येक प्रवृत्ति में वह सावधान रहता है। अपने दायित्वों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में वह जागरूक रहता है। आत्मजागृत मनुष्य की दृष्टि सत्य को खोजने और सत्य को अपनाने की ओर होती है। वह मिथ्या आग्रह एवं मिथ्यावादों के चक्कर में नहीं पड़ा रहता। वह पहले बनाये हुए दोषों एवं दुर्गुणों को दोष और दुर्गुण मानकर उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

जीवन और जगत् की तमाम कठिनाइयों और समस्याओं का मूल कारण है आत्मजागृति का अभाव। आज जातियों, समाजों, सम्प्रदायों, ग्रामों या राष्ट्रों में परस्पर जो संघर्ष है, उसका मूल कारण आत्मजागृति का अभाव है।

आत्मजागृति वाला प्रत्येक वस्तु का मूल अन्तरात्मा में खोजता है

आत्मजागृति वाला व्यक्ति प्रत्येक अच्छी या बुरी प्रवृत्ति, परिस्थिति या समस्या का मूल अन्तरात्मा में खोजता है, जबकि मोहनिद्रा में पड़ा हुआ मानव प्रत्येक प्रवृत्ति, समस्या या परिस्थिति का मूल कारण बाहर से ढूँढता है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति को मलेरिया बुखार आने लगा। उसने यह विचार नहीं किया कि मलेरिया बुखार किन कारणों से हुआ? उसकी बाह्य दृष्टि थी, इसलिए शीघ्र ही डाक्टर के पास गया और इंजेक्शन लेकर निश्चिन्त हो गया। इससे मूल कारण का निवारण नहीं हुआ, इसलिए मलेरिया पुनः होने का अन्देशा है। इसी प्रकार बाह्य दृष्टि वाला व्यक्ति मोहनिद्रा में पड़ा रहता है। वह किसी भी वस्तु के मूल तक नहीं पहुँचता। ऊपर-ऊपर तैरता रहता है। अगर उस पर कोई कष्ट या विपत्ति आ पड़ती है तो वह उसके लिए अपनी आत्मा को—आत्मा द्वारा बाँधे हुए कर्मों को जिम्मेवार नहीं मानता, अपनी आत्मा को उस कष्ट या विपत्ति का मूलकर्ता नहीं मानता, वह भगवान्, परिवार या किसी अन्य सम्बन्धित व्यक्ति को—या निमित्त (काल, भाग्य आदि) को उसके लिए दोषी ठहराता है, उसी को कोसता है, और इस प्रकार समस्या की भीतरी तह में नहीं पहुँच कर वह ऊपर-ऊपर से उसके निवारण का उपाय करता है, जो अस्थायी होता है। परन्तु आत्मजागृतिशील सम्यग्दृष्टि अपने उपादान को टटोलता है, अपनी अन्तरात्मा के भीतरी तह में पहुँचता है, वह सुख-दुःख का या विपत्ति का दाता किसी बाह्य पदार्थ—परभाव को नहीं मानता, न वह किसी बाह्य निमित्त को कोसता है। वह अपनी अन्तरात्मा को जगाता है और सावधान होकर उसमें प्रविष्ट दोषों एवं दुर्गुणों को निकालने का प्रयत्न करता है।

एक व्यावहारिक दृष्टान्त द्वारा इसे समझिए—

एक सुन्दर, सलौना एवं स्वस्थ बालक है। उसे देखकर एक माता के मन में विचार आया—ऐसा बालक मुझे भी हो तो कितना अच्छा हो! परन्तु वह यह विचार नहीं करती कि इस सुन्दर भाग्यशाली बालक की माता ने ऐसे उत्तम बालक को कैसे प्राप्त किया? उसके लिए माता ने कितनी तपस्या की? शुद्धि रखी, ब्रह्मचर्यपालन कितने अर्से तक किया? उस माता के कितने उच्च संस्कार होंगे? उसने स्तनपान के साथ-साथ संस्कारपान कितने वात्सल्य एवं पुरुषार्थ से पाए होंगे? सम्यग्दृष्टि माता उसके मूल कारणों पर विचार करती है, जबकि मोहनिद्रा में पड़ी हुई माता केवल ऊपरी स्तर पर विचार करके वैसे बालक को चाहती है। कारण शुद्ध होने पर ही कार्य शुद्ध हो सकता है, इस बात को वह नहीं समझती।

अतः आत्मजागृति वाला साधक अपने अन्दर ही सभी समस्याओं का हल

मानना है। आज इसी आत्मजागृति के अभाव में व्यक्ति और समाज का भयकर पतन हो रहा है। वैषयिक सुख को ही सच्चा सुख मान, उसी में आसक्त बनकर अनिष्ट संयोग तथा इष्ट वियोग में दुःखी होता है। आत्मजागृतिमान व्यक्ति सत्य को अपनाने के लिए सदैव तैयार रहता है। उसकी पैनी बुद्धि वस्तु के यथार्थस्वरूप को समझने के लिए तत्पर रहती है। वह समस्त वस्तुओं के मूल कारणों को ढूंढकर कर्तव्य एवं दायित्व का पालन करके मोह, पतन और अवदशा का निवारण करता है। जागृत आत्मा जगत् की छोटी-बड़ी प्रत्येक वस्तु, परिस्थिति से प्रेरणा लेता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को अयोध्या की राजगद्दी पर बिठाया जाने वाला था, मुहूर्त वगैरह सभी निकाल लिये गए थे। सभी प्रकार तैयारियां हो रही थीं। तभी अचानक पासा पलटा। माता कैकेयी को पिताजी (राजा दशरथ) के द्वारा दिये गए दो वचनों का पालन करने हेतु राम वनवास के लिए तैयार हो गए और भरत को राज्याभिषेक देने की तैयारी होने लगी। किन्तु राम इन दोनों ही परिस्थितियों में न हर्षित थे, न शोकमग्न। वे दोनों ही परिस्थितियों में सम थे, जागरूक थे। उन्होंने अपनी अन्तरात्मा को समझा दिया—राज्याभिषेक मात्र से तेरा कोई कल्याण होने वाला नहीं और न ही वनवास के तेरा कोई अकल्याण होगा। कल्याण का मूलाधार तो आत्मजागृति पूर्वक समभाव में है। इसी आत्मजागृति के कारण श्री राम से जब अयोध्यावासियों ने सन्देश देने का कहा तो उन्होंने कहा—

> प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्ती
> सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी।
> यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति
> यच्चेतसा न गणितं तदिहाभ्युपैति॥

इससे बढ़कर और कौन-सा प्रेरणादायक ताजा सन्देश हो सकता है कि मैं प्रातःकाल चक्रवर्ती राजा बनने वाला था, परन्तु इस समय मैं जटाधारी तपस्वी बनकर वन में जा रहा हूँ।

जिसकी आत्मा जागृत होती है, वह अपने प्रति कठोर होता है, दूसरों के प्रति कुसुम-सा कोमल। वे मानते हैं कि प्रशंसा, खुशामद और चापलूसी से मनुष्य असावधान-अजागृत हो जाता है, उसे अपने दोषों का भान नहीं रहता जबकि निन्दकों एवं आलोचकों के कारण वह सदा जागृत रहता है।

अयोध्या की राजगद्दी पर बैठने पर रामचन्द्रजी ने अपने गुप्तचर को बुलाकर कहा—तुम मेरे राज्य में सर्वत्र घूमो और मुझे प्रजा के सुख-दुःख का, क्रिया-प्रतिक्रिया का वृत्तान्त ब्योरेवार सुनाओ।

दो महीने के पश्चात् गुप्तचर लौटकर आया और कहने लगा—"देव! आपके राज्य में सर्वत्र अमनचैन है। प्रजा के हृदय में आपके लिए बहुत ही स्थान है सर्वत्र आपकी प्रशंसा हो रही है।"

[illegible] जी ने [illegible] करते [illegible] महानुभाव ! [illegible] सुनने के लिए [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible]

इस प्रकार रामचन्द्र जी ने कुम्हार को पुनः [illegible] करने हेतु [illegible] ।

यही है आत्मजागृति का [illegible] ! कुसंग से आजकल तो समाज, राष्ट्र या धर्मसंघों के नेताओं में बड़ी [illegible] हो गई है। [illegible] किसी बड़े साधु या धार्मिक के विरुद्ध कुछ कह देता है या सुनने के बदले उसका मुँह बन्द करने को तैयार हो जाते हैं। [illegible] और [illegible] करने [illegible] आदत पड़ गई है। इसी कारण अजागृति बढ़ती जा रही है।

आत्मजागृति में अधिक समय नहीं लगता

लोग कहते हैं कि आत्मजागृति में कई वर्ष या कई जन्म लग जाते हैं, पर ऐसी बात नहीं है। कम से कम समय में और इसी जन्म में आत्मा जागृत हो सकती है। आपने सुखविपाक, अन्तकृत् आदि सूत्रों में सुना ही होगा कि जिनेन्द्र भगवान् के व्याख्यान के श्रवण से अमुक व्यक्ति की आत्मा जागृत हो गई। उसे संसार से विरक्ति हो गई या उसने श्रावक व्रत धारण करने का संकल्प कर लिया।

मेघकुमार राजकुमार था। वैभव में पला था। किसी प्रकार का अभाव उसे पीड़ित नहीं कर रहा था। किन्तु भगवान महावीर का उपदेश सुनते ही उसकी आत्मा जागृत हो गई। उसे अपने जीवन के मूल ध्येय एवं वास्तविकता का पता लग गया। भगवान महावीर के पास उसने धूमधाम से दीक्षा ले ली। वह मुनि बन गया।

आज दीक्षा लिए हुए पहली रात्रि थी। सभी साधुओं की शय्या क्रमशः लग गई। मेघमुनि की शय्या पंक्ति में सबसे अन्त में लगाई गई। रात का समय। साधुओं के लिए लघुनीति परिष्ठापन का वही रास्ता था। रात के अन्धेरे में साधुओं के पैरों की ठोकर लगनी स्वाभाविक थी। बस, इसी पदाघात ने मेघमुनि की आत्मजागृति भंग कर दी और शरीर मोह जागृत हो गया। उन्हें साधुओं के इस व्यवहार ने क्षुब्ध कर दिया और वे मन-ही-मन साधुओं के दोषदर्शन में संलग्न हो गये। आखिर इस मोह-निद्रा के फलस्वरूप मेघमुनि ने प्रातःकाल होते ही समस्त धर्मोपकरण प्रभु महावीर को सौंपकर घर लौटने का विचार कर लिया। प्रातःकाल होते ही मेघमुनि भगवान महावीर के चरणों में पहुँचे। प्रभु तो अन्तर्यामी थे। वे सब कुछ जान गये। मेघमुनि की आकृति से वे भाँप गये कि इसकी आत्मजागृति भंग हो गई है। भगवान् महावीर ने मेघमुनि को उनके पूर्वभव में (हाथी के जन्म में) अनुकम्पा

पूर्वक घोर कष्ट सहन का वृत्तान्त सुनाकर तथा साधुधर्म समझाकर पुनः संयम में स्थिर किया। मेघमुनि की आत्मा जागृत हो उठी। उन्होंने अपने जीवन में आई हुई क्षति का निवारण कर आत्मशुद्धि की। उसके बाद उनकी आत्मा सतत जागृत रही।

यह था आत्मजागृति का सुखद क्षण! आत्मजागृति मानव के लिए संजीवनी बूटी है। उसमें आत्मा स्वस्थ और शुद्ध रहती है। जागृति जीवन को सोना बना देती है। सच पूछो तो जागृति ही जीवन है, और मोह निद्रा ही मृत्यु है।

बन्धुओ! आत्मजागृति के लिए आपको पूर्वपुण्य के संयोग से मनुष्यजन्म मिला है। जागृति का उत्तम अवसर भी मिला है अतः इस अमूल्य मनुष्य जीवन को संसार की मोहमाया में फंसकर विषय के कीड़े बन कर मोहनिद्रा में मत खोओ। इसे आत्मा को जागृत करने में लगाओ। इसी में मानवजीवन की सार्थकता है। महापुरुष पुकार-पुकार कर कहते हैं—

'उट्ठिए, नो पमायए। —आचारांग

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान् निबोधत। —उपनिषद्

'अब मोहनिद्रा छोड़कर उठ जाओ, जागृत हो जाओ। प्रमाद मत करो, श्रेष्ठ पुरुषों के पास पहुँच कर बोध प्राप्त करो।'

आप भी अपनी आत्मा को जगाइए, देखिए कि उससे आपको कितनी शान्ति और कितना आनन्द मिलता है!

३

शान्ति की समग्र साधना : सामायिक

जगत् में जितने भी प्राणी है, वे सब सुख और शान्ति चाहते हैं। कोई भी अपने जीवन में अशान्ति पसन्द नहीं करता। इस प्रत्यक्ष दृश्यमान दुनिया में आज लगभग ढाई अरब मानव है। उनमें में तो एक भी मनुष्य आपको ऐसा न मिलेगा, जो अशान्ति चाहता हो। परन्तु अशान्ति न चाहने से अशान्ति थोड़े ही मिट जाती है, अथवा अशान्ति आने से रुक थोड़े ही जाती है। जहाँ भी अशान्ति का कारण होता है, अशान्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। अशान्ति के कारणों को दूर किये बिना कोई व्यक्ति यह चाहे कि अशान्ति मिट जाए या उत्पन्न ही न हो, ऐसा हो नहीं सकता।

अशान्ति का कारण दूर करो

न्यायशास्त्र का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि कारण को दूर किये बिना कार्य रुक नहीं सकता। मानलो, एक व्यक्ति के घर में, आँगन में एक जहरीला पौधा उग गया। उस व्यक्ति ने सोचा कि यह विषैला पौधा किसी बच्चे या पशु के खाने में आ गया तो अवश्य ही मर जायगा। अत उसने छुरी लेकर उस विषैले पौधे के ऊपर-ऊपर का हिस्सा काट कर फेंक दिया। किन्तु उस भाई ने पौधे के मूल को नहीं उखाड़ा। मूल अन्दर रह गया। कुछ ही महीनों के बाद फिर उस पौधे में पत्ते निकल आए, छोटी-छोटी टहनियाँ भी निकली। घर का मालिक घबराया। उसने फिर उसके पत्ते और डालियाँ काट डाली। परन्तु पौधे की जड़ अब भी कायम थी। इसलिए फिर उसमें टहनियाँ और पत्ते निकल आए। एक दिन घर का मालिक कहीं बाहर गया हुआ था। बालक उस पेड़ के पत्ते खा गया और उसकी मृत्यु हो गई। मालिक आया तो बच्चे को मरा हुआ देख कर रो पड़ा और उसे पता लगा कि उस पौधे के पत्ते खाने से बालक मरा है, तो उसने उसी समय उस पौधे को जड़मूल से उखाड़ फेंका और उससे होने वाली हानि से सदा के लिए मुक्त हो गया।

यह एक रूपक है। मनुष्य अपने घर में अशान्ति के पौधे को देखकर चौंक उठता है। वह सोचता है कि किसी न किसी दिन यह पौधा हमारे सर्वनाश का कारण बनेगा। इसलिए वह अशान्ति के पौधे के थोड़े-से पत्ते तोड़ लेता है। यानी वह बाहर से किसी से लड़ाई-झगड़ा नहीं करता, किसी को मारता-पीटता नहीं, किन्तु अशान्ति

का जो मूल है, उसे उसने काटा नहीं, तब तक अशान्ति का पौधा बार-बार पनप जाता है। और धीरे-धीरे परिवार, समाज और राष्ट्र को वह जहरीला पौधा नष्ट करता जाता है।

एक हलवाई ने दूध गर्म करने के लिए कड़ाही में डाला। उसने कड़ाही के नीचे भट्टी में ईंधन झौंकना शुरू किया। ईंधन भट्टी में अधिक ईंधन झौंकने के कारण कड़ाही में डाला हुआ दूध अत्यन्त गर्म होकर उफनने लगा। हलवाई ने दूध उफनता देखा तो पानी के कुछ छींटे मारे, जिससे दूध थोड़ी देर के लिए उफनना बन्द हो गया। किन्तु फिर थोड़ी देर बाद दूध उफनने लगा। इस बार उसने कड़ाही में फिर पानी छींटना शुरू किया। ५ मिनट तक उफान बन्द हुआ, फिर वही हाल। हलवाई बार-बार पानी छींटता, लेकिन उसमें इतनी समझ नहीं कि जब तक वह नीचे से ईंधन नहीं निकाला जाता, तब तक उफान सर्वथा शान्त कैसे होगा? फलस्वरूप उफान बढ़ता ही गया। आखिर एक समझदार व्यक्ति ने उससे आकर कहा—"भले आदमी! क्या इस तरह से उफान शान्त होगा? उफान शान्त करना हो तो कड़ाही के नीचे भट्टी में झोंका हुआ ईंधन बाहर निकालो। उसने उस बुद्धिमान के कहे अनुसार जब ईंधन भट्टी में से बाहर निकाला, तब जाकर उफान शान्त हुआ।

यही सिद्धान्त शान्ति के सम्बन्ध में समझिए। जब तक आप जीवन की भट्टी में झौंके हुए अशान्ति के ईंधन को बाहर नहीं निकालेंगे, तब तक केवल शान्तिमन्त्र के दो-चार छींटे देने से काम नहीं चलेगा। और अशान्तिरूपी उफान भी तभी शान्त होगा, जब अशान्ति के कारण रूप कषाय, विषयासक्ति आदि के ईंधन को बाहर निकालेंगे।

अशान्ति की आग भड़कने का कारण

आपके मन में यह प्रश्न उठता होगा कि अशान्ति की आग प्रादुर्भूत होने का न कारण क्या है? वे कारण इतनी सावधानी रखते हुए भी कैसे जीवन में या मन में घुसकर अशान्ति पैदा कर देते हैं? क्योंकि मैं पहले यह बता चुका हूँ कि जब तक कारणों को दूर नहीं किया जाता, तब तक कार्य भी होता रहता है। अशान्तिरूप कार्य को न होने देने के लिए उसके कारणों को दूर करना आवश्यक है।

अशान्ति के मूल कारण को ढूँढने के लिए जरा गहराई में उतरना होगा। कई लोग यह कह देते हैं कि किसी से झगड़ा या कलह हो गया तो अशान्ति पैदा होगी, परन्तु यह अशान्ति का मूल कारण नहीं है। अशान्ति का मूल कारण और ही है। कुछ भौतिक दृष्टि-प्रधान लोग कह देते हैं कि शरीर में रोग, चिन्ता, कष्ट, गर्मी या सर्दी का प्रकोप आदि होने से तो अशान्ति पैदा हो जाती है, किन्तु यह भी अशान्ति का मूल कारण नहीं है। कई लोग इष्ट वस्तु या व्यक्ति के वियोग और अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग को अशान्ति का कारण बताते हैं। परन्तु यह बात भी यथार्थ नहीं है। अगर अशान्ति के मूल कारण ये सब होते तो एक निःस्पृह त्यागी

एक परिग्रह (ममत्व) [illegible] अशान्ति [illegible] किन्तु [illegible] व्यक्ति के हृदय में इस प्रकार [illegible] इसलिए अशान्ति का मूल कारण [illegible] और ही है। [illegible] और [illegible] अशान्ति [illegible] शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थ [illegible] इसलिए अशान्ति का मूल कारण विषमता या ममत्वहीनता है। जब मनुष्य के हृदय में से ममता निकल जाती है विषमता पैदा हो जाती है तब उसमें अशान्ति पैदा होती है। [illegible] साधक चाहे कितना कष्ट हो, उपसर्ग हो, प्राकृतिक प्रकोप हो, शरीर में रोग हो, इष्ट वियोग या अनिष्ट-संयोग का प्रसंग हो, फिर भी समभाव से [illegible] समत्व या समता अपने मन पर लगा देता है। उसके मन में कभी अशान्ति नहीं होती। शान्ति की चाबी उसके हाथ लग गई है। इसलिए वह शरीर और मन को [illegible] प्रसंगों पर भी समत्व में स्थिर होकर अशान्ति का नाम भी नहीं [illegible]। जहाँ साधारण व्यक्ति समत्व साधना न होने के कारण इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग का प्रसंग होते ही [illegible] हो जाता है। चिन्तातुर होकर रात-दिन अशान्ति के कुण्ड में झुलसता रहता है, वहाँ समत्व साधक प्राकृतिक प्रकोपों, कष्टों और चिन्ताओं के [illegible] आदि, चट्टान की तरह समत्व पर दृढ़ रहता है, शान्ति के सरोवर में स्नान करता रहता है, अशान्ति की एक भी चिनगारी उसके पास नहीं फटकती।

निष्कर्ष यह है कि अशान्ति का मूल कारण बाह्य पदार्थ या संयोग नहीं, किन्तु मन में समुत्पन्न विषमता या ममत्वहीनता है। समत्व का अभ्यास जिसके जीवन में नहीं होता वह व्यक्ति चाहे प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण स्थान में, निर्जन गहन वन में, गुफा में या भौतिक सुख-साधनों से युक्त स्थान में चला जायगा, तब भी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा। वह ऐसे स्थानों में भी अशान्त और बेचैन दिखाई देगा।

एक धनाढ्य व्यक्ति है। सब तरह के सुख-साधनों से उसका घर भरा है। बड़ा बंगला है। कार है। व्यापार धन्धा भी अच्छा चलता है, किन्तु धन की ममता ने उसे बेचैन कर रखा है। धन की ममता के कारण भाइयों के साथ उसका प्रेम नहीं है। भाइयों के साथ कोर्ट में उसका मुकद्दमा चलता है। उसमें इतनी उदारता और समता नहीं कि भाइयों को भी वह अपना आत्मीय समझ कर उन्हें भी अपनी सम्पत्ति में से यथोचित हिस्सा दे दे। इसी विषमता या ममता के कारण वह रात-दिन अशान्त रहता है। समता का अभाव ही उसकी अशान्ति का मूल कारण है।

एक शासक या सत्ताधारी है। उसको सब तरह के शासकीय अधिकार प्राप्त है। परन्तु वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों या सहायकों के साथ समता का व्यवहार नहीं करता। वह उन पर धौंस जमाता है, उन्हें धमकी देता है, जब तब उन्हें मामूली-सी बात पर डाटता-फटकारता रहता है, जरा-सी बात पर झल्ला उठता है, उन्हें मार-पीट भी देता है। इस कारण वे लोग अपने शासनकर्ता को पदच्युत करने या उसे समाप्त करने की ताक में रहते हैं। इस प्रकार की विषमता के कारण शासनकर्ता और अधीनस्थ कर्मचारी दोनों के मन में अशान्ति की आग भड़कती रहती है।

इसीप्रकार एक जाति दूसरी जाति को अपने से नीची, हीन और अधम मान कर उसमें घृणा करती है। फलतः दूसरी तथाकथित हीन या नीच मानी जाने वाली जाति के लोगों में तथाकथित उच्चजाति के लोगों के प्रति द्वेष पैदा होता है। इस प्रकार अपनी जाति के प्रति स्वत्वमोह और दूसरी जाति के प्रति द्वेष और घृणा दोनों ओर अशान्ति की आग भड़काती है। सभी जाति वाले सुखपूर्वक जीएँ, उनका भी कल्याण हो, जातिगत व्यवस्था तो परिस्थितिवश भौगोलिक रचना के कारण बनाई गई है। इसमें जाति को लेकर न कोई उच्च है, न नीच है। सभी मनुष्य समान है। इस प्रकार की समता जिसके मनर्मास्तिष्क में जम जाती है, वह व्यक्ति शान्ति के सरोवर में स्नान करता है। उसके मन में अशान्ति की आग कभी नहीं भड़कती।

यही बात धर्मसम्प्रदाय को लेकर कही जा सकती है। जहाँ सम्प्रदायों में परस्पर उच्चता-नीचता की कल्पना करके एक-दूसरे पर कीचड़ उछाला जाता है, दूसरे सम्प्रदाय को नीचा दिखाने और अपने सम्प्रदाय को ऊँचा बताने की धृष्टता की जाती है, वहाँ भी परस्पर घृणा, द्वेष, वैर-विरोध के कारण अशान्ति की ज्वाला धधकती रहती है। परन्तु जहाँ अनेकान्तवाद के आभूषणों से सुसज्जित होकर समता महारानी पधार जाती है, वहाँ साम्प्रदायिक विषमता समाप्त हो जाती है, और शान्ति और सौहार्द तथा विश्व-मैत्री का साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

ये ही बातें प्रान्त, राष्ट्र एवं भाषा सम्बन्धित वैषम्य को लेकर कही जा सकती है। जहाँ स्व-प्रान्तमोह, स्वराष्ट्रमोह एवं स्वभाषामोह के कारण दूसरे प्रान्त, राष्ट्र या भाषा के प्रति द्वेषभाव, घृणाभाव एवं ईर्ष्याभाव पैदा हो जाता है, वहाँ उक्त विषमता के कारण शान्तिदेवी कैसे पास फटक सकती है?

एक व्यक्ति स्वयं ही दूसरों से ईर्ष्या करता है, दूसरों की तरक्की देख कर कुढ़ता रहता है, वह दूसरों को नीचा दिखाकर स्वयं ऊँचा कहलाने की फिराक में अहर्निश लगा रहता है। अब बताइए उसके हृदय में शान्ति का निवास कैसे हो सकता है? क्योंकि उसके मन में एक दूसरों के प्रति कोई सहानुभूति, समता या मैत्री भावना नहीं है। आत्मीयता से वह कोसों दूर है।

इसीप्रकार किसी व्यक्ति को एक पदार्थ या व्यक्ति के प्रति बहुत लगाव है, वह उसके मोह में इतना अन्धा बना रहता है कि उसकी गलत बातों और बुराइयों के प्रति आँखमिचौनी करके हर दम उसकी पीठ थपथपाता है, उसका समर्थन करता है, उसके दोषों की ओर कोई जरा भी अंगुली उठाता है, तो वह उसे असह्य हो जाता है, वह उससे लड़ने-मरने को तैयार हो जाता है। दूसरी ओर एक उससे कई गुना अच्छा, गुणी, चारित्रवान और बुद्धिमान व्यक्ति है, किन्तु अन्य जाति, धर्मसम्प्रदाय, प्रान्त या राष्ट्र का होने के कारण उसके प्रति कोई आत्मीयता नहीं बल्कि उसके प्रति घृणा और जब देखो तब उसकी खोटी आलोचना किया करता है। यह दृष्टिगत वैषम्य अशान्ति को जन्म देने के सिवाय और कर ही क्या सकता है?

इसी प्रकार द्रव्यगत, क्षेत्रगत, कालगत और भावगत वैषम्य भी अशान्ति के जन्मदाता है। आशय यह है कि किसी एक द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव के प्रति राग-भाव (मोह) और दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के प्रति घृणाभाव (द्वेष) वैषम्य मूलक होने के कारण ये मनुष्य के मन मे अशान्ति के कीटाणुओं को ही जन्म देते हैं।

भावगतवैषम्य : अशान्ति का कारण

भावगत वैषम्य के कारण मनुष्य के मन मे कैसे अशान्ति का गुब्बारा फूल जाता है, इसे मैं एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—

एक कस्बे मे दो ब्राह्मण पडौसी थे। दोनों की आर्थिक स्थिति लगभग समान थी। परन्तु दोनों के स्वभाव में रात-दिन का अन्तर था। एक का स्वभाव सरल और मिलनसार था, जबकि दूसरे का स्वभाव वक्र, स्वार्थी और ईर्ष्यालु था। दोनों के मकान पक्के नही थे, कच्चे झौंपड़े ही थे। परन्तु सरल और कर्तव्यपरायण ब्राह्मण राजा के यहां ईमानदारी पूर्वक कार्य करता था। उसके कार्य मे सन्तुष्ट होकर राजा ने उसे इनाम दिया तथा वेतन भी बढ़ा दिया। पैसा हो जाने से प्रतिवर्ष कच्चे झौंपड़े को ठीक कराने की खटपट से बचने हेतु सरल ब्राह्मण ने अपना एक छोटा-सा पक्का मकान बनवा लिया। पड़ौसी का पक्का मकान देख कर ईर्ष्यालु ब्राह्मण डाह से जलने लगा। वह अपने परिवार के लोगों तथा गाँव वालो के सामने अब हरदम यही रट लगाता रहता—अरे! कल तो इसका मेरे जैसा ही कच्चा झौंपडा था, और आज रईस बन कर इसने पक्का मकान बना लिया। अब तो मुझे कोई भी नहीं पूछेगा। सब जगह लोग इसकी ही प्रशसा करेंगे। अत. जब तक इसका पक्का मकान नही गिर जायेगा, तब तक यह मुझे जलाता रहेगा। सीदे-सादे पडौसी के प्रति इस प्रकार का ईर्ष्याभाव देखकर उसकी पत्नी कहने लगी—"अजी! पडौसी के पक्का मकान बन गया तो आपको उसमें क्या दुःख है?"

उसने कहा—"तू नही जानती, मेरे दिल के घाव को! इसका पक्का मकान *ही तो मेरी प्रतिष्ठा को मटियामेट कर रहा है।"*

एक दिन किसी देवीभक्त से उसने पडौसी के पक्के मकान को नष्ट करने का उपाय पूछा। उसने कहा—'यों तो तुम उसका पक्का मकान गिराओगे तो सरकार गिरफ्तार करके तुम्हें जेल मे धर देगी। पर एक उपाय है। तुम अगर देवी को सिद्ध कर लो तो देवी प्रसन्न होकर तुम्हें मनचाहा वरदान दे सकती है।" उसने *दूसरे दिन से ही देवी को प्रसन्न करने का* जाप करना शुरू किया। देवी प्रसन्न होकर बोली—"बोल, क्या वरदान मांगता है?" ईर्ष्यालु ब्राह्मण बोला—"देवी! मैं कुछ *नहीं चाहता,* यही चाहता हूँ कि मेरे पड़ौसी का पक्का मकान गिर जाय।" देवी ने कहा—"तुम्हारे पडौसी का पुण्य प्रबल है, उसका पक्का मकान गिर नहीं सकता। तुम चाहो तो मैं यह वरदान दे सकती हूँ कि जो तुम *मांगोगे उससे दुगुना तुम्हारे* पड़ौसी को मिलेगा।" ईर्ष्यालु ब्राह्मण ने कहा—अच्छा, देवी! यही वरदान दे दो।"

देवी तथास्तु कहकर अन्तर्धान हो गई।' ईर्ष्यालु ने कहा—"मेरे लिए एक दो मंजिला मकान हो।" वरदान के अनुसार पड़ोसी ब्राह्मण के चार मंजिला मकान बन गया।" ईर्ष्यालु भन्नाता हुआ बोला—"अच्छा, मेरे मकान की हर मंजिल में एक कुआ बन जाए।" फलतः पड़ोसी के मकान की हर मंजिल में दो-दो कुँए बन गए।" तब उसने माँगा—"मेरे परिवार वालों की एक-एक आँख फूट जाय।" वरदान के अनुसार पड़ोसी के परिवार वालों की दोनों आँखें फूट गईं। अब तो पड़ोसी के परिवार के लोग अन्धे हो जाने से प्रति दिन कोई न कोई किसी कुँए में गिर जाता। यों क्रमशः पड़ोसी का सारा परिवार नष्ट हो गया।

यह है भावों की विषमता के कारण मन में अशान्ति के तूफान का चित्र! जब मनुष्य जानबूझ कर अपने भावों में इस प्रकार समताभाव छोड़ कर विषमता को धारण कर लेता है तो अशान्ति के आते देर नहीं लगती।

किसी ने आज 'नमस्ते'-नहीं किया, आज अमुक ने मेरा सम्मान नहीं किया, अमुक व्यक्ति उसे नमस्कार करता है, मुझे क्यों नहीं! इस प्रकार की सम्मानलालसा से प्रेरित होकर मनोभावों में वैषम्य लाना भी भावगत वैषम्य है, यह भी जानबूझ कर अशान्ति को न्योता देना है।

परिस्थितिगत वैषम्य : अशान्ति का कारण

इसी प्रकार परिस्थितिगत वैषम्य भी अशान्ति का कारण है। एक मनुष्य आज अच्छे पद पर है। समाज में उसकी प्रतिष्ठा अच्छी है। परिस्थिति भी अच्छी है, लेकिन किसी कर्मोदयवश परिस्थिति में अचानक परिवर्तन हो जाने पर मनुष्य अशान्त और बेचैन हो उठता है। उसका पद भी जाता रहा, समाज में उसकी प्रतिष्ठा भी खत्म हो गई। आर्थिक स्थिति भी डावाडोल हो गई। परन्तु उस समय वह समता भाव का आश्रय छोड़कर विषमभाव का आश्रय लेकर आर्तध्यान करने लगे, पिछली परिस्थिति के लिए रोने-पीटने लगे, विवेकविकल होकर अमुक निमित्तों को कोसने लगे तो उससे तो अशान्ति ही पल्ले पड़ेगी। शान्ति का चन्द्रोदय तभी होगा जब वह समताभाव को धारण करके अपने उपादान का विचार करेगा, उसी को सुधारने का प्रयत्न करेगा।

ये विषमताएं ही अशान्ति की जननी

विषमता वैषम्य के ये और इस प्रकार के अन्य अनेक प्रकार हैं, जिन पर आप गहराई से चिन्तन करेंगे तो स्वतः स्फुरणा होगी कि ये विषमताएँ ही अशान्ति की जननी हैं। इन विषमताओं को दूर करके जब तक समता की साधना नहीं की जाएगी, तब तक अशान्ति से छुटकारा नहीं हो सकेगा। यदि कल्पितशान्ति के चक्कर में पड़कर भ्रमवश अशान्ति को शान्ति मान लिया जाएगा, तो वह शान्ति अधिक दिन नहीं टिक सकेगी। ऐसी कल्पित शान्ति दूसरी अशान्ति को और ले आएगी। जैसे एलोपैथिक दवा एक बीमारी को दवा देती है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया

स्वरूप दूसरी और बीमारियाँ खड़ी हो जाती है। जबकि प्राकृतिक चिकित्सा विलम्ब से रोग-मुक्ति दिलाती है, किन्तु वह दूसरे रोगों को पैदा न करके उस रोग को ही जड़ से मिटा देती है। विषमता के द्वारा कल्पित शान्ति मानकर अशान्ति दूर करने का प्रयत्न भी ऐलोपैथिक चिकित्सा की तरह एक अशान्ति को दबा कर शीघ्र ही दूसरी अशान्ति उत्पन्न करता है जबकि समता के द्वारा अशान्ति दूर करने का प्रयास 'प्राकृतिक चिकित्सा की तरह अशान्ति को मूल से नष्ट करके स्थायी शान्ति प्राप्त करता है।

समता ही शान्ति का मुख्य कारण

बन्धुओ ! अशान्ति का मूल कारण विषमता है या समत्व का अभाव है, यह मैं आपको अभी बता गया हूँ। विषमताएँ किस-किस प्रकार से और कैसे-कैसे अशान्ति पैदा करती हैं, यह भी आप समझ गए होंगे। इससे यह भी आपके सामने स्पष्ट हो गया कि समता ही शान्ति की जननी है। वह जब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आ जाती है, तब अशान्ति शीघ्र ही पलायित हो जाती है। अब्बल तो, जहाँ समता का राज्य होता है, वहाँ अशान्ति पास ही नहीं आती। कैसी भी विषम परिस्थिति क्यों न हो, कैसा भी अनिष्ट क्षेत्र, काल, व्यक्ति क्यों न हो, जिसके हृदय में समभाव विराजमान रहता है, उसे अशान्ति घेर नहीं सकती। वह हर हाल में मस्त रहता है, शान्त रहता है। आचार्य अमितगतिसूरि ने वीतराग प्रभु से इसी समभाव की प्रार्थना की है—

> दुःखे सुखे वैरिणि बन्धुवर्गे, योगे वियोगे भवने वने वा।
> निराकृताशेषममत्वबुद्धेः सम मनोमेऽस्तु सदापि नाथ ॥

—हे नाथ ! दुःख हो, चाहे सुख हो, शत्रु मिले या बन्धु मिले, अनिष्ट का संयोग हो या इष्ट का वियोग, महल हो या जंगल, सब प्रकार की ममत्वबुद्धि छोड़कर मेरा मन सदा सम रहे।'

कितनी सुन्दर प्रार्थना की है, भगवान् से ! शान्ति—समग्र शान्ति के लिए आचार्य की दृष्टि में समता के सिवाय और कोई अनुपम मार्ग नहीं है। परन्तु इस प्रार्थना में एक बात और स्पष्ट कर दी है कि समस्त प्रकार की ममत्व बुद्धि को छोड़कर मेरा मन सम रहे।" जब तक मन में किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति ममता होगी, तब तक समता नहीं आ सकेगी। ममता और समता में केवल एक ही अक्षर का अन्तर है। ममता में आदि का अक्षर 'म' है, जबकि समता में आद्याक्षर 'स' है। हृदय में 'म' की जगह 'स' को बिठा लेने से बिलकुल पासा पलट जाता है। ममता से हृदय भारी भरकम और अशान्त हो जाता है, जबकि समता से हृदय फूल-सा एकदम हलका और शान्त होता है। ममता से हृदय कैसे भारी और अशान्त हो जाता है इसे समझने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए—

एक व्यक्ति ने ५० हजार रुपये में एक मकान खरीद लिया और उसे किराये पर उठा दिया। जितने भी किरायेदार हैं, उनमें से अधिकांश स्वार्थी हैं, उन्हें मकान

के बिगड़ने या टूटने-फूटने की कोई परवाह नहीं है। वे जहाँ-तहाँ थूक देते हैं, कूड़ा डाल देते हैं, मकान को गन्दा करने के अलावा वे लोग मकान को क्षति भी पहुँचाते हैं। मकान मालिक जब भी आता है तब किरायेदारों से उसका झगड़ा होता है। परन्तु किरायेदार भी इतने ढीठ हो गए कि बात सुनी-अनसुनी कर देते। मकान-मालिक की मकान पर ममता है, उसके दिलदिमाग में 'मकान मेरा है' यह बात घुसी हुई है। इसलिए मकान मालिक मन ही मन अत्यन्त व्यथित होता है, कहा-सुनी भी करता है, किन्तु निरुपाय होकर वह अशान्त मन लेकर बैठ जाता है। एक दिन झुंझलाकर उसने वह मकान ५० हजार में बेच डाला। अब मकान पर से उसकी ममता हट गई और रुपयों में अटक गई। अब उस मकान के तोड़ने-फोड़ने या बिगाड़ने पर भी उसे कोई दुःख नहीं होता। लेकिन उसने वे ५० हजार रुपये एक व्यापारी को ऊँचे ब्याज पर कर्ज दे दिये। कोई एक महीना हुआ होगा कि उसे समाचार मिला कि वह आसामी तो डूबने वाली है। "हाय! उसके ५० हजार रुपये उसने लेने हैं। भगवन्! क्या वह इसी तरह मेरे रुपये लेकर बैठ जाएगा? क्या मैं यों ही अभागा रह जाऊँगा।" यों रुपयों में अटकी हुई ममता के कारण उसका मन अशान्त रहने लगा। चिन्ता के मारे उसे नींद नहीं आती।"

अगर उस साहूकार के हृदय में समता होती तो वह कभी अशान्त और उद्विग्न न होता। वह यों ही विचार करता—"इस मकान में मेरा क्या है? मैं कोई परलोक से यह मकान लेकर नहीं आया था और न यहाँ से परलोक में कुछ लेकर जाऊँगा। यह मकान एक दिन तो नष्ट होने वाला है। यहीं रह जाएगा।" और उन किरायेदारों से भी वह यही कहता—"भाइयो! आप इस मकान को अपना समझें। मैं तो सिर्फ इस मकान की सार संभाल करता हूँ। रहना आपको है। आप इस मकान को जितनी अच्छी तरह रखेंगे, उतना ही यह आपको सुख और सुविधा देगा।" इस प्रकार समत्वभाव से वह अपने को मकान का एक संरक्षक समझता और किरायेदारों के साथ आत्मीयता का व्यवहार करता तो किरायेदार भी उस मकान को अपना समझकर रहते, और मकान मालिक को कभी अशान्त न होने देते, न तंग करते। इसी प्रकार ५० हजार की अर्थराशि के पीछे भी यही समत्व होता कि 'यह रुपया मेरा नहीं है। मैं परलोक से कुछ भी तो साथ में नहीं लाया था। यहाँ आकर समाज में ही मैंने प्राप्त किया है। और फिर यह नश्वर सम्पत्ति भी यहीं धरी रह जाएगी। मेरे साथ तो मेरा अपना पुण्य या धर्म चलेगा।" तो बड़ी अर्थराशि के चले जाने पर भी उसे दुःख न होता। उसके मन में अशान्ति न होती।'

ममता दूर किये बिना समता नहीं आती

आज अधिकांश लोगों को जमीन, जायदाद, धन, सम्पत्ति एवं परिवार को लेकर अहर्निश अशान्ति रहती है। न उन्हें रात को अच्छी नींद आती है और न दिन में भी वे चैन से रह सकते हैं। कभी व्यापार में जरा-सा घाटा लग गया तो अशान्ति,

भी जुए में हार गए तो अशान्ति, कभी चोरी में पकड़े गए तो अशान्ति और कभी
माज में अपमानित और अप्रतिष्ठित हो जाने के डर से मन में बेचैनी होती है। इन
भी प्रकार की अशान्तियों को दूर करने और शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय
मता है। जिसके जीवन में समता आ जाती है या समत्व का अभ्यास हो जाता है,
ह अशान्ति के प्रसंग उपस्थित होने पर भी शान्ति भंग नहीं होने देता।

मत्व का अभ्यास : सामायिक से

प्रश्न होता है, समत्व का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर शान्ति प्राप्त होती
, किन्तु समत्व का अभ्यास कैसे और किस माध्यम से हो? कौन-सी ऐसी साधना
, जिसके करने पर समत्व का अभ्यास हो जाता है? जैनधर्म इसका सीधा-सा
उत्तर देता है कि सामायिक ही एकमात्र समत्व का अभ्यास करने की साधना है,
जिसके द्वारा साधारण से साधारण मनुष्य भी उच्चभूमिका पर पहुँच जाता है।

सामायिक के द्वारा समत्व का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर मनुष्य हर परि-
स्थिति में सम रह सकता है। सामायिक की साधना सुदृढ़ हो जाने पर साधक वीत-
राग की भूमिका पर पहुँच सकता है। सामायिक की साधना से ही साधुत्व का
प्रारम्भ होता है। गृहस्थ वर्ग भी सामायिक की साधना से समभाव और समभाव से
शान्ति प्राप्त कर सकता है।

सामायिक का अर्थ और उसकी साधना

सामायिक का अर्थ इस प्रकार है—राग और द्वेष के प्रसंग में मध्यस्थ रहना
सम है। समभाव की आय = लाभ है—समाय। समाय का ही दूसरा नाम सामा-
यिक है।

सामायिक का अर्थ एक आचार्य इस प्रकार करते हैं। सावद्य योग से निवृत्ति
और निरवद्ययोग में प्रवृत्ति करना सामायिक है। सावद्य योग का मतलब आप समझ
गए होंगे। सावद्य का अर्थ पापयुक्त होता है। पापयुक्त योग यानी मन-वचन-काया की
प्रवृत्ति। साधु की सामायिक की साधना आजीवन होती है। वह सतत इस बात के
लिए जागरूक रहते हैं कि उनके मन-वचन-काया से कोई भी पापमय प्रवृत्ति
न हो। यद्यपि साधु अपने-अपने शरीर, इन्द्रियों, मन एवं वचन से प्रवृत्ति करता
है, पर वह निरवद्य-निष्पाप प्रवृत्ति करता है। उसकी प्रवृत्ति में पाप का अंश न हो,
इस बात की वह पूरी सावधानी रखता है। प्रवृत्ति में पाप का अंश तभी प्रविष्ट
होता है, जब प्रवृत्ति के साथ राग, द्वेष, या कषाय हो। साधु चलता है, बोलता है,
उठता-बैठता है, खाता है, जाता-आता भी है, सभी आवश्यक क्रियाएँ भी करता है,
किन्तु इन सब प्रवृत्तियों के करते समय उसके मन में हिंसा, द्वेष, आसक्ति, मोह,
घृणा, अहंकार, ममत्व, दम्भ आदि की भावना नहीं होती। वह समभाव से
प्रवृत्ति करता है, वचन से भी वह कटुता द्वेष असत्य, दम्भ आदि से युक्त वाणी प्रयोग

नहीं करता। काया से भी पाँचों इन्द्रियों को संयम में रखते हुए सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करता है। काया से वह कोई भी प्रवृत्ति अनाप-शनाप नहीं करता। इसी कारण साधु के प्रति कोई भी द्वेष करे, शत्रुता करे या उसे कटु शब्द कहे, झगड़ा करे अथवा उस पर प्रहार करे, तो भी वह विचलित नहीं होता, मन से भी उसके प्रति द्वेष या वैर-विरोध नहीं करता, न वचन से वह किसी भी व्यक्ति का कटुशब्द, अपशब्द या मर्मस्पर्शी शब्द कहता है, तथा काया से भी वह किसी के प्रति प्रहार, हाथ-पैर आदि से ताड़न-तर्जन आदि सावद्य प्रवृत्ति नहीं करता। वह अनिष्ट करने वाले प्राणियों के प्रति भी क्षमाभाव, दयाभाव, करुणाभाव और आत्मीयता रखता है।

सावद्य प्रवृत्ति से विरत होने के साथ-साथ सहज निरवद्य प्रवृत्ति करना भी उसकी सामायिक साधना के अन्तर्गत है। इसके लिए पाँच महाव्रतों का पालन करना भी उसके लिए अनिवार्य होता है।

यह तो हुई त्यागी, निःस्पृह एवं महाव्रती साधु-साध्वियों की सामायिक साधना।

गृहस्थ की सामायिक साधना जीवन भर की नहीं होती। उसकी एक सामायिक साधना कम से कम एक मुहूर्त (४८ मिनट) की होती है। इससे अधिक सामायिक साधना भी वह अपनी सुविधा के अनुसार करता है। उसकी सामायिक साधना के अन्तर्गत भी सावद्ययोग से निवृत्ति और निरवद्ययोग में प्रवृत्ति उसी प्रकार से है। हाँ, उसकी सावधिक या मर्यादित सामायिक साधना का प्रभाव उसकी दिनचर्या पर पड़ता है। सामायिक साधना के दौरान भी उसे मन-वचन-काया से समभाव में स्थिर रहना पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति सामायिक साधना में लीन गृहस्थ के प्रति कटुभावना रखता है, वैर या द्वेष भाव की भावना रखता है। वचन से अपशब्द या गाली बोलता है, उसकी निन्दा या बदनामी करता है, अथवा उस पर किसी प्रकार का प्रहार करता है, थप्पड़ मुक्के लगाता है, तो भी वह उस समय किसी पर भी रोष, द्वेष, घृणा, वैर या हिंसक प्रतीकार नहीं करता। उस समय अपने मन में वह उसके प्रति दुर्भाव नहीं लाता, न वचन से ही अपशब्द या कटुशब्द बोलता है, न उसके प्रति गाली-गलौज करता है, न शरीर से किसी प्रकार का प्रहारादि करता है। सामायिककाल में गृहस्थ साधक भी इतना समभाव तो रखता ही है। इसी प्रकार गृहस्थ साधक सामायिक साधना के दौरान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परिस्थिति के सम्बन्ध में भी समभाव का चिन्तन करता है और समय आने पर वह द्रव्यादि के विषय में समत्व रखता भी है। जैसा कि मैंने पहले कहा था कि सामायिक साधना समभाव का अभ्यास करने की साधना है, और व्यक्ति, जाति, धर्मसम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र, भाषा आदि से सम्बद्ध भेदभाव, पक्षपात, मोह, द्वेष आदि को छोड़ना है, तभी उसके जीवन में समत्व प्रतिष्ठित हो जाता है और वह हर परिस्थिति में सच्ची शान्ति का अनुभव करता है।

समत्व साधना जीवन में सक्रिय :

वर्षों पहले सन्तों के मुख से सुनी हुई समत्व साधना की एक घटना है। एक सन्त थे। उन्होंने साधु-जीवन अंगीकार कर लिया, लेकिन मन में शान्ति नहीं रहती थी। प्रतिदिन मन में कोई न कोई तूफान उठा करता था। सन्त ने अपने गुरुदेव से निवेदन किया—"गुरुदेव! मेरे मन में हर समय अशान्ति बनी रहती है। मैंने साधु-जीवन तो स्वीकार कर लिया लेकिन शान्ति से कोसों दूर हूँ। जबकि मैंने संत का लक्षण सुना है—

शान्ति पमाड़े तेने सन्त कहिए।
हाँ रे तेना दासना दास थई ने रहिए ॥शान्ति०

गुरुदेव! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि इस संसार में किसी को शान्ति नहीं है। मुझे कोई ऐसा व्यक्ति बताइए जो शान्ति में ओतप्रोत हो। गुरु महाराज ने कहा— वत्स! ऐसी बात नहीं है। संसार में ऐसे कई व्यक्ति हैं, जिनके जीवन में शान्ति विराजमान रहती है, क्योंकि वे समत्व में स्थिर रहते हैं। राग-द्वेष या हर्ष-शोक के प्रसंगों में वे सम रहते हैं। इस नगर में एक प्रमुख व्यवसायी है जिसका नाम शान्तिचन्द है, हर समय उसके मुख पर शान्ति अठखेलियाँ करती रहती है। क्योंकि कैसी भी परिस्थिति में वह समत्व का त्याग नहीं करता। तुम उसके पास जाओ और उससे शान्ति का पाठ सीख आओ।"

शिष्य विनयी था। गुरुदेव के वचनों पर उसे विश्वास था। वह पूछता-पूछता सेठ शान्तिचन्द की फर्म की ओर चल पड़ा। सेठ एक गद्दी पर बैठे हुए थे, उनके आसपास कई मुनीम गुमाश्ते बहीखाते लिए अपने-अपने कार्य में व्यस्त थे। सेठ ने सन्त को अपनी फर्म की ओर आते देखा तो एकदम गद्दी से उठे और उनके सम्मुख स्वागत के लिए गए। सेठ जी ने उन्हें वन्दन करके एक तख्त पर बिठाया और स्वयं नीचे एक आसन पर बैठे। तत्पश्चात् हाथ जोड़ कर पूछा—"कहिए, भगवन्! मेरे लिए क्या आज्ञा है? आपका पदार्पण कैसे हुआ?" सन्त ने अपने आगमन का प्रयोजन बतलाया। सेठ ने कहा—"भगवन्! गुरुदेव ने जैसा कहा है, वैसा तो मैं अभी नहीं हो सका हूँ। फिर भी गुरुदेव की कृपा से उनके बताए हुए मार्ग के अनुसार चलने से मेरे जीवन में काफी परिवर्तन आई है। आप [illegible] यहीं [illegible] मेरे परिवर्तित [illegible]।"

[illegible], सेठ का एक मुनीम हाँफता-हाँफता आया और कहने लगा—सेठजी! गजब हो गया! [illegible] सेठजी! [illegible] अपमान [illegible]। [illegible] सुनकर सेठ ने मुस्कराते हुए कहा—"मुनीमजी!

इसमें क्या गजब हो गया। घाटा-नफा, तो व्यापार में चलता ही रहता है। अपने भाग्य का होगा, वह कहीं नहीं जाएगा। हम कौन-सा धन साथ ले आए थे। यहीं समाज से हमने कमाया है। शान्ति से बैठो।" सेठ की बात सुनकर सन्त आश्चर्य में डूब गया। एक गृहस्थ और घाटे की बात सुनकर चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं। कितनी समता और शान्ति है!"

शाम को कोई चार बजे होंगे सभी वह मुनीम खुशी से दौड़ा हुआ सेठ के पास आया और कहने लगा—सेठ जी! बधाई है आपको! अपने जहाज में आए हुए किराने का भाव बाजार में ऊँचा हो गया। काफी अच्छा मुनाफा मिलेगा। आपको यह खुशखबरी सुनाने मैं आया हूँ।"

सेठजी के मनोभावों में तब भी कोई परिवर्तन नहीं। वे सहजभाव से बोले—"मुनीमजी! इसमें क्या खुशी की बात है! व्यापार में तो घाटा-नफा चलता रहता है। हमें अपना ममत्व नहीं खोना चाहिए, न घाटे के समय शोक से घबराना चाहिए और न हर्ष के समय फूलना चाहिए। शान्ति से अपना कर्तव्य अदा करना चाहिए।" सन्त सेठ के इस पिछले व्यवहार को देखकर तो और भी दंग हो गया। उसने सेठ शान्तिचन्द्र के जीवन में समत्व और उसमें फलित शान्ति का नमूना देखा और शान्ति का सुन्दर बोध-पाठ लेकर वहाँ से चल दिया। अपने गुरुदेव से सारी बात कही।

बन्धुओं! यही आदर्श गृहस्थ-जीवन में की जाने वाली सामायिक साधना का है।

सामायिक साधना का दिनचर्या पर प्रभाव हो

आपके जीवन में एक मुहूर्त की सामायिक साधना का इतना प्रभाव तो होना ही चाहिए कि वह कम से कम २४ घंटे तो शान्ति का अनुभव करें। अगर आपने एक मुहूर्त की सामायिक साधना के दौरान यथार्थ रूप से समत्व साधना का अभ्यास किया है तो उसके फलस्वरूप आपको २४ घंटे के दैनिक जीवन में हर मोड़ पर समत्वपूर्वक प्रवृत्ति करने और तदनुसार शान्ति प्राप्त करने में कोई रुकावट नहीं आएगी।

परन्तु प्रायः सामायिक करने वालों की शिकायतें उनके परिवार एवं समाज की ओर से सुनने में आती है कि बाबूजी धर्मस्थान में तो दो-तीन सामायिक अवश्य करते है, लेकिन घर पर या दुकान पर पहुँचते ही सामायिक का सारा असर खत्म हो जाता है। घर में जरा-सा किसी ने कुछ कह दिया तो झल्ला उठते है, दाल में जरा-सा नमक कम हुआ तो थाली फेंकने को तैयार हो जायेंगे, जरा-सा किसी ने सम्मान नहीं दिया तो आपे से बाहर हो जायेंगे। और तो और ग्राहक को सौदा देते समय समभाव भूल कर उसे पूरी तरह मूँडने को उतारू हो जायेंगे। भला ऐसी

सामायिक की साधना है आपकी, जो घर जाते ही छूमन्तर हो जाती है। दुकान की सीढ़ी पर चढ़ते उसका रंग उतर जाता है?

यदि आप किसी घड़ी में चाबी लगायें तो और वह १५-२० मिनट चलकर ही बन्द हो जाए तो आप उसे घड़ी नहीं कहेंगे, खिलौना कहेंगे, सामायिक भी आपकी जिन्दगी रूपी घड़ी में समभाव की चाबी लगाने के लिए है। समभाव की लगाई हुई चाबी से यदि आपकी जीवनघड़ी दिन-रात के २४ घण्टे या कम से कम १२ घंटे भी न चले तो उसे आप क्या कहेंगे? जिस प्रकार सरस स्वादिष्ट भोजन करने पर अच्छी डकार आती है, उसी प्रकार समत्व का सरस भोजन सामायिक साधना के दौरान करने पर उसकी डकार भी आपको अपनी दिनचर्या के दौरान आनी चाहिए।

बन्धुओ! सामायिक का तो इतना अचूक प्रभाव जीवन पर होना चाहिए कि जीवन शान्ति की सरिता में लहराता रहे। सामायिक का सुदृढ़ प्रभाव पूर्णिया श्रावक की तरह जीवन व्यापी होना चाहिए, तभी शान्ति जीवन व्यापी और स्थायी *संगिनी बन सकेगी। आप भी सामायिक साधना को अपना कर जीवन में स्थायी* शान्ति प्राप्त करिए। □

४
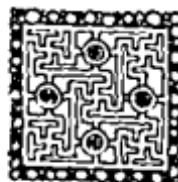
त्रिमुखी साधना—ज्ञान, भक्ति और कर्म

त्रिमुखी साधना का रहस्य

आज मैं आपके समक्ष एक त्रिमुखी साधना का वर्णन प्रस्तुत करना चाहता हूँ। भारतीय संस्कृति में आपने तीन प्रमुख देवताओं का नाम अवश्य सुना होगा, जो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (विनाश) के प्रतीक हैं। इन तीनों में से एक का नाम ब्रह्मा है, दूसरे का नाम विष्णु है और तीसरे का नाम महेश है। इन तीनों देवों की एक साथ मूर्ति भी कई जगह हमने देखी है। चित्तौड़ किले पर एक मन्दिर में ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों की मूर्ति है, जिसमें बीच में विष्णु का मुख है, एक बगल में ब्रह्मा का मुख है और दूसरे बगल में महादेवजी का मुख है। वैसे तीनों की पृथक्-पृथक् मूर्तियाँ तो कई जगह मिलती हैं। परन्तु यह जो त्रिमुखी मूर्ति मिलती है वह एक विशेष रहस्य को प्रकट करती है। उसी त्रिमुखी मूर्ति का यह संकेत है कि संसार उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंस (व्यय) तीनों के आधार पर चलता है। जैनदर्शन की भाषा में इसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कहा गया है। उत्पत्ति का प्रतीक ब्रह्मा, ध्रौव्य स्थिति (पालन-रक्षण) का प्रतीक विष्णु और व्यय (विनाश-ध्वंस) का प्रतीक महेश है। संसार में केवल उत्पत्ति ही उत्पत्ति होती रहे, और उत्पत्ति के बाद उसका पालन-पोषण या संरक्षण न हो तो वह पदार्थ टिकेगा कैसे? किस प्रकार दूसरों के लिए उपयोगी हो सकेगा? स्वयं पुष्ट होकर ही तो व्यक्ति दूसरों को पुष्ट कर सकता है? परन्तु केवल उत्पत्ति ही होती रहे, पदार्थ के जीर्ण-शीर्ण होने पर या विकृत होने पर उसका रूपान्तर न हो तो संसार जराजीर्ण या अत्यन्त विकृत पदार्थों से भर जायगा। इसलिए ध्वंस, व्यय या रूपान्तर होना भी संसार में आवश्यक है। किन्तु एक बात अवश्य विचारणीय है कि उत्पत्ति तभी होगी या व्यय अथवा रूपान्तर तभी होगा, जब वस्तु का मूल स्वरूप कायम होगा। एक वृक्ष है, उसमें नये पत्तों या फल-पुष्पों की उत्पत्ति अथवा पतझड़ की मौसम में पत्तों आदि का ध्वंस तभी होता है जब उसका मूल मौजूद होता है। इसी प्रकार उत्पत्ति और ध्वंस या व्यय के लिए मूल वस्तु की स्थिति होनी आवश्यक है। ये तीनों ही मिल कर सत् (द्रव्य) का लक्षण है।[1] यह तो बाह्यजगत् की त्रिमुखी और उसके तीन संकेतों का निरूपण

---

1 इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तसत्।

हुआ। हमें तो अन्तरजगत आध्यात्मिकजगत की त्रिमुखी और उसके तीनों मंत्रो
पर विचार करना है। जैसे बाह्यजगत् के ब्रह्मा विष्णु और महेश ये तीन मुख्य दे
है। वैसे ही आध्यात्मिकजगत के तीन मुख्य देवता हैं ज्ञान, भक्ति और कर्म। वैसे
बाह्यजगत् में त्रिमुखीमूर्ति की कल्पना की गई है वैसे ही आध्यात्मिकजगत् में भी ज्ञान
भक्ति-कर्म की त्रिरत्नमयी त्रिमुखी मूर्ति की कल्पना है। बाह्यजगत् की त्रिमुखी मूर्ति क
संकेत जैसे उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंस है, वैसे ही अन्तरजगत् की इस त्रिमुखी साधना
मूर्ति का संकेत भी उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंस (रूपान्तर) का है। ज्ञान से आध्यात्मि
विचारों, या यथार्थ वस्तुस्वरूप की उत्पत्ति होती है। किन्तु सिर्फ आध्यात्मिक विचा
या वस्तुस्वरूप बोध ही पैदा होता रहे, आगे उसमें कुछ काम न हो तो आध्यात्मि
विकास की गाड़ी वहीं ठप हो जाएगी, आगे न बढ़ सकेगी। इसलिए ज्ञान का क्रि
(कर्म) रूप में परिणत—रूपान्तर होना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् ज्ञान के सा
कर्म (आचरण) की महती आवश्यकता है। अन्यथा ज्ञान वन्ध्य या निष्फल
जाएगा। इन दोनों के उपरान्त उस ज्ञान को तथा उस कर्म को मनमस्तिष्क में स्था
रूप में टिकाने के लिए, तथा ज्ञान और कर्म को अविचल रूप से स्थायित्व प्रदान क
के लिए भक्ति (श्रद्धा) की अत्यन्त आवश्यकता है। अन्यथा, किसी समय श्रद्धा (भक्ति
के अभाव में अकेला ज्ञान शुष्क, व्यर्थ वितण्डावाद या कुतर्क का कारण हो जाए
वह पंगु बन जाएगा, क्रियान्वित नहीं होगा। इसलिए जिस प्रकार ब्रह्मा-विष्णु-म
की त्रिमुखी मूर्ति की बाह्यजगत् में विशेषता है, पदार्थ विज्ञान में उत्पत्ति, स्थि
और विनाश—इस सिद्धान्त का महत्त्व है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् में ज्ञा
भक्ति-कर्म की त्रिमुखी साधना की विशेषता और अनिवार्यता है। दूसरी दृष्टि से
तो आध्यात्मिक जगत् के ये ही तीन देव ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं। ज्ञान आध्
त्मिकजगत् का ब्रह्मा है, भक्ति (श्रद्धा) आध्यात्मिकजगत् का विष्णु है, और
आध्यात्मिक जगत् का महेश है। ब्रह्मा सृष्टि का उत्पत्तिकर्ता माना जाता है, वैसे
ज्ञानरूपी ब्रह्मा आध्यात्मिकजगत् के विकास का उत्पत्तिकर्ता है। महादेव सृष्टि
ध्वंस या रूपान्तर करने वाला माना जाता है, वैसे ही कर्म (चारित्र) रूपी मह
अज्ञान, अभक्ति (अश्रद्धा) अथवा हिंसादि कुकर्मों का ध्वंस करता है और ज्ञान
कर्म (क्रिया) में रूपान्तर (परिणत) करता है। विष्णु सृष्टि का स्थिति (पालन-पो
संरक्षण) कर्ता माना जाता है, वैसे ही भक्ति (दर्शन या श्रद्धा) रूपी विष्णु साध
ज्ञान और कर्म (चारित्र) दोनों को जीवन के अन्त तक टिकाए रखने वाला
जैनदर्शन में जिन्हें ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा जाता है उन्हें ही वैदिक दर्श
ज्ञान, भक्ति और कर्म कहा जाता है। तत्त्व एक ही है, भाषा और विश्लेषण
अन्तर है।

तीनों का समन्वित रूप : त्रिमुखी साधना

किन्तु एक बार स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि ज्ञान, भक्ति और
इन तीनों का, दूसरे शब्दों में कहूँ तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों का

साथ होना आवश्यक है। इन तीनों का एक साथ होना मुक्ति या मोक्ष के लिए अनिवार्य माना गया है। ये तीनों पृथक्-पृथक् हों तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकते। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

अर्थात्—सम्यग्दर्शन (भक्ति), ज्ञान और चारित्र (कर्म) ये तीनों मिल कर मोक्षमार्ग हैं—मोक्ष का उपाय है।

आप कहेंगे, कि इन तीनों में से अगर हम केवल ज्ञान को ही अपनाएँ तो क्या हमारा बेड़ा पार नहीं हो सकता? या केवल भक्ति को ही अपनाई जाए तो क्या वह मुक्ति प्राप्त नहीं करा सकती? अथवा केवल कर्म को अपनाया जाए तो क्या मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता? जैनदर्शन इसका उत्तर स्पष्ट इन्कार में देता है। वैदिकदर्शन ने भी ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों की साधना को पृथक्-पृथक् कहने और करने के निषेध का संकेत किया है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—

सांख्य-योगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः

—सांख्य अर्थात् ज्ञान और योग अर्थात् कर्म इन दोनों को अज्ञानी लोग पृथक्-पृथक् कहते हैं, पण्डित लोग नहीं। इसी प्रकार भक्ति के साथ ज्ञान और कर्म का सद्भाव होना भी वहाँ आवश्यक बताया है। साथ ही गीता में एकान्त कर्मपरायण (कर्मकाण्डी) मीमांसकों को खूब आड़े हाथों लिया है। वहाँ बताया गया है कि उनके चक्कर में वे ही लोग आते हैं जो ज्ञान, भक्ति और कर्म के रहस्य को नहीं जानते। भगवद्गीता (अ० २) में कहा है—

हे पार्थ! वेदों के (कर्मकाण्डात्मक) वाक्यों (फलश्रुति युक्त) में भूले हुए तथा इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इस प्रकार कहने वाले मूढ़ लोग बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं—अनेक (यज्ञयाग आदि) कर्मों से ही (फिर) जन्मरूप फल मिलता है। और (जन्म-जन्मान्तर में) भोग और ऐश्वर्य मिलता है। यों स्वर्ग कामना-परायण लोग उनके इस भाषणों में आकर्षित होकर भोग और ऐश्वर्य में ही मग्न रहते हैं।[1]

इसी प्रकार गीता में अकेले कर्म की तरह अकेले ज्ञान को हितकर नहीं

---

१ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ ॥४४॥

जाता। यदि कर्म के बिना अकेला ज्ञान हो [illegible]
जाता है। दोनों के बिना कोरी भक्ति [illegible] और [illegible] हो जाती है।

तिपाई की तरह त्रिमुखी साधना आवश्यक

ज्ञान, दर्शन और कर्म की समता और समन्वय को समझाने के लिए एक दृष्टान्त लीजिए —

आपने तिपाई देखी है न? तिपाई के तीन पाये होते हैं। उनमें से अगर तीन का एक पाया [illegible] किया जाए या अलग-अलग का कोई पाया छोटा किया जाए तो तिपाई टिक नहीं सकती। वह एक ओर को लुढ़क जाएगी। इसी प्रकार आध्यात्मिक शरीर की यह तिपाई है जिसके तीन पाये हैं — ज्ञान, भक्ति, और कर्म। यदि इनमें से एक भी पाये ज्ञान को या कर्म को अथवा भक्ति को [illegible] है तो यह तिपाई भी एक ओर को लुढ़क जाएगी। जीवन विकास के बदले पतन की ओर चला जाएगा। तिपाई के तीनों पाये बराबर हों तभी उस पर पानी का घड़ा ठीक ढंग से टिका रह सकता है, इसी प्रकार आध्यात्मिक शरीर की तिपाई के तीनों पाये ठीक होंगे तभी उस पर जीवनरूपी घट ठीक ढंग से व्यवस्थित रूप से टिका रह सकेगा।

त्रिमुखीसाधना : जीवन की तीन अवस्थाएँ

हमारे जीवन की तीन अवस्थाएँ है—बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था ये तीन अवस्थाएँ एक-दूसरी से संबंधित है, एक दूसरी के साथ क्रमशः अनुस्यूत है, अनुबद्ध है। इसीप्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति ये तीनों भी आध्यात्मिक जीवन की क्रमशः तीन अवस्थाएँ है। भक्ति आध्यात्मिक जीवन की बाल्यावस्था है, ज्ञान युवावस्था है और कर्म वृद्धावस्था है। ये तीनों एक दूसरी से जुड़ी हुई और अनुबद्ध हैं। अगर बाल्यावस्था न हो तो युवावस्था कहाँ से होगी और युवावस्था न हो तो वृद्धावस्था भी कहाँ से आएगी? इसी प्रकार भक्ति (श्रद्धा या दर्शन) रूपी बाल्यावस्था नहीं होगी तो ज्ञानरूपी तेजस्वी युवावस्था कैसे होगी? गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

'बिनु श्रद्धा विवेक न होई'

—इसी प्रकार ज्ञानरूपी युवावस्था नहीं होगी तो कर्म (क्रिया-चारित्र) रूपी वृद्धावस्था कैसे घटित होगी?

क्रियाविहीन ज्ञान भारभूत है

जो ज्ञान, क्रिया से रहित होता है, आचरण से दूर होता है, वह केवल भारभूत है। इसीलिए नीतिकारों ने स्पष्ट कहा है—"ज्ञानं भारः क्रियां बिना।" क्रिया के बिना ज्ञान बोझरूप है।

एक गधा है, जिसकी पीठ पर सुगन्धित चन्दन की लकड़ियों का गट्ठड़ लदा

करना चाहिए ? आत्मिक विकास में इसका क्या सम्बन्ध है ? मोक्ष प्राप्ति के लिए यह क्रिया कहाँ तक उपयोगी है ? इस क्रिया का तत्त्व क्या है ? इत्यादि बातों का यथार्थ ज्ञान उसे नहीं होता। और ऐसे क्रियाकाण्ड से आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता।

हाँ, कई बार मनुष्य कठोर क्रियाकाण्डों का आडम्बर रचकर लोगों को बहुत बड़ी संख्या में आकर्षित कर लेता है, अपने अनुयायी बना लेता है। भोले-भाले लोग उक्त क्रियाकाण्डी के चक्कर में आकर धोखा खा जाते हैं, असलियत का जब पता लगता है, तब तक वे ठगे जा चुके होते हैं।

औपपातिक सूत्र में प्राचीनकाल के अनेक तापसों का वर्णन आता है। उसमें बताया गया है कि कई तापस लोग बिना समझे-बूझे निरर्थक कष्ट सहते हैं, लोगों में पूजा और प्रसिद्धि के लिए वे नदी के पानी में कई घंटों खड़े रहते हैं, चारों कोनों में आग लगा कर बीच में वे स्वयं बैठते हैं और ऊपर से सूर्य का प्रखर ताप लगता है, इस प्रकार वे पंचाग्नि तप करते हैं, कई घण्टा शीर्षासन लगाए रहते हैं, कई केवल कंद, मूल, फल खाकर जंगल में रहकर जीवन यापन करते हैं, कई नाना प्रकार की हठयौगिक क्रियाएँ करते हैं, कई लोग कई-कई दिनों तक खड़े रहते हैं, कई केवल दीवार के सहारे बैठ कर नींद लेते हैं। परन्तु उन क्रियाकाण्डों का आत्मकल्याण से क्या सम्बन्ध है ? इस बात को वे समझ नहीं सकते। केवल लकीर के फकीर बनकर गतानुगतिक रूप से चलते हैं।

एक बाबाजी थे। उन्होंने एक बिल्ली पाल रखी थी। जब वे ध्यान लगाते तो बिल्ली उछलकूद मचाती और उनके ध्यान में विघ्न डालती थी। इसलिए बाबाजी ध्यान लगाते समय बिल्ली को बांधने लगे। बाबाजी का एक चेला था, उसने ध्यान लगाते समय गुरु के द्वारा बिल्ली को बांधने का कार्यक्रम जब यह देखा तो मन ही मन निश्चित कर लिया कि "मैं भी जब ध्यान लगाऊँगा तब बिल्ली बांधा करूँगा।" उसने न तो गुरु से इसका कारण पूछा और न ही गुरु ने उसे बताया ?

बाबाजी का देहान्त हो जाने पर उनकी गद्दी पर चेलाजी आए। वे भी बाबाजी की तरह ध्यान लगाने लगे। परन्तु बाबाजी के समय की बिल्ली तो मर चुकी थी। अतः उन्होंने अपने भक्त से कहा— 'हमारे लिए एक बिल्ली लाओ।'

"किसलिए गुरुजी ?" भक्त ने पूछा।

"हमारे गुरुजी जब ध्यान लगाते थे, तब बिल्ली बांधा करते थे। मैं भी ध्यान लगाऊँगा, तब बिल्ली बांधा करूँगा।" चेलाजी बोले। भक्त श्रद्धालु था। उसने तर्क-वितर्क नहीं किया और चेलाजी को बिल्ली लाकर दे दी। अब वे भी ध्यान करते समय उस बिल्ली को बांधने लगे। उनके चेलाजी ने भी ध्यान लगाते समय बिल्ली बांधने की क्रिया देखी तो मन ही मन इस क्रिया का अनुसरण करने की ठान ली।

न तो उन्होंने अपने गुरु से इसका कारण पूछा और न ही अनभिज्ञ गुरु ने उन्हें बताया।

कुछ वर्षों बाद गये गुरुजी का देहान्त हो गया तो उनके चेलाजी गद्दी पर बैठे। उन्होंने भी ध्यान लगाने समय बिल्ली बाधने की क्रिया करने हेतु अपने एक भक्त से बिल्ली ला देने को कहा। किन्तु भक्त उनकी इस बात से सन्तुष्ट नहीं हुआ कि "यह क्रिया तो परम्परा से (पहले से) चली आ रही है। तुम्हें क्या पता, इससे ध्यान अच्छा लगता है।" उसने तर्क किया—"गुरुजी ! बिल्ली को बाधने और ध्यान लगाने का क्या सम्बन्ध है ? मेरी समझ में नहीं आता।" इस तरह कहकर उसने बिल्ली लाने से इन्कार कर दिया, फिर भी चेलाजी ने हठाग्रहवश पड़ोसी के यहाँ से बिल्ली लाकर बाधने की क्रिया चालू कर ही दी।"

यह है ज्ञानविहीन अन्ध क्रिया का नमूना। इसलिए क्रिया (चारित्र या कर्म) भी सम्यग्ज्ञान पूर्वक होनी चाहिए अन्यथा वह क्रिया या तो अनर्थकारी या निरर्थक सिद्ध होती है, या प्रदर्शनकारी हो जाती है।

कोरी भक्ति भी आत्मिक-विकास के लिए पर्याप्त नहीं—

अब रहा अकेली भक्ति का प्रश्न। यह भी मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। भक्ति का अर्थ भी कई लोग गलत समझते हैं—रातभर जागकर अपनी और दूसरों की नींद हराम करना, नाचना कूदना ताली बजाना तथा इन्द्रिय के आकर्षक विषयों की ओर खींचना, ये सब भक्ति के नाम पर अन्धभक्ति है। कबीर साहब ने भक्ति की सुन्दर परिभाषा दी है—

> भक्ति भगवत की बहुत बारीक है, सीस सौंप्या बिना भक्ति नाहीं
> नाचना-कूदना ताल का पीटना, रांडिया खेल का काम नाहीं
> कहत 'कबीर' सूरत-एकत्व है जीवता मरे सो ही अजर :

भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म प्राणहीन

हाँ, तो भक्ति क्या करती है? वह ज्ञान (वस्तुस्वरूप के यथार्थ बोध) पर श्रद्धापूर्वक समर्पण की मुहर छाप लगा देती है तथा कर्म (क्रिया या चारित्र) को भी तदनुसार प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। कोई भी कार्य करते समय उस कार्य के प्रति मनुष्य के मन में श्रद्धा-भक्ति न हो, तथा उसके वस्तुस्वरूप के बोध के प्रति यथार्थता का पक्का विश्वास न हो तब तक वह कार्य प्राणवान नहीं बनता। वैदिक दृष्टि से जब तक उस कार्य को परमात्मा के चरणों में समर्पित नहीं किया जाता, तथा ज्ञान को परमात्मा का अंश नहीं माना जाता, तब तक उस कार्य एवं ज्ञान में उत्साह, श्रद्धा, भक्ति आदि नहीं आती, उनमें से अहंकर्तृत्व छूटता नहीं। उस कार्य या ज्ञान में भक्ति के अभाव में मनुष्य राग-द्वेष, फलाकांक्षा, आसक्ति, अहं कर्तृत्व, स्वत्व मोह आदि के कारण नीरसता आ जाती है, नाना प्रकार के कर्मबन्धन होते रहते हैं। वह उस कर्म (चारित्र) या ज्ञान की आराधना से कर्मबन्धनों को काट (निर्जरा) करके मुक्ति की दिशा में दौड़ नहीं लगा सकता। इसलिए ज्ञान और कर्म (चारित्र) को शुद्ध बनाए रखने तथा उनमें स्पिरिट—शक्ति भरने हेतु भक्ति (श्रद्धा या दृष्टि) की नितान्त आवश्यकता है। भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म दोनों प्राणहीन हैं।

जीवनदीप जलाने के लिए ज्ञान-भक्ति-कर्म तीनों आवश्यक

दीपक को प्रज्वलित रखने के लिए जैसे तेल, बत्ती और अग्नि का प्रकटीकरण इन तीनों की जरूरत होती है, उसीप्रकार जीवन रूपी दीपक को प्रज्वलित रखने के लिए ज्ञानरूपी तेल, भक्तिरूपी बत्ती और कर्मरूपी अग्नि के प्रकाश की आवश्यकता है। दीपक में बत्ती लगादी जाए किन्तु तेल न हो तो वह जलेगा ही नहीं। इसी प्रकार 'जीवनप्रदीप' में भक्तिरूपी बत्ती हो, लेकिन ज्ञानरूपी तेल न हो, तो वह प्रज्वलित नहीं होता। इसी प्रकार तेल और बत्ती होने पर भी जब तक दीपक को दियासलाई जलाकर प्रज्वलित न किया जाय, तब तक वह प्रकाश नहीं दे सकेगा। इसलिए जीवन दीपक को प्रज्वलित करने के लिए ज्ञान और भक्ति के साथ-साथ कर्म (चारित्र) रूपी अग्नि प्रकाशन की जरूरत है।

तात्पर्य यह है कि दीपक को प्रकाशमान करने के लिए जैसे तेल, बत्ती और दियासलाई द्वारा अग्नि प्रकटीकरण की आवश्यकता है, वैसे ही आत्मा को प्रकाशमान करने के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्म की आवश्यकता है। तीनों में से एक भी न हो तो काम चल नहीं सकता। आत्मा को तेजस्वी एवं उज्ज्वल बनाकर मोक्ष की ओर द्रुतगति से प्रयाण करने के लिए ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों की सममात्रा में जरूरत होती है।

तीनों का सममात्रा में सेवन रोग मुक्ति के लिए

वर्तमान युग में मनुष्य की आत्मा बीमार है। उस बीमारी को मिटाने के लिए और किसी दवा से काम नहीं चलेगा। भक्ति, ज्ञान और कर्म का सममात्रा में

सेवन करने से ही व्यक्ति का जीवन स्वस्थ और रोगमुक्त बन सकता है। जैसे पीपरमेंट के फूल, अजवाइन के फूल और कपूर इन तीनों को समानमात्रा में मिलाया जाता है, तब तीनों मिलकर अमृतधारा बन जाती है, जो अनेक रोगों का निवारण करती है, वैसे ही ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों को सममात्रा में मिलाने से जीवन की अमृतधारा बनती है, जो आत्मा के भवभ्रमण रूप अनेक रोगों को समाप्त कर देती है। इस संजीवनी अमृतधारा के सेवन से मनुष्य कर्मों के रोग से या कर्मों के मूल स्रोत आश्रव, राग-द्वेष, विषय, कषाय आदि के रोगों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है।

त्रिमुखी साधना से आत्मिक रोग-मुक्ति

प्रश्न होता है, भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिपुटी या त्रिमुखी साधना से मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से या हिंसा आदि आश्रवों, कषाय, विषय, राग-द्वेष आदि विकारों या तज्जन्य कर्मों के रोग से कैसे मुक्त हो जाता है ? मैं इस प्रश्न का समाधान का प्रयत्न करूँगा—

सर्वप्रथम ज्ञान को ही लीजिए। मनुष्य को जब तक आश्रव-संवर, बंध और मोक्ष, हेय और उपादेय, हितकर-अहितकर, का भान नहीं होता, उसे यह ज्ञान नहीं होता कि मेरे लिए कौन-सी वस्तु कल्याणकर (श्रेयस्कर) है, और कौन-सी अकल्याण कर है, तब तक वह धर्म के नाम पर विविध क्रियाकाण्डों और हिंसा, असत्य आदि से मिश्रित आचरण को ही धर्म समझकर अँधेरे में गति करता रहेगा। उसमें भवभ्रमण की बीमारी घटने के बजाय बढ़ेगी। परन्तु जब व्यक्ति को आश्रव-संवर, बंध-मोक्ष हेयोपादेय आदि का सम्यग्ज्ञान हो जायगा, तब वह जो भी प्रवृत्ति मन से, वचन से, या काया से करेगा, उसमें त्याज्य एवं जन्म-मरण के चक्र को बढ़ाने वाली प्रवृत्ति से दूर रहेगा, लाचारी से या अन्य किसी कारणवश उसमें प्रवृत्त होने पर भी वह उसे समझेगा तो हेय ही, तथा उसके निवारण के लिए पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त, प्रत्याख्यान आदि करेगा। इस प्रकार ज्ञान मनुष्य में मोक्ष और संसार दोनों के पथ का प्रकाश कर देता है, प्रत्येक पदार्थ के वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान करा देता है, जिससे मनुष्य विवेक करके हेयमार्ग को छोड़कर उपादेय मार्ग को अपना सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—

> नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
> अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।

अर्थात्—ज्ञान समस्त वस्तुओं के यथार्थस्वरूप को प्रकाशित करने के लिए है, अज्ञान और मोह को मिटाने के लिए है।

अज्ञान के कारण मनुष्य प्रेय (सांसारिक विषयजन्य) वस्तु को श्रेय समझ लेता है, और श्रेय को कष्टकर एवं अरुचिकर समझता है। यह अज्ञान का ही कारण है, जिससे मनुष्य धर्म के नाम पर निरपराध निर्दोष जीवों का वध करता है, देवी-

भी भजन में सम्मिलित हुए। भजन गाते-गाते रतना ने एक नया भजन गाना शुरू किया—

'सीटें सीटें गड्ढे रे, मोसा सादामा छे सरवडिया।

अर्थात्—सवीर-सवीर जाना, और सवीर गम्य हो, वही एक गड्ढा है पानी से भरा हुआ, उसमें सरवडियें (मछलियाँ) हैं। पहले तो दोनों भक्तों के लड़के उनके इशारे में नहीं समझे, लेकिन जब दोनों ने बार-बार उसी लाइन को दोहराया, तो लड़कों के समझ में आ गया कि पिताजी मछलियाँ पकड़ के आने का संकेत कर रहे हैं।" दोनों ने सिर हिलाकर स्वीकृति-सूचक संकेत किया। अतः दूसरे भजन गाए। दूसरे ही दिन सुबह दोनों भक्तों के लड़के संकेत के अनुसार उस गड्ढे पर गए और जितनी मछलियाँ पकड़ सके, ले आए।

यह है अज्ञानमूलक भक्ति का परिणाम। भक्ति के साथ ज्ञान न हो तो परिणाम उलटा ही आता है।

यही बात कर्म (चारित्र) के साथ ज्ञान के न होने पर समझनी चाहिए। मनुष्य केवल शुष्क क्रियाकाण्ड से अपना कल्याण करना चाहता है, परन्तु सम्यक् ज्ञान के अभाव में उससे अज्ञान, मोह, धनासक्ति, दम्भ, प्रसिद्धि की लालसा, अन्य लौकिक कामनाएँ आदि बढ़ती हैं। आज तो मनुष्य थोथे क्रियाकाण्ड करता जाता है, लेकिन उससे जब कोई लौकिक आकांक्षा की पूर्ति नहीं होती तो वह उदास एवं निराश होकर उसे भी छोड़ बैठता है। वह इसकी खोज नहीं करता कि मेरी क्रिया का स्वरूप, विधि-विधान और उद्देश्य क्या है? इस क्रिया में कहीं त्रुटि तो नहीं हो रही है? बहुत-सी क्रियाएँ वह अन्धविश्वासपूर्वक रूढ़ि के तौर पर करता रहता है, ऐसी अज्ञान क्रियाओं से भला मुक्ति के द्वार कैसे खुल सकते हैं?

निष्कर्ष यह है कि भक्ति और कर्म के साथ ज्ञान होने से मनुष्य अपने द्वारा की ...ने वाली उस भक्ति में प्रविष्ट हो जाने वाले अविवेक, अज्ञान, मोह, अन्धविश्वास, ...ढ़, राग-द्वेष, कषाय हिंसा आदि आश्रवों को छोड़कर पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध भक्ति ...द्धा या सम्यग्दृष्टि) द्वारा कर्मों के रोगों का निवारण कर सकता है, जन्म-मरण के ...को काट सकता है। इसी प्रकार कर्म [क्रिया या सुचारित्र] के साथ प्रविष्ट हो ...वाले अहंकार, दम्भ, मोह, अविवेक राग-द्वेष, क्लेश, कदाग्रह आदि को ज्ञान-... सुचारित्र (कर्म या आचरण) पालन से साधक मुक्त हो सकता है, कर्मबन्धन काट ...है।

ज्ञान के साथ-साथ सम्यग्दृष्टि या सद्भक्ति का होना भी अत्यन्त आवश्यक है ...ज्ञान केवल बौद्धिक व्यायाम या वाणी-विलास बन कर न रह जाए, उसके साथ ... भी हो। ज्ञान आचरण (कर्म) के साथ संयुक्त होता है, तभी उस ज्ञान में ...आती है, तभी यह ज्ञान कृतकार्य, सार्थक एवं कर्मबन्धनों को काटने में ...ता है। अन्यथा, आचरण के बिना कोरा ज्ञान मनुष्य को तामसी या राजसी

बुद्धि से युक्त बना देता है। शुष्क तर्क और पाण्डित्य प्रदर्शन के अलावा उस ज्ञान से कोई लाभ नहीं हो सकता। आत्म-कल्याण के लिए सदाचरित्र या आचरण (कर्म) से रहित ज्ञान नपुंसक है, निष्फल है। जब मनुष्य के जीवन में श्रद्धाभक्ति या सम्यग्दृष्टि के साथ सम्यग्ज्ञान होता है, तो वह आचरण को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। अर्थात् चारित्र (या कर्म) उसके जीवन में देर-सबेर से आ ही जाता है। यह हो सकता है कि चारित्र-मोहकर्म के प्रबल उदय के कारण चारित्र देर से आए, अथवा देशचारित्र या मार्गानुसारी (नीतिमय) जीवन का आचरण आए। परन्तु इतना तो निश्चित है कि सम्यग्दृष्टि (सद्भक्ति) जब जीवन में ओतप्रोत हो जाती है तो उसका ज्ञान सम्यक् हो ही जाता है। उसके बाद वह जो भी कर्म (आचरण) करता है, व्रतनियमों का पालन करता है, वह उसके जीवन को क्रमशः उच्चभूमिका पर ले जाता है, वह अपने जन्म-मरणरूप संसार को भी कम कर देता है, उसका मोक्ष भी निश्चित हो जाता है।

यह है त्रिमुखी साधना का अनुपम फल! जब साधक के जीवन में यह त्रिमुखी साधना आ जाती है तो वह क्रमशः अपना आत्मिक विकास एवं आत्मिक शुद्धि करता हुआ एक दिन संसार सागर को पार करके मोक्ष के तट पर पहुँच जाता है।

इस त्रिमुखी साधना का अधिकारी प्रत्येक मनुष्य हो सकता है। आप भी इस त्रिमुखी साधना के द्वारा मोक्ष का दरवाजा खटखटा सकते हैं। प्रयत्न कीजिए, सफलता निश्चित है।

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य की वैचारिक अशुद्धि दूर करके उसे स्थायी शान्ति प्राप्त कराने हेतु पूर्वोक्त प्रकार से वैचारिक शुद्धि जरूरी है, जो इस प्रकार से विचार करने से ही हो सकती है। उलटी दिशा का विचार करने से, उद्देश्य-विहीन चिन्तन करने से, अथवा बिलकुल चिन्तन न करने से व्यक्ति की विचार शुद्धि नहीं होती, प्रत्युत विचारों में अशुद्धि आ जाती है। एक बार विचारों में अशुद्धि प्रविष्ट होने पर शुद्ध विचार की दिशा मिलनी कठिन हो जाती है। इसलिए विचार शुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक विकास के गगन में उड़ने के लिए सर्वप्रथम अपने आपको जानना आवश्यक है।

तीसरा कारण : शरीर और आत्मा के पृथक्-करण हेतु

अपने आपको जानने की प्रेरणा का तीसरा कारण है—शरीर और आत्मा के पृथक्करण की आदत डालना।

आज अधिकांश मनुष्यों की यही स्थिति है कि वे शरीर और आत्मा को एक मानते हैं। कदाचित् किसी ग्रन्थ में लिखे अनुसार वे तोतारटन कर भी लेते हैं, व्याख्यान में गर्ज कर कह भी देते हैं कि शरीर और आत्मा अलग-अलग हैं परन्तु जब कभी व्यवहार का प्रश्न आता है या काया और आत्मा को अलग करने की परिस्थिति उपस्थित होती है, तब वे लड़खड़ा जाते हैं। तब वे पैंतरे बदलते नजर आते हैं। वे आत्मा को पृथक् मान कर भी शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तु धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, परिवार अथवा अपने माने हुए लोगों को ही—महत्त्व देते हैं। उसी को सर्वस्व समझते हैं। उस समय आत्मा को ताक में रख कर शरीर को ही सर्वेसर्वा जानते-मानते हैं। इसी कारण तो आचार्य अमितगति को भी सामायिक साधकों के लिए सामायिक पाठ में परमात्मा से प्रार्थना करनी पड़ी—

> 'शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
> जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥

—हे जिनेश्वर देव ! आपकी कृपा से मुझमें ऐसी शक्ति पैदा हो जाय जिससे मैं निर्दोष, शुद्ध, निर्विकारी अनन्तशक्तिमान आत्मा को शरीर से उसी प्रकार पृथक् कर सकूं, जैसे तलवार म्यान से अलग की जाती है।

कितनी सुन्दर भावना है ? क्या शरीर और आत्मा को पृथक् करने की भावना उन व्यक्तियों को आ सकती है जो आत्मा को अपने असली स्वरूप में जानने के लिए शरीर और आत्मा को पृथक् करने का कभी विचार ही नहीं करते ? जो रात-दिन शरीर को सजाने, संवारने, पुष्ट करने और उसी को पपोलने में लगे रहते हैं, शरीर के लिए हिंसा, झूठ आदि नाना पाप उपार्जन करते रहते हैं, शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों का ही जो अहर्निश चिन्तन करते रहते हैं, क्या उन लोगों को शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझने का विचार आ सकता है ? इसके अतिरिक्त एक ओर मेरा अकेला आत्मा है और दूसरी ओर आत्मा के अतिरिक्त समस्त

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य की वैचारिक अशुद्धि दूर करके उसे स्थायी शान्ति प्राप्त कराने हेतु पूर्वोक्त प्रकार से वैचारिक शुद्धि जरूरी है, जो इस प्रकार से विचार करने से ही हो सकती है। उलटी दिशा का विचार करने से, उद्देश्य-विहीन चिन्तन करने से, अथवा बिलकुल चिन्तन न करने से व्यक्ति की विचार शुद्धि नहीं होती, प्रत्युत विचारों में अशुद्धि आ जाती है। एक बार विचारों में अशुद्धि प्रविष्ट होने पर शुद्ध विचार की दिशा मिलनी कठिन हो जाती है। इसलिए विचार शुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक विकास के गगन में उड़ने के लिए सर्वप्रथम अपने आपको जानना आवश्यक है।

तीसरा कारण : शरीर और आत्मा के पृथक्-करण हेतु

अपने आपको जानने की प्रेरणा का तीसरा कारण है—शरीर और आत्मा के पृथक्करण की आदत डालना।

आज अधिकांश मनुष्यों की यही स्थिति है कि वे शरीर और आत्मा को एक मानते हैं। कदाचित् किसी ग्रन्थ में लिखे अनुसार वे तोतारटन कर भी लेते हैं, व्याख्यान में गर्ज कर कह भी देते हैं कि शरीर और आत्मा अलग-अलग है, परन्तु जब कभी व्यवहार का प्रश्न आता है या काया और आत्मा को अलग करने की परिस्थिति उपस्थित होती है, तब वे लड़खड़ा जाते हैं। तब वे पैंतरे बदलते नजर आते हैं। वे आत्मा को पृथक् मान कर भी शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तु धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, परिवार अथवा अपने माने हुए लोगों को ही—महत्त्व देते हैं। उसी को सर्वस्व समझते हैं। उस समय आत्मा को ताक में रख कर शरीर को ही सर्वेसर्वा जानने-मानते हैं। इसी कारण तो आचार्य अमितगति को भी सामायिक साधकों के लिए सामायिक पाठ में परमात्मा से प्रार्थना करनी पड़ी—

> 'शरीरतः कर्तुमनन्तशक्ति, विभिन्नमात्मानमपास्तदोषम् ।
> जिनेन्द्र ! कोषादिव खड्गयष्टिं तव प्रसादेन ममास्तु शक्तिः ॥

—हे जिनेश्वर देव ! आपकी कृपा से मुझमें ऐसी शक्ति पैदा हो जाय जिससे मैं निर्दोष, शुद्ध, निर्विकारी अनन्तशक्तिमान आत्मा को शरीर से उसी प्रकार पृथक् कर सकूं, जैसे तलवार म्यान से अलग की जाती है।

कितनी सुन्दर भावना है ? क्या शरीर और आत्मा को पृथक् करने की भावना उन व्यक्तियों को आ सकती है जो आत्मा को अपने असली स्वरूप में जानने के लिए शरीर और आत्मा को पृथक् करने का कभी विचार ही नहीं करते ? जो रात-दिन शरीर को सजाने, संवारने, पुष्ट करने और उसी को पपोलने में लगे रहते हैं, शरीर के लिए हिंसा, झूठ आदि नाना पाप उपार्जन करते रहते हैं, शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों का ही जो अहर्निश चिन्तन करते रहते हैं, क्या उन लोगों को शरीर और आत्मा को अलग-अलग समझने का विचार आ सकता है ? इसके अति-रिक्त एक ओर मेरा अकेला आत्मा है और दूसरी ओर आत्मा के अतिरिक्त

हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरी यह स्थिति किस कारण से हुई है ? अब मुझे क्या करना चाहिए ? मुझे अब कहाँ जाना है ? वह न तो तदनुरूप सुविचार कर सकता है और न ही तदनुरूप मोक्ष का उपायभूत आचरण कर सकता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पालन द्वारा आत्मविकास की उच्चश्रेणी पर क्रमशः आरूढ़ होने के लिए सबसे पहला सोपान अपने आपको जानना-समझना है।

अपने आपको समझना : सम्यग्दृष्टि का लक्षण

सम्यग्दर्शन के बाह्य लक्षण शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था है, लेकिन आन्तरिक लक्षण सिर्फ एक ही है—स्व-पर का स्वरूप भली भाँति समझ कर स्व-स्वरूप में रमण करना। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि का वास्तविक लक्षण अपने आप को समझना है। और जब आध्यात्मिक पुरुषों द्वारा यह कहा जाता है कि अपने आपको समझो तब प्रकारान्तर से उसका तात्पर्य यही होता है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करो, ताकि तुम्हारा ज्ञान सम्यक् हो सके और चारित्र सम्यक् हो सके। क्योंकि इस प्रकार का सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर उसके हृदय में यह स्फुरणा अवश्य पैदा होगी—

> 'सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसार-कान्तार निपातहेतुम्।
> विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो, निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥'

—हे आत्मन् ! आत्मा के अतिरिक्त (परभावों के) ये सब जो संसार रूपी ...टवी में डालने के कारण रूप विकल्प जाल हैं, इन्हें मिटाकर, तथा आत्मा को इन से ...क् समझते हुए तू परमात्मतत्त्व में लीन होगा। यही संसार रूपी जंगल में भ्रमण ... बचने का उपाय है।

अपने आपको समझने का भ्रम

कई लोग अपने आपको गलत रूप में समझ लेते हैं। जैनदर्शन निश्चय ... व्यवहार दोनों दृष्टियों से वस्तुस्वरूप समझाता है। सामान्य जन या तो ...नयदृष्टि से आत्मा को एकान्तरूप से अविनाशी, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अशोष्य ... लेता है। अथवा व्यवहारदृष्टि से उसे शरीर के साथ ही सर्वथा नष्ट हो जाने ... मानता है, या पंचभौतिक मान लेता है, किन्तु दोनों दृष्टियों से अपने आपके ...विक स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाता। यही कारण है, ऐसे व्यक्ति एकान्त रूप ... ही दृष्टि को पकड़ कर चलते हैं और भ्रान्ति में पड़े रहते हैं। एकान्त निश्चय-... अपने आपको समझने का उपक्रम करने वाले स्वयं को शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानमय, ...शक्तिमय मान लेते हैं, जबकि उनकी आत्मा राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, क्रोध ...षाय तथा विषयासक्ति आदि अनेक विकारों से ग्रस्त रहते हैं। वे यह मान ...कि आत्मा तो सर्वथा निराहारी है, वह कभी खाती-पीती नहीं, वह जलती नहीं, ...ही, सूखती नहीं और न ही वह कभी नष्ट होती है। परन्तु ये निश्चयनय की ...न बघारने के लिए ही होती है। जब असलियत सामने आती है, तब उनकी

हो सकता। कई लोग निश्चयदृष्टि को पचाते नहीं। वे व्यवहार के साथ निश्चय का तालमेल भी नहीं बिठा सकते। वेदान्तियों की तरह ऐसे निश्चयदृष्टि वाले लोग जीवन में अपने आपको शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानमय, विकारमुक्त और विषयकषायमुक्त समझ बैठे हैं। नतीजा यह होता है कि निश्चयदृष्टि से आत्मा के स्वरूप का वे इतना अधिक मोहावरण कर लेते हैं कि उनकी आँखें सिर्फ आसमान की ओर रहती हैं। वे पैर के नीचे की धरती नहीं देख सकते। उन्हें निश्चयज्ञान का इतना अधिक अहंकार हो जाता है कि अपने सामने वे व्यवहार-निश्चय दोनों का सामञ्जस्य बिठाने वाले सम्यग्ज्ञानी विद्वान को अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि समझते हैं। किन्तु वस्तुतः उन्हें सम्यग्ज्ञान है ही नहीं, अपितु ज्ञान का अजीर्ण है। निश्चयज्ञान उन्हें पचा नहीं।

उनसे पूछा जाय कि जब तुम्हारी या सबकी आत्मा शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानमय, विकारमुक्त एवं विषय-कषाय रहित है, तब उसके लिए सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना करने की जरूरत ही क्या है? साधु या श्रावक बनने या व्रतों या महाव्रतों का पालन करने की क्या जरूरत है?

एक निश्चयनयवादी वैद्य है, वह अगर आने वाले प्रत्येक रोगी से यह कहता रहे कि "तू तो रोगी है ही नहीं। तू बिलकुल रोगमुक्त, निर्विकार एवं स्वस्थ है।" तो क्या उस रोगी को पागल कुत्ते ने काट खाया है कि वह उस वैद्य से चिकित्सा कराए। फिर कोई भी रोगी उस वैद्य के पास फटकेगा ही क्यों?

इसी प्रकार जो आत्मा वर्तमान में विषय-कषाय के विकारों से ग्रस्त है, अज्ञान, मोह, राग-द्वेष आदि से युक्त है, वह जब निश्चयनयवादी के पास जाता है और उससे सिर्फ निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का उपदेश सुनकर उसे ही घोटता रहता है और उसके दिमाग में जब यह बात ठस जाती है कि तू तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, निष्पाप आदि है, तुझे भवभ्रमण का या विषय-कषायों का रोग है ही नहीं, तो भला वह क्यों निश्चयवादी से ज्ञान लेने आएगा, क्यों वह विषय-कषायादि रोगों से या विकारों से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप औषध लेगा—यानी क्यों वह उपर्युक्त विकारों या दोषों को मिटाकर आत्मा को शुद्ध, निष्पाप एवं निर्विकार बनाने की साधना करेगा? उसे क्या जरूरत है, फिर इस खटपट में पड़ने की?

यही कारण है कि पूर्वोक्त एकान्त निश्चयवादियों के चक्कर में पड़े हुए अधिकांश लोग प्रायः आत्मा का निश्चयदृष्टि से स्वरूप का ज्ञान बघारते रहते हैं, उन्हें आत्मज्ञानी होने का भ्रम हो जाता है, किन्तु ऐसे लोगों का जीवन प्रायः नीति, न्याय, मानवता, व्यावहारिक धर्म से शून्य रहता है। वे व्यापार में तस्करी, कालाबाजार, अन्याय, अप्रामाणिकता, अनीति, ठगी आदि को नहीं छोड़ते; उनके जीवन में रूखापन, स्वार्थ, गुमानिता आदि दोष आ जाते हैं, जिससे वे व्यवहार में दया, सहानुभूति, सेवा, मानवता आदि को भी ताक में रख देते हैं। 'ऊँची दुकान और फीके पकवान' की

कहलाकर ऐसे ही लोगों पर कल्पनाएँ होती हैं। वे लोग तत्त्वज्ञ बनते हैं, लेकिन व्यक्ति को आत्मविकास का पथ नहीं मानते। वे मानते हैं, केवल शरीर का धर्म अथवा केवल पुण्य। इन्हें धर्म नहीं मानते। परिणाम यह होता है कि उनके जीवन में कई बड़े घोटाले होते हैं।

मैंने संस्कृत पढ़ाने वाले पण्डितजी से एक सच्ची घटना सुनी थी। एक सनातनी भाई थे। उनके पास धन था, और एक वेदान्ती से उन्होंने गीता का अध्ययन किया था। किन्तु गीता में वर्णित परमार्थ और व्यवहार दोनों का सामंजस्य वे नहीं बिठा सकते थे। वे गीता के परमार्थसार को पकड़ कर चलते थे। उनके पड़ोस की एक स्त्री से उनका प्रेम हो गया। उसकी पत्नी मर चुकी थी। इसलिए उस विधवा स्त्री के प्रति उनकी इच्छा बढ़ने लगी। लोगों को उनके अनाचार का पता लगा। कुछ लोग उन्हें धनाढ्य होने के कारण कुछ नहीं कह सकते थे। कुछ उनसे डरते थे। लेकिन कुछ लोगों ने उनसे कहा—"आप इतने तत्त्वज्ञानी होकर भी ऐसा अनाचार करते हैं ?" तो उन्होंने तपाक से कहा—'इसमें क्या अनाचार हो गया ? गीता में स्पष्ट कहा है—

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।'

अर्थात्—इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्त होती हैं, इस प्रकार की धारणा करता हुआ आत्मा विषयों से निर्लिप्त रहता है, उसे अहंकर्तृत्व का अभिमान नहीं रहता।

मैं भी तो यही समझकर चलता हूँ कि इन्द्रियाँ इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं, इसमें मेरा क्या दोष ?"

उक्त भाइयों ने उन्हें फटकारते हुए कहा—'आपको तत्त्वज्ञान का अजीर्ण हो गया है। व्यवहार में आपकी यह परमार्थदृष्टि नहीं चल सकती। कानून आपके परमार्थ को न मानकर व्यवहार से आपको अपराधी सिद्ध कर देगा।"

इस पर भी वे माने नहीं। आखिर उस अनाचार का भण्डाफोड़ हुआ सरकार ने उन्हें अपराधी ठहरा कर जेल में ठूँस दिया।

यह भी एकान्त परमार्थदृष्टि का दुरुपयोग है, जिसके कारण व्यक्ति अपने आपको समझ लेने की भ्रान्ति में पड़कर उलटे आचरण करता है।

एकान्त व्यवहारदृष्टि से भी अपने आपको समझना दुष्कर

इसी प्रकार एकान्ततः व्यवहारदृष्टि से भी व्यक्ति का आत्मविकास रु जाता है। या तो वह पुण्य कार्यों (सराग दृष्टियुक्त दानादि धर्मकार्यों) को स कुछ समझकर स्वर्गवाद के चक्कर में पड़ जाता है। अपने मूल लक्ष्य—कर्ममुक्ति कषायमुक्ति को भूल जाता है। अथवा वह शरीर को आत्मा समझकर ऐश-अ आराम, येन-केन-प्रकारेण धनार्जन तथा स्वार्थवश आरम्भ-परिग्रह के सब कुछ इस

करता रहता है, उसको अपने आपके स्वरूप का यथार्थभान ही नहीं होता, उसकी बुद्धि पर भौतिकवाद का इतना कोहरा छा जाता है कि अध्यात्मवाद या आत्मविकास की ओर उसकी आँख ही नहीं खुलने पाती। अमेरिका आदि भौतिकवाद में डूबे हुए पाश्चात्य-देशों का उदाहरण हमारे सामने है। उन्हें अपनी शारीरिक सुख-सुविधा, भोगोपभोग एवं ऐश-आराम से जरा भी फुरसत नहीं है। उन्हें अपने शरीर या अधिक से अधिक तो अपने परिवार से आगे सोचने का अवकाश नहीं होता। न उन्हें अपने पड़ोसी, ग्राम, नगर या प्रान्त के लोगों का ध्यान रहता है, न उन्हें अपने धर्मसम्प्रदाय के लोगों का ही कोई विचार होता है। हाँ, राष्ट्रप्रेम के नाम पर जरूर वे दीवाने होते है, लेकिन उनका राष्ट्रप्रेम दूसरे राष्ट्रों के प्रति द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, अभिमान, विरोध आदि पर प्रायः आधारित होता है। वे दूसरे राष्ट्रों की उन्नति को फूटी आँखों नहीं देख सकते। अतः उनका वह तथाकथित राष्ट्रप्रेम, आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान की नींव पर खड़ा नहीं होता। इसी कारण वे अपने आपको यथार्थरूप में समझ नहीं पाते। यद्यपि अब बहुत-से लोग भौतिकवाद से ऊबने लगे हैं। कतिपय लोग हिप्पी बनकर हिन्दुस्तान में अध्यात्म की खोज में आते हैं। बहुत-से लोग भारतीय योग-विद्या के शौकीन हैं। वे आत्मिक शान्ति की खोज में भारत की यात्रा करते भी हैं। किन्तु तथाकथित विभिन्न सम्प्रदायवादी लोग उन्हें आत्मा का विशुद्ध स्वरूप न बताकर साम्प्रदायिक चक्कर में फँसा देते हैं, या योगसाधना के आडम्बरों या चमत्कारों के भँवर जाल में डाल देते हैं जिनसे न तो आत्मकल्याण होता है, न आत्मविकास और आत्मशान्ति ही। केवल कुछ हठयौगिक क्रियाएँ उनके पल्ले पड़ जाती हैं। कुछ छोटे-छोटे चमत्कारों से वे प्रभावित हो जाते हैं।

अपने आपको समझने का यथार्थ उपाय

निष्कर्ष यह है कि अपने आपको समझने के लिए न तो एकान्त निश्चय दृष्टि को पकड़ने की आवश्यकता है और न ही एकान्त व्यवहारदृष्टि से चलने की आवश्यकता है। किन्तु निश्चयदृष्टि के अनुसार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझकर व्यवहारदृष्टि से वर्तमान में शरीर-सम्बद्ध आत्मा जिस भूमिका पर है, उसके साथ सामञ्जस्य बिठाकर प्रगति करनी चाहिए। तभी अपने आपको ठीक रूप में समझने का अभ्यास होगा और तभी व्यक्ति उस भूमिका से आगे आत्मिक-विकास की दृष्टि से ऊर्ध्वारोहण कर सकेगा।

अपने आपको समझे बिना लगाई हुई दौड़

अब आप सभी से मेरा यह निवेदन है कि आप निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से अपनी (मनुष्य रूप में) वास्तविक स्थिति को देखें-परखें और तब आत्म-विकास के क्रम में आगे बढ़ें। पहले अपने आपको समझे बिना यों ही दौड़ लगाने लगेंगे तो वह केवल क्रियाकाण्डों की अन्धी दौड़ होगी, जिसमें न तो आत्मा की शुद्धि होगी, न विकास ही, फलस्वरूप उसमें निराशा ही पल्ले पड़ेगी। मनुष्य दौड़ता-दौड़ता हाँफ

कर थककर निराश-हताश होकर बैठ जाएगा। इसीलिए अध्यात्ममनीषी पुकार-पुकार कर कहते हैं—सर्वप्रथम अपने आपको समझो, फिर आत्मविकास की दिशा में दौड़ लगाओ। अन्यथा, आप दौड़ लगाते हुए प्रतीत होंगे, लेकिन आत्मा आपकी वहीं की वहीं होगी, आगे विकास नहीं कर सकेगी।

मथुरा के दो चौबे सन्ध्यासमय भांग का नशा करके मथुरा से गोकुल जाने के लिए यमुना तट पर आए। वहाँ उनकी नौका खड़ी थी। वे उसमें बैठे और डांड चलाने लगे। अपना पूरा जोर लगाकर वे नौका चलाने के लिए डाँड मारने लगे। नौका हिलती हुई नजर आती थी, इसलिए चौबेजी समझ रहे थे कि नौका तेजी से आगे बढ़ रही है। उन्हें भांग के नशे में कुछ भी भान नहीं रहा। इस तरह रातभर वे दोनों डांड चलाते रहे। सुबह उनका नशा कम हुआ। घाट पर स्नान करने के लिए आए हुए लोगों से उन्होंने पूछा—"भैया! गोकुल अब कितनी दूर है?" लोगों ने चौंककर कहा—ऐं! क्या कहते हैं? अभी तो आप मथुरा के घाट पर ही खड़े हैं। चौबेजी का नशा उतरा। उन्होंने नौका से उतर कर देखा तो नौका अभी तक किनारे के खूंटे से बंधी हुई थी। लंगर खोली नहीं गई थी। इसी कारण नौका हिलती हुई जरूर नजर आती थी, लेकिन खड़ी जहाँ की तहाँ थी! वह गोकुल कैसे पहुंचती?

इसी प्रकार एकान्तवादी तत्त्वज्ञानी या एकान्त व्यवहारदृष्टि वाले लोग एकान्त तत्त्वज्ञान या एकान्त व्यवहारदृष्टि के नशे में बेसुध होकर अपनी आत्मारूपी नौका की गति-प्रगति की वास्तविक स्थिति को नहीं देख पाते। वे उन भंगेड़ी चौबों की तरह अपने रटरटाए आत्मज्ञान की या अपनी एकान्त व्यवहार दृष्टि की डांड खूब जोर-शोर से चलाते हैं और यों समझने लगते हैं कि हमारी आत्मनौका बहुत गति-प्रगति (विकास) कर रही है। उन्हें एकान्त तत्त्वज्ञान या एकान्त व्यवहारदृष्टि के नशे में कुछ भी भान नहीं रहता कि उनकी आत्मनौका जहाँ की तहाँ है, विषय-कषायादि विकारों के खूंटे से बंधी हुई है। वह लंगर जब तक खोली नहीं जाएगी और एकान्तवाद का नशा जब तक नहीं उतरेगा, तब तक उन्हें अपने आप का सही भान नहीं होगा। जिस दिन उन्हें अपने आपका सही भान हो जाएगा, उस दिन वे एकान्तवाद की लंगर खोलकर यथार्थ रूप से निश्चय-व्यवहार की डांड चलाकर आत्मनौका को गन्तव्य की ओर बढ़ा सकेंगे।

बन्धुओ! सर्वप्रथम अपने आपको समझने का मेरा अनुरोध इसीलिए है। आशा है, आप मेरे आशय को समझ गये होंगे। □

६

महामंत्र नवकार : जपविधि और फलश्रुति

धर्म-प्रेमी बन्धुओ, माताओ और बहनो !

आज मैं आपके समक्ष आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा तक पहुँचने और आत्म-विशुद्धि करने के रामबाण उपाय के सम्बन्ध में चर्चा करूँगा।

आप जानते ही हैं कि आत्मा में अनादिकाल से अशुभ संस्कारों और वासनाओं की परतें जमी हुई हैं, उन परतों को उखाड़कर उनके बदले शुभसंस्कारों को प्रतिष्ठित करना अत्यावश्यक है। शुभसंस्कारों की आत्मा में प्रतिष्ठा होने पर ही आत्मा की विशुद्धि हो सकती है। शुभसंस्कारों को आत्मा में प्रतिष्ठित करने के लिए जप-अतीव प्रभावशाली है। जप से चित्त में एकाग्रता होती है, एक ही मन्त्र का बार-बार रटन होता है, मन में उस मन्त्र का अर्थ और माहात्म्य गूँजता रहता है। इस प्रकार जप से पुराने अशुद्ध संस्कार आत्मा में से निकल कर नये शुद्ध संस्कार जम जाते हैं। हमारे प्राचीन आचार्य इस सम्बन्ध में एक उदाहरण दिया करते हैं—लट और भ्रमरी का। भ्रमरी लट को अपने बनाये हुए मिट्टी के घरौंदे में ले जाती है और फिर उसके सामने सतत गुंजार करती है। इसके फलस्वरूप लट भ्रमरी का सतत गुंजार सुनने से अपना शरीर छोड़ते ही पूर्वकालीन प्रबल संस्कारों के कारण भ्रमरी बन जाती है। इसी प्रकार सतत नियमित जाप के प्रबल संस्कारों के कारण मनुष्य तन्मय हो जाता है, आत्मा से महात्मा बन सकता है और महात्मा से परमात्मा भी बन सकता है। इसीलिए कहा है—

'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः।'

अर्थात् जप से सिद्धि होती है, जप से सिद्धि होती है, और निःसन्देह जप से ही सिद्धि होती है।

एक अनुभवी साधक ने इसी कारण जाप करने की प्रेरणा दी है—

स्थिर मन से सारे जाप करो। नवकार मंत्र का जाप करो !
अन्तर मन के सब पाप हरो, नवकार मंत्र का जाप करो।
सब ऋद्धि-सिद्धि का मूल यही, भव जल-निधि का है कूल यही
समता-शान्ति का फूल यही, निज आत्मा से आलाप करो
नवकार मंत्र का जाप करो !

धर्म का बीज, अतः न, धर्म का बीज-वपन है। धर्मधुरन्धरों के गुण ग्रहण तथा उन्हें वन्दना-नमस्कार है। इसलिए नमो पद मंत्रशास्त्र, धर्मशास्त्र और तत्त्वशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त रहस्यमय है।

धर्मशास्त्र की दृष्टि से नमो पद विनय का बीज है, जिसका परम्परागत फल मोक्ष है। भगवती सूत्र में यह बात स्पष्ट कही गई है कि विनय का फल शुश्रूषा है, शुश्रूषा का फल श्रुतज्ञान की प्राप्ति, श्रुतज्ञान प्राप्ति का फल आस्रवनिरोध, आस्रवनिरोध का फल संवरप्राप्ति, संवरप्राप्ति का फल तप, तप का फल कर्मनिर्जरा, कर्मनिर्जरा का फल क्रियानिवृत्ति और उसका फल योगों का निरोध, और योगनिरोध का फल भवपरम्पराक्षय है और भवपरम्पराक्षय का फल मोक्ष है। इस प्रकार नमो पद का सूचक विनय मोक्षरूप का कारण है।

मंत्रशास्त्र की दृष्टि से नमो पद शुद्धि का बीज है। अर्थात् मन-वचन-काया की शुद्धि करने में अत्यन्त उपयोगी है। मंत्रशास्त्र की दृष्टि से नमो शब्द शान्तिक और पौष्टिक कर्म को सिद्ध करने वाला है। अर्थात् नमो शब्द के बार-बार उच्चारण से अन्तर में शान्ति उत्पन्न होती है, साथ ही आत्मगुणों की पुष्टि और वृद्धि होती है।

'नमः' शब्द का उल्टा होता है 'मनः'। इसका अर्थ होता है—बहिर्मुखी मन को अन्तर्मुखी करना। तभी नमः पद प्रगट होगा।

इसके अतिरिक्त नमस्कार महामंत्र में जिन पंचपरमेष्ठीदेवों को नमन किया जाता है, उनके गुणों की अनुमोदना है। इस कारण नमः पद के बार-बार श्रद्धापूर्वक उच्चारण से पंचपरमेष्ठीदेवों के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित होता है। साधक इस महामंत्र में 'नमो' पद के उच्चारण के साथ पंचपरमेष्ठी देवों के विचार और आचार का भी तादात्म्य साध लेता है। और यह चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा में पंच-परमेष्ठी देवों के महाविद्युत् का प्रवाह बह रहा है। पंचपरमेष्ठी मंत्र के नमो पद का रटन लगते ही साधक की आत्मा में प्रकाश भर जाता है। इस मंत्र-जाप द्वारा की गई अनुमोदना नमस्कार की प्राथमिक भूमिका है, जबकि सर्वसमर्पणभाव भावनमस्कार की पराकाष्ठा है। अनुमोदना का सम्बन्ध केवल बाह्यमन के साथ तो है ही, किन्तु अन्तरंग मन के साथ विशेषरूप से है।

फिर नमस्कार महामन्त्र में 'नमो' शब्द का ६ बार उच्चारण होता है, उसके ६ रहस्यार्थ हैं—

(१) विशुद्ध मन का नियोजन,
(२) मन का शुद्ध प्रणिधान—एकाग्रता,
(३) विषय कषाय से निवृत्ति,
(४) सांसारिक भावों में दौड़ते मन को रोकना,
(५) सर्वसमर्पण भाव,
(६) श्रद्धा-भक्ति, बहुमान तथा प्रमोद भावना की अभिव्यक्ति।

इसलिए पापनाश का मतलब पाप बीज, अनात्मसमदर्शित्व का नाश और मंगलागमन का अर्थ परमात्मपदसमदर्शित्व की प्राप्ति समझना चाहिए। दोनों प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए पहले महामंत्र के जाप द्वारा निश्चित करके विधिपूर्वक आराधना करनी चाहिए। तभी इसका सच्चा फल प्राप्त हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि नमस्कार महामंत्र (१) कृतज्ञता गुण का प्रतीक है, (२) परोपकारगुण का आदर्श है, (३) सब जीवों के प्रति आत्मसमदर्शित्व भाव को जगाना है, और (४) परमात्म-समदर्शित्व का उद्बोधक है।

नवकार महामंत्र की महिमा के सम्बन्ध में एक कवि के मनोहर विचार संगीत में सुनिए—

नवकार मंत्र है, महामंत्र, इस मंत्र की महिमा भारी है।
आगम में कथी, गुरुवर से सुनी, अनुभव में जिसे उतारी है ॥ध्रुव॥

'अरिहंताणं' पद पहला है, अरि को अति दूर भगाता है।
'सिद्धाणं' सुमिरन करने से, मनवांछित सिद्धि पाता है।
'आयरियाणं' तो अष्टसिद्धि नवनिधि के भण्डारी है ॥नव०॥१॥

'उवज्झायाणं' अज्ञानतिमिर हर ज्ञानप्रकाश फैलाता है।
'सव्वसाहूणं' सब सुखदाता, तन-मन को स्वस्थ बनाता है।
पद पांचों के सुमिरन करने से, मिट जाती सकल बीमारी है ॥नव०॥२॥

श्रीपाल, सुदर्शन, मयणरेहा जिसने भी जपा, आनन्द पाया।
जीवन के सूने पतझड़ में, फूल खिले सौरभ छाया।
मन नन्दन वन में रमण करे, यह ऐसा मंगलकारी है ॥नव०॥३॥

नित्य नई बधाई कान सुने, लक्ष्मी वरमाला पहनाती।
'अशोकमुनि' जय-विजय मिले, शान्ति प्रसन्नता बढ़ जाती।
सम्मान मिले, सत्कार मिले, भवजल से नैया तारी है ॥नव०॥४॥

यह तो हुआ नमस्कार महामन्त्र का माहात्म्य समन्वित आन्तरिक स्वरूप! अब जरा नमस्कार महामंत्र के बाह्य स्वरूप पर विचार कर लें। नमस्कार महामंत्र का बाह्य शाब्दिक रूप इस प्रकार है—

नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्वसाहूणं।

अर्थात्—अरिहन्तों को नमस्कार हो सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में समस्त (सर्व) साधुओं को नमस्कार हो।

अरिहन्त का अर्थ—'अरि' शत्रु को कहते हैं। कोई बाह्य शत्रु अरिहन्तों (वीतराग महापुरुषों) के नहीं होते। क्योंकि वे राग और द्वेष से मुक्त होते हैं। उनका न तो किसी के प्रति राग होता है और न ही किसी के प्रति द्वेष। अगर अरिहन्ता के कोई शत्रु होता तो उसके प्रति द्वेष, घृणा आदि विकार भाव होता। परन्तु ऐसा विचार उनमें कदापि नहीं आता। वे अपनी आत्मा के अन्तरंग शत्रुओं से जूझते हैं, और एकदिन उन शत्रुओं को परास्त कर देते हैं। आप कहेंगे, वे अन्तरंग शत्रु कौन-कौन-से हैं, जो आत्मा पर हावी हो जाते हैं? वे हैं—राग, द्वेष, काम, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकार अथवा इन रागादि से जनित कर्मबन्धन! हाँ तो, इस अरिदल का जो हनन करते हैं, अपनी साधना से जो सफाया कर देते हैं, वे अरिहन्त कहलाते हैं।

अरिहन्त, अर्हन्त, अरहन्त और अरुहन्त ये चार रूप प्रथम परमेष्ठी के प्रसिद्ध हैं। इनका क्रमशः अर्थ होता है—कर्म या रागद्वेषमोहादि शत्रुओं के नाशक, वन्दन-नमस्कार के या पूजा-सत्कार के योग्य, जिनसे कोई भी रहस्य छिपा (रह) नहीं पाती जो सर्वज्ञ या केवलज्ञानी है, तथा संसार में पुनः न पैदा होने वाले हैं। इनके तीर्थंकर, पुरुषोत्तम आदि अनेक नाम भी प्रचलित हैं। अरिहन्तों में दानान्तराय आदि ५, हास्य आदि ६, राग, द्वेष, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान, निद्रा एवं अविरति, ये १८ दोष नहीं होते। अरिहन्त साकार ईश्वर हैं। साकार के द्वारा निराकार ईश्वर का बोध होता है। तीर्थंकरों में आठ महाप्रातिहार्य तथा ज्ञानातिशय, वचनातिशय, अपायापगमातिशय एवं पूजातिशय ये १२ गुण होते हैं। ३४ अतिशय भी होते हैं।

बीस स्थानकों की उत्कृष्ट हार्दिक भावों से आराधना करने से अरिहन्त या तीर्थंकर पद के अधिकारी होते हैं। ये चार घाती कर्मों का क्षय कर देते हैं, किन्तु चार अघाती कर्म शेष रहते हैं।

सिद्धपद का अर्थ—यह निरंजन, निराकार, अशरीरी, मुक्त परमात्मा का सूचक पद है। सिद्ध का मतलब है—आठों कर्मों का क्षय करके जो पूर्णरूप से शुद्ध निर्मल बुद्ध एवं समस्त कार्य सिद्ध करके कृत-कृत्य हो चुके हैं। वे ज्योति में ज्योति मिल जाने की तरह परमात्म पद में लीन हो चुके हैं। वे जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, कर्म, काया, मोहमाया आदि सबसे सर्वथा रहित हैं। वे पुनः संसार में जन्म मरण नहीं करते। अक्षय एवं शाश्वत स्थान में सिद्धि गति में विराजमान हो जाते हैं। वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख, अव्याबाध, अमूर्त (अरूपी), अगुरुलघु, अटल अवगाहना, इन ८ परमगुणों से सुशोभित होते हैं।

सिद्धात्मा में समस्त लोक को हिला देने की शक्ति होती है। पर वे ऐसा करते नहीं।

आचार्यपद का अर्थ—आचार्य तीर्थंकरो की अनुपस्थिति में सघ के नायक होते हैं। सघ सचालन का सारा भार उन्हीं पर होता है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ के वे व्यवस्थापक होते हैं। वे ३६ गुणो से युक्त होते हैं—पांचों महाव्रतो से युक्त, ज्ञानादि ५ प्रकार के आचार पालन-पलवाने मे समर्थ पांच समिति, तीन गुप्ति से युक्त, पचेन्द्रियजयी, नवविध ब्रह्मचर्य गुप्ति धारक और चार कषायो से मुक्त होते हैं।

उपाध्यायपद का अर्थ—उपाध्याय सघ मे ज्ञानदाता के अध्यापक होते हैं। जिनके पास रहने से श्रुत (शास्त्रीय ज्ञान) की आय (लाभ) होती है उन्हें उपाध्याय कहते हैं। उपाध्याय मे २५ गुण होते हैं। ११ अग शास्त्रीय तथा १० उपाग शास्त्रीय ज्ञान, तथा चरण सप्तति और करण सप्तति, इन २५ का गहन अध्ययन-अध्यापन ज्ञान उपाध्याय मे होता है। जैन सिद्धान्तों के विशेषज्ञ होते हैं।

साधुपद का अर्थ—साधु-साध्वी स्वपर कल्याण साधक होते हैं, विशेषत व मोक्षमार्ग के साधक होते हैं। उनमें २७ विशिष्ट गुण होते हैं—पांच महाव्रती, पचेन्द्रियजयी, चारकषाय निवारक, भाव सत्य, करणसत्य-योग सत्य से युक्त, क्षमावान्, वैराग्यवान्, मन-समाधारणता, वचन-समाधारणता एव काय-समाधारणता से युक्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सम्पन्न, वेदनीय सम, तथा मारणान्तिक कष्ट मे सम। वे दशविध धर्म आदि अनेक साधु गुणों से युक्त होते हैं। १२ प्रकार के तप, १७ प्रकार के सयम, २२ परिषहजय, १८ पाप से निवृत्त, पांच समिति, तीन गुप्त के आराधक एव मोक्ष के साधक होते हैं।

सक्षेप मे कहें तो अरिहन्तो का समस्त जीवो के प्रति उपकारित्व, सिद्धो का अविनाशीपन, आचार्यों का सदाचार, उपाध्यायो का विनय और साधुओ की अहर्निश रत्नत्रयसाधना पचपरमेष्ठी महामन्त्र के द्वारा ग्राह्य है, अनुकरणीय है।

प्रकारान्तर से कहे तो 'नमो अरिहंताणं' से मोहनाश का उपाय, 'नमो सिद्धाणं' से लोभ विजय का उपाय, नमो आयरियाणं' से माया विजय का उपाय, नमो उवज्झायाणं' से मानविजय का उपाय और 'नमो लोए सव्वसाहूणं' से क्रोध विजय का उपाय किया जा सकता है।

नमस्कार महामन्त्र पुण्यशरीर को पैदा करने वाली माता है, आत्मा का पालन (रक्षण) करने वाला पिता है, मोक्ष की ओर ले जाने वाला नेता है, आत्मा के ठीक मार्ग का प्रेरक होने से देव है, दुर्गति मे पड़ते हुए जीव की रक्षा करने वाला और स्वर्ग या सुगति मे पहुंचाने वाला होने से धर्म है, तथा अज्ञानान्धकार में भटकते जीवों को सन्मार्ग का प्रकाश करने वाला होने से गुरु भी है। यही साधको का प्राण है, स्वर्ग-अपवर्ग है, यही तत्त्व-सत्त्व है, यही गति-मति है।

इसीलिए आचार्य कहते हैं—

"एस मे माता, पिता नेता देवो धर्मो गुरु: पर:।
प्राणा स्वर्गोऽपवर्गश्च सत्त्वं तत्त्वं गतिर्मति:॥"

अधिक क्या कहें, नमस्कार महामंत्र की सम्यक् आराधना करता हुआ योगी परम श्री को प्राप्त करके तीन लोक में पूजित हो जाता है। हजारों पाप करके या सैकड़ों जीवों का वध करके तिर्यंच भी अन्तिम समय में नमस्कार मंत्र की आराधना करके देवलोक में चला जाता है। क्या इहलौकिक क्या पारलौकिक सभी सम्पदाएँ नमस्कार महामंत्र के बल से प्राप्त होती हैं और वह दूसरों को भी ये सम्पदाएँ सुलभ कराता रहता है। आचार्य कहते हैं कि जब तक नमस्कार मंत्र का स्मरण (जप) नहीं किया जाता, तब तक चित्त से चिन्तित, वचन से प्रार्थित (अभिलषित) और काया से आचरित कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। इसलिए भोजन, शयन, जागरण, गमन, प्रवेश, निवास आदि समस्त कार्यों के प्रारम्भ में सदैव पंच नमस्कार का स्मरण करना आवश्यक है।[1]

अन्त में, इतना ही कहूँगा कि नमस्कार मंत्र से जैसा कि मैंने पहले बताया था, लोकोत्तर साधना और उससे फलस्वरूप आत्मगुणों के परम विकास का लाभ तो होना ही है, लौकिक लाभ भी कम नहीं होते। एक आचार्य ने कहा है—

"इहलोए अत्थकामा, आरुग्गमभिरईअ निप्फत्ति।
सिद्धि अ सग्ग-सुकुल पच्चायाइ य परलोए॥"

अर्थात्—नमस्कार महामंत्र से इस लोक में अर्थ, काम, आरोग्य, एवं आनन्द मंगल की प्राप्ति होती है तथा परलोक में या तो स्वर्ग प्राप्ति या अच्छे कुल में जन्म होता है, अथवा सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है।

महामंत्र की जापविधि

जैसा कि मैंने पहले कहा था कि महामंत्र के पुन:-पुन: जाप से ही अन्तर्मन में पड़े हुए कुसंस्कार नष्ट होकर सुसंस्कारों का जत्था जम जाता है तथा पूर्वोक्त लोकोत्तर गुणों की प्राप्ति या इहलौकिक-पारलौकिक लाभ भी तभी प्राप्त होता है। इसलिए इस महामंत्र की आराधना-साधना के लिए या सिद्धि के लिए जाप करना परम आवश्यक है। परन्तु जाप विधिपूर्वक स्पष्ट शुद्ध उच्चारण से युक्त नहीं होता तो अभीष्ट फलदायक नहीं होता। माला के मनके फिर रहे हों, लेकिन आपका मन

---

१ ताव न जायइ चित्तेण चिंतियं, पत्थिअं च वायाए।
काएण समाढत्तं जाव न सरिओ नमुक्कारो॥
भोयण समए सयणे विबोहणे पवेसणे भए वसणे।
पंच नमुक्कारं खलु समरिज्जा सव्वकालंपि॥"

और कहीं घूम रहा हो तो वह जाप शुद्ध नहीं कहलाता। इसी प्रकार नमस्कार महामंत्र में निहित चार सुन्दर गुणों के संस्कार भी आत्मा में तब तक प्रविष्ट नहीं होते, जब तक पहले बताई हुई आत्मा की चार अशुद्धियाँ दूर नहीं की जातीं।

इसलिए जाप प्रारम्भ करने से पूर्व स्थान (जाप करने का शुद्ध स्थान), समय, आसन, वस्त्र, दिशा (पूर्व या उत्तर) माला या जप-संख्या निश्चित कर लेना चाहिए। अन्यथा मन डावाडोल हो जाएगा, जाप में एकाग्रता नहीं आएगी। तत्पश्चात् मन-वचन-काया की चंचलता मिटाकर तीनों को स्थिर करना चाहिए।

जप प्रारम्भ करने से पूर्व नमस्कार महामंत्र का माहात्म्य, अर्थ और फल का साधक को पूरा ज्ञान होना चाहिए। अन्यथा, यथेष्ट फल नहीं प्राप्त होता। तथा इस गाथा का भी मन ही मन चिन्तन करना चाहिए—

> "धन्नोऽहं जेण मए अणोरपारम्मि भव समुद्दम्मि।
> पंचण्ह नमुक्कारो, अचिंतचिन्तामणी पत्तो॥"

"मैं धन्य हूँ कि मुझे अपार संसार समुद्र में अणु की तरह पंच परमेष्ठी नमस्कार-रूपी अचिन्त्य चिन्तामणि महामंत्र रत्न प्राप्त हुआ है।"

इसके पश्चात् खामेमि सव्वे जीवा; शिवमस्तु सर्व जगत, परहित चिन्ता मैत्री; सत्त्वेषु मैत्री; सर्वत्र सुखिनः सन्तु; इत्यादि मैत्री आदि शुभभावनागर्भित श्लोकों का श्रद्धापूर्वक उच्चारण करे।

इसके अनन्तर आत्मरक्षाकर वज्रपंजर नामक महास्तोत्र पढ़े। साथ ही 'ॐ नमो अरिहंताणं' बोलते समय मस्तक को हाथ से छूना, 'ॐ नमो सव्वसिद्धाणं' बोलते समय मुख को हाथ से स्पर्श करना, 'ॐ नमो आयरियाणं' पढ़ते समय शरीर को हाथ से स्पर्श करना, 'ॐ नमो उवज्झायाणं' पढ़ते समय दोनों हाथों से शस्त्रग्रहण करने की-सी चेष्टा करना। तथा 'ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं' बोलते समय दोनों पैरों के तल का स्पर्श करना। 'एसो पंच नमोक्कारो' का उच्चारण करने के समय दोनों हाथों से आसन का स्पर्श करना उसे वज्रशिला तुल्य समझना। 'सव्व पावप्पणासणो' बोलते समय 'मेरे चारों ओर वज्र का किला है', यह कल्पना करके दोनों हाथों से चारों ओर अंगुलि घुमाना तत्पश्चात् 'मंगलाणं च सव्वेसिं' बोलते समय यह सोचना कि किले के बाहर चारों ओर खैर की लकड़ी के अंगारों से खाई भरी हुई है। अन्त में, 'पढमं हवइ मंगलं' बोलते समय हाथ को मस्तक पर रखकर सोचना कि वज्रमय किले पर आत्मरक्षा के लिए वज्रमय ढक्कन है।

इसके पश्चात् 'मंगल पाठ' बोलना, फिर 'अरिहंतो मह देवो' पढ़ना और त्रिकाल, त्रिलोक के नमस्कार साधक सभी भव्य-आत्माओं की साधना की श्रद्धापूर्वक प्रशंसा एवं अनुमोदना करना। फिर लोगस्स (चतुर्विशति स्तव) का पाठ बोलना और 'श्री तीर्थंकरगणधर प्रसादात् सिद्ध्यतु मम एष योग' बोलना। फिर भगवान्

वन्दना करके शुद्ध रूप से नमस्कार महामंत्र के पाठ का उच्चारण मन ही मन करना।

उच्चारण इस प्रकार मौन सहित करना कि पंचपरमेष्ठी के ध्यान में चित्त एकाग्र एवं तन्मय हो जाय और साधक को ऐसा मालूम होने लगे कि अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के सान्निध्य में ही वह बैठा है। साथ ही ध्यान में पंच परमेष्ठी के पाँच पृथक्-पृथक् रंगों की कल्पना करे। जैसे 'नमो अरिहंताणं' पर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान श्वेत वर्ण की कल्पना करे, 'नमो सिद्धाणं' में अरुण प्रभा की तरह लाल वर्ण की, 'नमो आयरियाणं' में सोने के समान पीले वर्ण की, 'नमो उवज्झायाणं' में प्रियंगु के समान नीले वर्ण की एवं 'नमो लोए सव्वसाहूणं' में काले रंग की कल्पना करे।

मन में एक अष्टदल कमल की कल्पना कर, जिसके बीच में एक गोल वृत्त बनाकर उसमें 'नमो अरिहंताणं' की स्थापना करे। उसके ठीक ऊपर के दल (पंखुड़ी) पर 'नमो सिद्धाणं' की, उसके ठीक नीचे के दल पर 'नमो उवज्झायाणं' पद की, उसके ठीक दाहिनी ओर 'नमो आयरियाणं' पद की तथा उसके ठीक बाईं ओर 'नमो लोए सव्वसाहूणं' की स्थापना करे। फिर पूर्वोत्तर कोण के दल में 'एसो पंच नमोक्कारो' की, पूर्व-दक्षिण कोण के दल में 'सव्वपावप्पणासणो' की, दक्षिण-पश्चिम कोण के दल में 'मंगलाणं च सव्वेसिं' की तथा पश्चिमोत्तर कोण के दल में 'पढमं हवई मंगलं' की स्थापना करे।

जाप की पूर्णाहुति के समय भी मैत्री आदि शुभ भावनाओं तथा शुभ ध्यान में मन को एकाग्र करके फिर उठे।

यह महामंत्र के जाप की संक्षिप्त भावनापूर्ण विधि है।

फलश्रुति

इस प्रकार विधिपूर्वक जाप करने से अवश्य ही यथेष्ट फल प्राप्त होता है। वस्तुतः महामंत्र के साधक को फलाकांक्षा से दूर रहकर ही साधना करनी चाहिए। जिसमें लौकिक फल की वाञ्छा तो मन में रखनी भी न चाहिए। यह घाटे का सौदा है। जैसे किसान अन्न-उत्पादन को लक्ष्य में रखकर ही बीज बोता है, किन्तु उसे अन्न के साथ-साथ भूसा, घास आदि अनचाहे ही मिल जाते हैं, इसी प्रकार महामंत्र के साधक को लौकिक या लोकोत्तर किसी भी फल की आकांक्षा या सौदेबाजी मन में रखकर जाप नहीं करना चाहिए। लौकिक या लोकोत्तर फल तो उसे अनायास प्राप्त होता ही है। उसके लिए बार-बार मन में उधेड़बुन करने से, या फल का बार-बार चिन्तन करने से या फल की प्रतीक्षा करने से मन की एकाग्रता जाती रहती है। [illegible] किसान की तरह उस जाप को पूर्ण करना है। वह केवल जाप संख्या की पूर्ति है, वह जाप हृदय से उत्पन्न [illegible] नहीं होता और न ही वह यथेष्ट फल प्रदान करता है।

किन्तु जिन-जिन साधकों ने नमस्कार महामंत्र की साधना श्रद्धापूर्वक की है, उन्हें समय-समय पर उसके चमत्कार के प्रत्यक्ष दर्शन भी हुए हैं। श्रीपाल, सती मदनरेखा, सुदर्शन सेठ, सती द्रौपदी, सीता आदि नरनारियों ने नमस्कार महामंत्र की विधिवत् आराधना करके आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों ही प्रकार के फल पाये थे। वर्तमान युग में भी नमस्कार महामंत्र के प्रत्यक्ष फल यदा-कदा दृष्टिगोचर होते हैं। नमस्कार महामंत्र से साप का जहर उतर जाता, पानी की बाढ़ का पारा न आना, अग्नि का न जलाना, कोढ़ मिट जाना, कैंसर आदि असाध्य रोगों का मिट जाना, विकट विपत्तियों से बच जाना आदि प्रत्यक्ष फल का कई लोगों ने अनुभव किया है। केवल जैन ही नहीं, जैनेतर हिन्दू, मुस्लिम, पारसी आदि लोगों ने भी इस मंत्र को जाप द्वारा सिद्ध करके अजमाया है।

सौ बातों की एक बात है—वह है दृढ़ श्रद्धा, इस महामंत्र के जाप में अखण्ड और दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। विश्वास के बिना यह मंत्र फलित नहीं होता। साथ ही फल से निरपेक्षता होनी चाहिए। तभी साधक को महामंत्र के चमत्कार का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है। जो व्यक्ति जाप में अनियमित रहेगा, श्रद्धा और विश्वास से जिसका हृदय शून्य होगा, जिसके जीवन में पद-पद पर लौकिक फलाकांक्षा होगी, प्रसिद्धि एवं यशकीर्ति की कामना होगी, फल उससे कोसों दूर रहेगा।

आशा है, आप महामंत्र के स्वरूप, माहात्म्य, जापविधि और फलश्रुति के सम्बन्ध में मेरे आशय को समझ गए होंगे। किन्तु एक बात निश्चित है कि इस महामंत्र की साधना गरीब, अमीर, विद्वान्, निरक्षर, जैन-अजैन, देशी-विदेशी सभी प्रकार के श्रद्धाशील व्यक्ति कर सकते हैं। आप भी इस महामंत्र की साधना करके आत्म-विकास के शिखर पर आरूढ़ हो जाइए।

७

सम्यग्दर्शन बनाम आत्मदर्शन

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ और बहनो !

आज हम जीवन को एक गूढ़ तत्त्व पर विचार करेंगे। सम्यग्दर्शन का नाम सुनते ही जैन लोग यों समझने लगते हैं, यह तो हम अपने बापदादा से विरासत में मिला है। सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व प्राप्त करना तो हमारे बाँए हाथ का खेल है। परन्तु यह भ्रम है। सम्यग्दर्शन कोई विरासत में मिलने वाली चीज नहीं है। जमीन, जायदाद या धनसम्पत्ति आपको उत्तराधिकार में मिल सकती है, किन्तु सम्यग्दर्शन, या सम्यक्त्व के द्वारा उत्तराधिकार में दस्तावेज से नहीं दिया या लिया जाता। वह तो जीव द्वारा स्वयं पुरुषार्थ से प्राप्त होने वाला पदार्थ है। कई लोग यों समझने लगते हैं कि हमने अपने धर्मगुरु के मुख से देव-अरिहन्त, गुरु-निर्ग्रन्थ और धर्म-केवलीभाषित का पाठ सुन लिया या सम्यक्त्व का गुरुमंत्र प्राप्त कर लिया, इतने से ही हममें सम्य-ग्दर्शन आ गया, हम सम्यक्त्वी या सम्यग्दर्शनी हो गए। किन्तु यह भी निरा भ्रम है। किसी पाठ या मन्त्रविशेष सुन लेने या ग्रहण कर लेने मात्र से सम्यग्दर्शन नहीं आ जाता। वह तो पुरुषार्थसाध्य वस्तु है।

सम्यग्दर्शन का यथार्थ : आत्मदर्शन

सम्यग्दर्शन में सम्यक् और दर्शन दो शब्द मिले हुए हैं। सम्यक् का अर्थ है—भलीभाँति, अच्छी तरह, बाहर-भीतर सब ओर से, सुष्ठु (सुन्दर) और शुद्ध (यथार्थ) रूप से और दर्शन का अर्थ है—देखना, अवलोकन या प्रेक्षण करना।

परन्तु यह दर्शन केवल नेत्रों से ही देखना नहीं है, किन्तु पाँचों इन्द्रियों, मन, बुद्धि एवं अन्तःकरण से अपनी आत्मा की अन्तरंग-बहिरंग सभी हलचलों को देखना है, आत्मा के भीतर की झाँकी करते हुए यह देखना है कि आत्मा के निजी गुण या शक्तियाँ कौन-कौन-सी हैं ? उनका उपयोग कैसे किया जा सकता है ? वे

सर्वांगीण और स्पष्ट आत्मदर्शन के लिए मूल में सर्वप्रथम आत्मा है या नहीं ? है तो कैसा है, क्या है ? आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अशोष्य, नित्य, सर्वव्यापक, अविनाशी है। इसमें अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य (शक्ति) अनन्त सुख है। आत्मा सर्वशक्तिमान है। ग्रीस के गणितज्ञ आर्कीमिडीज का कहना था कि यदि पृथ्वी के बाहर खड़े रहने की जगह मिल जाये तो मैं सारी पृथ्वी हिला सकता हूँ। उसे वह जगह नहीं मिली। किन्तु वह जगह है आत्मा। यदि हम संसार से ऊपर उठकर आत्मा में केवल स्थित हो जायें तो सारी पृथ्वी को हिला सकते हैं। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व तथा वस्तुत्व (स्वरूप) का भलीभाँति बोध हो जाने के बाद यह विचार करना है कि जब आत्मा है, वह इतना शक्तिमान् है, शुद्ध है तो वह अपने स्वरूप और अपनी शक्तियों को क्यों भुला बैठा है ?

एक कवि ने ठीक ही कहा है—

अपने को पहचान, मनवा ! अपने को पहचान !
क्यों बनता अनजान, सबसे ऊँची तेरी शान ॥अपने को०॥
दुनिया को तूने पहचाना, अपना मोल न बिलकुल जाना।
कभी भूलकर भी ना तूने, संतजनों का कहना माना॥
कितना तू नादान, मनवा ॥अपने को०॥
सकल सृष्टि का है तू मुखिया, फिर भी फिरता है बनकर दुखिया।
तेरे मन मन्दिर में पगले, बैठा है भगवान् वह छुपया॥
पाले अब भी ज्ञान, मनवा ॥अपने को०॥

वह अशुद्ध अल्पशक्तिमान तथा विनाशी क्यों हो गया ? इसका समाधान जैन-दर्शन यों करता है—आत्मा है तो सर्वशक्तिमान एवं शुद्ध, किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा परिवार, मकान, धन आदि परपदार्थों (आत्मा से भिन्न पदार्थों) को अज्ञानवश अपने मानकर उनके प्रति राग, द्वेष, मोह आदि वश बंध जाता है, त्रिले-पनः अजीव पदार्थों को अपने मानकर उनके मोह में फँस जाता है। वे पदार्थ उस अनन्त शक्तिमान आत्मा पर हावी हो जाते हैं। आत्मा जब अपनी शक्ति को भूल जाता है तब शुभ-अशुभ कर्मों का आगमन (आश्रव) होता है। शुभकर्मों का आश्रव पुण्य अशुभ कर्मों का आश्रव पाप कहलाता है। हिंसा, असत्य, आदि अशुभाश्रव हैं, तथा रागपूर्वक दान, परोपकार, सहयोग आदि शुभाश्रव (पुण्य) हैं। इसके अतिरिक्त कई बार आत्मा अपना भान भूलकर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण कर्मबन्धन से जकड़ जाता है। उसी कर्मबन्धन के फलस्वरूप आत्मा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव नामक गतियों बार जन्म लेता है, मरता है, परवश होकर नाना
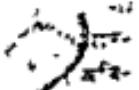
वास्तव मे देखा जाय तो अपने आप मे दृढ विश्वास करने वाला व्यक्ति ही आस्तिक है, आत्मदर्शी है, सम्यग्दर्शन सम्पन्न है।

स्वामी विवेकानन्द ने ठीक ही कहा था—प्राचीन धर्मों ने कहा था—"नास्तिक वह है जो ईश्वर मे विश्वास नहीं करता, किन्तु नया धर्म कहता है—नास्तिक वह है, जो अपने आप मे विश्वास नही करता। आत्मविश्वास ही महान् बनने का रहस्य है।

सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन ये दोनो शब्द किसी सम्प्रदाय के नाम नहीं हैं तथा ये कोई पथ नही है कि अमुक व्यक्ति को मानो तो सम्यग्दर्शन और अमुक को नही मानो तो मिथ्यादर्शन हो गया। मिथ्यादर्शन शब्द ही यह बता रहा है कि यह खोटा दर्शन है, भ्रान्तियुक्त दर्शन है। मिथ्यात्व मिट जाए और सच्चा दर्शन प्राप्त हो जाए, तब उस दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है।

लोग कहते है—देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा रखो, बस इतने से सम्यग्दर्शन आ गया, परन्तु मैं पूछता हूं, जिसे अपने पर श्रद्धा नही है, वह कैसे देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा रख सकता है? इसीलिए सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ आत्मदर्शन-आत्मविश्वास से होता है। पहले अपनी आत्मा पर अपनी श्रद्धा उत्पन्न होनी चाहिए उसके पश्चात् ही देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा हो सकती है। तात्पर्य यह है कि पहले तो आपको अपना दर्शन होना चाहिए। मैं आत्मा हूँ, चैतन्य हूँ, अविनाशी हूँ, मरणशील नही हूँ, जड नही हूँ। मेरे आत्मतत्व का अस्तित्व जड से भिन्न है।

भौतिक दृष्टि और आध्यात्मिक दृष्टि में अन्तर

दो प्रकार की दृष्टियां (दर्शन) होती है—एक भौतिक दृष्टि और दूसरी आध्यात्मिक दृष्टि। इन दोनो दृष्टियो मे रात-दिन का अन्तर है। भौतिक दृष्टि कहती है—साधनों की वृद्धि मे ही, मेरी प्रगति है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि कहती है ज्यो-ज्यो भौतिक साधन बढ़ते जाते हैं, त्यो-त्यो आत्मा उन साधनो की भूल-भुलैया मे फँसता जाता है। इसलिए सब बढ़ें तो भौतिक समृद्धि की वृद्धि एक प्रकार से आत्मा का ह्रास होता जाता है, क्योकि जितने 'पर' के साधन बढ़ेंगे, उतनी ही 'स्व' की साधना कम होती जाएगी। इसलिए सच्चा आत्मदर्शन यह है कि दुनिया के साधनों के विकास मे नहीं, अपितु उनके ह्रास मे ही आत्मा का विकास निहित है। श्रीमद् राजचन्द्र जी के शब्दों मे देखिए—

"वधे अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो?
परिवार थी, वधवापणु ए नय ग्रहो।
शुं मर देह ने हारी जवो।
अहो हो?, एक पल तमने हवो॥"

व्यक्ति के पास धन बढ़ गया, इसके पास विशाल
इसके पास बड़ी-बड़ी पदवियाँ हैं; इसने इतना

ध्यात्मिक साधना की होगी !' परन्तु मैं इस बात से बिलकुल सहमत नहीं हूँ, र न हमारे शास्त्र ही सहमत हैं। ये सब लक्षण आध्यात्मिक साधना के नहीं, तिक साधना के हैं। सच्ची आध्यात्मिक साधना क्या है ? यह जब जीवन में आती है तो भौतिकता या भौतिक साधनों—इन्द्रियविषयों के बढ़ाने की दृष्टि नहीं रहती। तिक साधन उसकी नजरों में बिलकुल तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। नन्दीवर्धन ने गवान महावीर से जब कहा कि ऐसे अच्छे राज्य को छोड़ कर तुम कहाँ जा रहे हो ? र इतना वैभव छोड़कर जंगल में क्यों जा रहे हो ? तब भगवान महावीर ने उनसे यही कहा कि—"भाई ! जो दुनिया के राज्य को रखने जाता है, वह आत्मा र कभी राज्य नहीं कर सकता। मैं तो आत्मा का राज्य प्राप्त करने आया हूँ, न क जगत् का राज्य ! इस भौतिक राज्य की ओर से पीठ फिरा लूँगा, तभी मैं आत्मा का राज्य प्राप्त कर सकूँगा। भौतिक राज्य और आत्मिक राज्य तथा भौतिक भव और आध्यात्मिक वैभव दोनों को एक साथ रखकर कोई भी मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।"

जो यह कहता है कि मनुष्य के पास पैसा हो, सत्ता हो या प्रतिष्ठा हो तो तभी उसका कल्याण हो सकता है, यह निरी भूल है। ये साधन तो सिर्फ बिजली की चमक की तरह पुण्य की एक चमक के रूप में आते हैं। इन्हें साध्य के रूप में या ध्येय के रूप में मानना ही जीवन की बहुत बड़ी भ्रान्ति है। जीवन की यह भ्रान्ति ही मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन है।

सच्चा आत्मदर्शन (सम्यग्दृष्टि) प्राप्त होने पर आपको अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा। उस समय धन, अभीष्ट जन या प्रिय साधनों का वियोग होने पर भी आपको कोई खेद नहीं होगा।

राजा दशार्णभद्र का उदाहरण हमारे सामने है। जब उन्हें आत्मदर्शन नहीं हुआ था, तब की बात है। एक दिन उन्हें सूचना मिली कि भगवान् महावीर उद्यान में पधारे हैं, उनका समवसरण लगा हुआ है। उनके मन में एक विचार आया कि मैं भगवान् को वन्दन करने के लिए चलूँ पर ऐसे ढंग से, इस प्रकार के वैभव से सजधज कर चलूँ कि आज तक कोई राजा न गया हो। तदनुसार राजा ने सेवकों को आदेश दे दिए कि सारी सेना सजाई जाए, सारे नगर में स्थान-स्थान पर सजावट की जाए, और सारे नागरिकों को सूचित किया जाए कि महाराज दशार्णभद्र सदल-बल सजधज के साथ भगवान महावीर को वन्दन करने जा रहे हैं, अतः सभी नगरजन भी सुसज्जित होकर उस विशाल जुलूस में सम्मिलित हों।"

राजा भगवान् को वन्दन करने जा रहा था, पर भौतिक दृष्टि के कारण मन में ऐश्वर्य का अहंकार जाग उठा। शुद्ध भावों के अमृत-कुण्ड में अहंकार का विषैला कीड़ा आ गया। ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने को उतारू हो गए राजा ! मनुष्य में कर्तृत्व का अभिमान आ जाता है, तो वह आत्मदर्शन को ढक देता है, कर्तव्य ज्ञान

पर आक्रमण [illegible] है। राजा की भौतिक [illegible] से प्रेरित होकर अभिमानपूर्ण [illegible] भगवान् के दर्शनार्थ चले गए।

महाराजा के इस वैभव प्रदर्शन का [illegible] देखा। सोचा! यह विशाल सेना का सुसज्जित अपार ठाठबाट राजा दशार्णभद्र के साथ है और यह वैभव का विशाल प्रदर्शन करता हुआ [illegible] भगवान् के दर्शनार्थ जा रहा है। राजा के हृदय-समुद्र में [illegible] की [illegible] के बड़े, अभिमान का [illegible] फड़फड़ा रहा है। इसके अभिमान की [illegible] को [illegible] करना चाहिए। अभिमान का नशा उतार कर राजा के [illegible] को [illegible] चाहिए! बस फिर क्या था, विशाल [illegible] हाथियों और उन पर [illegible] की [illegible] धरती पर उतरने लगी। देखते ही देखते अपार सेना, अपार ऐश्वर्य, मनोहारी [illegible] के नृत्य-गीत धरती पर होने लगे, मानो इस मर्त्यभूमि पर स्वर्गलोक उतर आया हो! दशार्णभद्र की आँखें इन्द्र के विशाल वैभव और विशाल शोभा-यात्रा को देखकर फटी-सी रह गई। उसका अभिमान [illegible] होने लगा। सोचा—"आज ही तो मनोरथ किया था कि जो कार्य किसी राजा ने आज तक नहीं किया, उसे करूँ", पर ऐश्वर्य के प्रदर्शन में तो मेरे से यह आगे बढ़ गया! कहाँ तक टक्कर लूँगा! फिर भी राजा आगे-आगे बढ़ रहा था, पीछे-पीछे इन्द्र की सेनाएँ आ रही थीं।

दशार्णभद्र का मन वैभव प्रदर्शन की होड़ में निराश हो गिर रहा था कि अचानक समझा। प्रभु महावीर के चरणों में पहुँचते ही उसने निवेदन किया—"प्रभो! बचाइए इस भौतिक ऐश्वर्य के मिथ्या अहंकार और दम्भ से। अपनी शरण में लेकर अनन्त आत्मिक ऐश्वर्य, आत्मा का असीम वैभव प्रदान कीजिए, जिसको कोई भी पराजित न कर सके।" राजा दशार्णभद्र की भौतिक दृष्टि मिट गई और आध्यात्मिक दृष्टि प्रगट हो गई। आत्मदर्शन हो गया उसे। प्रभु ने उससे कहा—"अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंध करेह।" उसी आत्मदर्शन के फलस्वरूप राजा दशार्णभद्र ने समस्त आभूषण, राज्य वैभव, राजसी वस्त्र आदि समस्त भौतिक साधनों को तिलांजलि दे दी। मस्तक का लुंचन करके वह मुनि बनकर आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गया। इन्द्र ने यह नजारा देखा तो तुरन्त राजर्षि के समक्ष नतमस्तक होकर स्तुति करने लगा—"धन्य हो राजर्षि! आप सत्य प्रतिज्ञ हैं। आपने अपने गौरव को खण्डित नहीं होने दिया। मैं भौतिक ऐश्वर्य में किसी से पराजित नहीं होता, लेकिन आत्मदर्शन से प्रेरित होकर आत्मसाधना का जो अनन्त ऐश्वर्य आपने पाया है, उसके सामने मैं पराजित हूँ, अकिंचन हूँ। मैं इस ऊँचाई को जरा भी छू नहीं सकता, न ही इस मार्ग पर पैर रख सकता हूँ।"

यह था आत्मदर्शनसम्पन्न होते ही भौतिक साधनों को तुच्छ समझ कर छोड़ने का उपक्रम!

जिसे सच्चा आत्मदर्शन प्राप्त हो जाता है, उसके पास से धन चला जाय,

या उसे कोई सत्ता से उतार दे, अथवा उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो जाए, लोग उस पर कीचड़ उछालें, परन्तु उसके मन में कभी ग्लानि नहीं होती। वह यों ही सोचता है— 'यह सब जो कुछ हुआ, उससे मेरी आत्मा का कोई ताल्लुक नहीं है। प्रतिष्ठा, कीर्ति, धन, प्रसिद्धि, सत्ता या वाहवाही, ये सब भौतिक जगत् के पदार्थ हैं, ये सब क्षणिक हैं, इन सबके चले जाने पर भी आत्मा का तिलभर भी कुछ नहीं जाता।'

इस प्रकार के आत्मदर्शन वाले साधक कदाचित् पूर्वबद्ध अशुभ कर्मवश कलंकित भी हुए, मार भी सहन की, लेकिन आत्मदृष्टि को छोड़कर इन तुच्छ भौतिक साधनों की ओर जरा भी नहीं ललचाए। उन्होंने यह विचार भी नहीं किया कि मैं सत्य या धर्म को छोड़ दूँ, तो मेरी प्रतिष्ठा बरकरार रह जाएगी।

मैतार्यमुनि अगर असत्य के सामने झुक गए होते और अपने शरीर, प्रतिष्ठा आदि भौतिक साधनों की ओर ललचा गए होते तो वे मारपीट एवं हत्या से बच गए होते। लेकिन वे इस असत्य दृष्टि की ओर जरा भी न झुके। उन्होंने यही सोचा— यह सोनी मुझ पर प्रहार करे या मार दे तो इसमें क्या हुआ? मेरी आत्मा को तो कोई काट या छेद नहीं सकता, वह तो अजर और शाश्वत है।

जिसे इस प्रकार का आत्मदर्शन प्राप्त हो जाता है, उसे इतना ही विचार आता है कि 'यह शरीर तो एक लिफाफा है, उसमें जो पत्र पड़ा है, वह अलग ही है। लिफाफा और उसमें रखा हुआ पत्र दोनों पृथक्-पृथक् हैं।' परन्तु शरीर और आत्मा को लिफाफा और पत्र की तरह अलग समझना बहुत ही कठिन है। अधिकांश लोग तो इस शरीर को ही सर्वस्व समझते हैं।

२५ पैसे के लिफाफे में यदि एक लाख रुपयों का चैक रखा हो तो इससे उस लिफाफे की कीमत लाख रुपये नहीं हो जाती। कीमत तो उस लाख रुपये के चैक की है। इसी तरह ज्ञानी पुरुष कहते हैं—यह शरीर तो सिर्फ २५ पैसे का लिफाफा है, उसमें जो चैक (आत्म-शक्ति रूपी धन या आत्मगुण रूपी सम्पत्ति) पड़ा है, उसी की कीमत है उक्त चैक को देखने-परखने की जो दृष्टि है, उसे ही सम्यग्दर्शन या आत्मदर्शन कहते हैं।

जिसे इस प्रकार की आत्मदृष्टि मिल जाती है, वह शरीर को कष्ट पड़ने पर या शरीर के नष्ट हो जाने पर भी घबराता नहीं, उसे आत्म-धन के नष्ट हो जाने की चिन्ता रहती है। जैसे कुशल व्यापारी को लिफाफा फट जाने की कोई चिन्ता नहीं होती, उसे सिर्फ चैक की रक्षा की चिन्ता होती है। इसी प्रकार कुशल आत्मद्रष्टा साधक को शरीर के नष्ट हो जाने की कोई चिन्ता नहीं होती, सिर्फ इस बात की सावधानी होती है कि कहीं से भी आत्मशक्ति रूपी सम्पत्ति न चली जाए।

ऐसी आत्मदृष्टि मिलते ही आपको स्पष्ट भान हो जाएगा कि मैं अपनी आत्मा की सुरक्षा करता हुआ शरीर से काम लूँ। शरीर एक लिफाफे की तरह अवश्य उपयोगी है। जैसे लिफाफे [illegible] इतना ही है कि वह उस चैक को सुर

गाँव से दूसरे गाँव पहुँचाने का काम करता है। वैसे ही इस शरीर का महत्त्व भी इतना ही है कि यह आत्मा को यहाँ से मोक्ष तक पहुँचाने के साधन के रूप में काम करता है।

यह दृष्टि आ जाती है तो आपका शरीर चाहे जहाँ भी होगा, वह चाहे मन्दिर में होगा या श्मशान में पर आप जाग्रत हैं। आप जानते हैं कि यह तो ऊपर का लिफाफा है, मैं तो अन्दर का चैक हूँ, इससे अलग ही हूँ। जिसकी अन्तर्दृष्टि इस प्रकार से खुल जाती है, वही धर्मिष्ठ आत्मा है।

मुझे बहुत-से लोग कहते हैं—"मुझे देव, गुरु और धर्म पर बहुत श्रद्धा है।" मैं उनसे पूछता हूँ—ऐसी श्रद्धा एक मुसलमान को भी अपने खुदा या पैगम्बर पर होती है, अपने फकीरों पर उसे श्रद्धा भी होती है और अपने धर्म (ईमान) पर यकीन भी होता है अपने शास्त्र कुरानेशरीफ और अपनी मस्जिद (धर्म स्थान) के प्रति पूरा विश्वास होता है, फिर इस मुसलमान में और सम्यग्दृष्टि में क्या अन्तर है? सचमुच आत्मदृष्टि का ही फर्क है। मुसलमान में आत्मा के प्रति सम्यक् श्रद्धा नहीं है, जबकि यहाँ आत्मा के प्रति दृढ़श्रद्धा से शुरुआत होती है।

यही कारण है कि आचारांगसूत्र में स्पष्ट बताया है—

"जे आयावाई से लोयावाई, जे लोयावाई से कम्मावाई,
जे कम्मावाई से किरियावाई।"

जो आत्मवादी (आत्मदृष्टि-आत्मदर्शी) है, वह लोकद्रष्टा है, जो लोकद्रष्टा है, वही कर्मवादी है और जो कर्मवादी है, वही क्रियावादी है।

'जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ'

—जो पहले एकमात्र आत्मा को भलीभाँति जान लेता है वह समस्त पदार्थों-तत्त्वों को जान लेता है।

इस प्रकार का आत्मज्ञानयुक्त आत्मदर्शन होने पर आपको प्राणिमात्र में अपने जैसी आत्मा के दर्शन होंगे। ऐसा होने पर एक प्राणी के जरा-से कष्ट का भी संवेदन होगा, आपके हृदय को उसके सुख-दुःख का स्पर्श होगा, फिर वहाँ हिंसा, असत्य आदि की सम्भावना ही कैसे हो सकती है?

निष्कर्ष यह है कि देव, गुरु, और धर्म, ये साध्य नहीं, साधन हैं, निमित्त हैं, साध्य तो स्वयं आत्मा ही है। देव, गुरु और धर्म तो ऊपर ले जाने के लिए एक अवलम्बन हैं, सहारे हैं। इनके सहारे आत्मा ऊपर चढ़ सकता है। परन्तु चढ़ना तो आत्मा का ही है न! अतः देव, गुरु और धर्म मोक्ष प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण साधन हैं, निमित्त हैं। परन्तु मोक्ष में पहुँचना तो स्वयं आत्मा को है। इसीलिए कहा गया है—सर्वप्रथम आत्मदर्शन-आत्मा की सच्ची पहिचान होनी चाहिए, तभी सम्यग्दर्शन की बात आगे चलेगी।

कई लोग कहते हैं—'देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा रखो' पर मैं कहता हूँ—यह श्रद्धा रखने वाला कौन है? उसे तो पहले पहिचान लो, उसे तो जान-देख लो। देवादि पर श्रद्धा रखकर हमें क्या प्राप्त करना है? यह बात समझनी पड़ेगी। इस वस्तु को आप नहीं समझेंगे और देवादि पर कोरी श्रद्धा रखने की बात को पकड़ लेंगे तो उस श्रद्धा के नाम पर झगड़े होंगे, राग-द्वेष, कषाय बढ़ेंगे। इसलिए देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा तो रखनी है, पर क्यों और किसलिए? यह बात लोग भूल गए।

बचपन में मैंने एक कहानी सुनी थी। एक भोला-भाला युवक था। वह माल लेकर बेचने जा रहा था। रास्ते में उसे कुछ चोर मिले। चोरों ने उसे लूट लिया। उसका सारा ही माल छीन लिया। जब वह हँसता-हँसता घर आया तो लोगों ने उससे पूछा—'तेरा सारा ही माल चोरों ने लूट लिया, फिर भी तू हँसता क्यों है?' उसने कहा—'मैं चोरों की मूर्खता पर हँस रहा हूँ कि उन्होंने मुझसे माल तो छीन लिया, लेकिन उसकी मूल्य-सूची (Price list) तो मेरे पास है। वे उस माल को बेचेंगे कैसे? क्योंकि उन्हें तो भावों का पता ही नहीं है।' इस भोले आदमी की बात पर आपको हँसी आती होगी। लेकिन क्या वे लोग, इसी भोले आदमी की तरह नहीं हैं जो यह कहते हैं कि मेरे पास श्रद्धारूपी मूल्य सूची है। विषय-कषाय आदि चोरों ने मेरा आत्म धन लूट लिया तो क्या हुआ? इस प्रकार जो केवल श्रद्धा को पकड़े बैठे हैं, पर श्रद्धा क्या और किस लिए रखनी चाहिए? इसका निश्चय या अनुभव नहीं है, वहाँ तक कोरी श्रद्धा के नाम पर अज्ञान और मिथ्यात्व का ही पोषण होता है।

केवल सम्प्रदायों और व्यक्तियों पर की गई श्रद्धा से मानव सद्धर्म से वंचित हो जाता है, सच्चे साधुओं और देवाधिदेवों के सच्चे स्वरूप से वंचित हो जाता है। ऐसा व्यक्ति कहता फिरता है 'मुझे तो अमुक देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा हो गई।' जैसे सिया सुर्खी के पास नहीं जाता और सुर्खी सिया के पास नहीं जाता, वैसे ही जो इस तथाकथित संकीर्ण श्रद्धा के नाम से एक पंथ, एक सम्प्रदाय और एक व्यक्ति से चिपका रहता है, उसकी जीवनदृष्टि में विशाल आत्मदृष्टि का अभाव हो जाता है। फलस्वरूप उत्तम आत्म-साधना करने के लिए मिला हुआ यह मनुष्य जन्म विकासहीन और विशालतारहित स्थिति में साम्प्रदायिक संकीर्णता या तुच्छता में ही पूरा हो जाता है। यह कितनी बड़ी क्षति है, कितनी अधिक हानि है, जो आत्मा को ही सहनी पड़ती है? मुक्ति प्राप्त करने के लिए तो उत्तम-साधन युक्त एकमात्र यह मनुष्य जन्म ही है। इस मनुष्य जन्म को यों ही अज्ञान और अन्धविश्वास से युक्त श्रद्धा में खो देने पर पता नहीं कितने जन्मों के बाद मनुष्य जन्म मिलेगा? और मनुष्य जन्म मिल जाने पर भी पता नहीं सच्ची आत्मदृष्टि मिलेगी या नहीं?

इस प्रमाद के कारण मनुष्य कितना बड़ा नुकसान कर बैठता है? धन और धंधे के प्रपंच में पड़े हुए मनुष्य को न तो किसी प्रकार के साधन का ख्याल रहता है,

है, या नारी नरक की खान कहते हैं, प्रतिष्ठा को शूकरी विष्ठा कहते है, उन लोगों में सच्ची विरक्ति है, इस भ्रम मे न रहे। किसी की निन्दा करने से निर्विकारता या विरक्ति नहीं आ जाती।

एक जगह दो बूढ़े खड़े-खड़े बातें कर रहे थे कि ढाई नम्बर का चश्मा लिया जाय तो अच्छी तरह पढ़ा जा सकता है। वहीं एक ग्रामीण आदमी बैठा था, उसने सुना तो तुरन्त उठा और चश्मे वाले के यहाँ पहुँचा। बोला—"अजी! मुझे ढाई नम्बर का चश्मा दो।" दूकानदार ने ढाई नम्बर का चश्मा दिया। उसने आँखों पर वह चश्मा चढ़ाया, फिर आगे से और पीछे से लगा-लगाकर देखने लगा, लेकिन एक अक्षर भी पढ़ न सका। दूकानदार ने तीन नम्बर का चश्मा दिया। उससे भी पढ़ा न जा सका। एक घण्टे की मेहनत के बाद दूकानदार को कुछ शंका पड़ी। अतः उसने पूछा—"भाई! आप चश्मा तो लगा रहे हैं, परन्तु आपको कुछ पढ़ना भी आता है या नहीं?" ग्रामीण ने कहा—"मुझे पढ़ना आता तो मैं चश्मा लेने यहाँ क्यों आता?" "चश्मे से पढ़ना नहीं आता, किन्तु पढ़ना आता हो उसे वह पढ़ने में मदद करता है।" दूकानदार ने कहा।

जैसे उस गँवार ग्रामीण ने बार-बार चश्मे चढ़ाकर दूकानदार को हैरान कर दिया और अन्त में दूकानदार को कोसता हुआ चला गया, वैसे अज्ञानी एवं आत्म-दृष्टिविहीन जीव अपने मे ज्ञानज्योति का अभाव जाने बिना संसार की चीजों पर दोषारोपण करता चला जाता है। संसार खराब है, स्त्री खराब है, पुत्र खराब है, आदि कहता है, किन्तु अपनी वृत्ति या दृष्टि खराब है, उसका संशोधन वह नहीं करता। वृत्तियों का विश्लेषण करने की आत्मदृष्टि जब तक विकसित नहीं होती, तब तक जगत् के पदार्थों के प्रति ममता और तटस्थता आनी बहुत दुष्कर है।

मैंने ऐसे लोगों को देखा है, जो धर्मस्थान में आते हैं या धर्मक्रिया करते हैं, तब उसकी धुन में पागल हो उठते हैं, लेकिन वहाँ से बाहर निकलते ही सारा धर्म-कर्म छूमन्तर हो जाता है, मानो धर्म से उनका कोई वास्ता ही नहीं है। अतः आन्तरिक ज्ञान या आध्यात्मिक दृष्टि हो, तभी सर्वत्र धर्म या धर्म के अंगभूत अहिंसा, सत्य आदि में मनुष्य टिका रह सकता है। आत्मदृष्टि के लिए की हुई एक घण्टे की साधना का असर दिन-रात के शेष २३ घण्टों में प्रवृत्ति करते समय भी रहना चाहिए। प्रत्येक प्रवृत्ति में आत्मा को जाग्रत और सावधान रखो, यह सोचो कि इसमें भी मेरी आत्मा है। ऐसा होने पर प्रत्येक प्रवृत्ति के समय आप वृत्तियों का निरीक्षण-परीक्षण एवं संशोधन कर सकेंगे।

महान् से महान् समझे जाने वाले साधक को पहले आत्मदर्शन और आत्म-सुधार करना आवश्यक है, दूसरों के उद्धार की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। नदी स्वाभाविक रूप से बहती रहती है। उसका उद्देश्य यह नहीं है कि मैं गाँव के लोगों के कपड़े धो दूँ, या प्यासों को पानी पिला दूँ। उसे तो बहना है और अन्त में समुद्र में

मिल जाता है। बीच में आते हुए ग्रामों के लोग नदी से लाभ उठाते हों तो, यह उनका सौभाग्य है। इसी प्रकार साधक को अपनी आत्मदृष्टि रखकर अपनी स्वकल्याण-भावना करते रहना चाहिए, उसका लक्ष्य भी अपनी मयमयात्रा करते-करते एक दिन परमात्मा या मोक्ष में मिल जाना है। बीच में कोई भाग्यशाली उसके प्रवचन, वचन या प्रवृत्ति से लाभ उठाता हो तो उसका सद्भाग्य है। परन्तु उसे पर-उद्धार का अहंकार नहीं करना चाहिए।

ये ही आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन के कुछ पहलू हैं। आप भी अपने ...
दीपक में आत्मज्योति जगाइए, आत्मदृष्टि को विकसित करने का प्रय...
समस्त प्रवृत्तियाँ आत्मा को केन्द्र में रखकर करिए।

द्वितीय खण्ड

दर्शन-चिन्तन

☐ संसार में बन्धन अनेक प्रकार के हैं, किन्तु उनमें प्रेम (मोह) का बन्धन सबसे विचित्र और कठिन है। मोह या प्रेम बन्धन के कारण ही लकड़ी को काटने में समर्थ भौंरा, कमल-कोष में बन्द होकर निष्क्रिय हो जाता है।

× ×

☐ ईश्वर का निवास कहाँ है, इसे खोजने जाने से पहले अपने हृदय को टटोल लो। अगर हृदय में ईश्वर है, तो संसार में कहीं भी भटकने की जरूरत नहीं।

१
ये बन्धन कैसे छूटेंगे ?

बाह्य बन्धन तो छूट सकते हैं

आज का विषय है—'ये बन्धन कैसे छूटेंगे ?' बन्धन का नाम सुनते ही आपके
न में विचार उत्पन्न होता है कि इन बन्धनों को किसने बांधा है ? इन बन्धनों से
छूट जाएँ तब, मनुष्य छुटकारा पा सकता है अथवा अमुक अवधि के बाद इन
बन्धनों से छुटकारा मिल सकता है। मनुष्य की स्थूलदृष्टि में बन्धन के ये कुछ प्रकार
हैं—

(१) रस्सी आदि बन्धनों से पशु आदि की तरह जकड़ देना।

(२) जैसे शिकारी जाल बिछाकर पक्षियों को उसमें फंसा लेता है, वैसे ही
जाल में मनुष्य का फंस जाना।

(३) शेर, सिंह आदि को पिंजरे में डाल कर बन्धन में जकड़ दिया जाता है,
ही मनुष्य को जेल के सींखचों में डालकर कैद में रखना। हथकड़ियों और बेड़ियों
जंजीरों से डाल कर कैदी के रूप में जेल में रखना।

(४) नजरबन्द कैद में रखना। मनुष्य को स्वतन्त्रता से घूमने-फिरने की
आजादी पर प्रतिबन्ध लगाना।

ये और इस प्रकार के बन्धन बाह्य हैं, स्थूल हैं। ये बन्धन तो प्रत्यक्ष नजर
ते हैं। इन बन्धनों में पड़े हुए व्यक्ति को झट पहिचाना जा सकता है। किसी जेल
पड़े हुए कैदी को देखकर आप झटपट अनुमान लेंगे कि यह बन्धन में है। किसी
क्ति को रस्सी आदि से बँधा देखकर भी आप फौरन कह देंगे, यह बन्धनग्रस्त है।
ते, सिंह आदि को पिंजरे में पड़े देखकर भी आप उन्हें बन्धन में पड़े हुए मान लेंगे।
थ ही आप यह भी अनुमान लगा लेंगे कि ये बन्धन इतने जटिल और चिरस्थायी
ही हैं और न ही ये बन्धन मनुष्य की सोचने-विचारने एवं कार्य करने की आजादी
र अत्यधिक प्रतिबन्ध डालते हैं।

अत्यधिक बन्धन छूटने कठिन

मैं दूसरे प्रकार के बन्धनों की बात कह रहा था, वे बन्धन इन चर्मचक्षुओं से
त्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते, और न ही वे बन्धन जेल की कोठरी में या हथकड़ियों-

संसारी जीव कर्मबन्धन में जबर्दस्त रूप से जकड़ा हुआ रहता है। कर्मबन्धन के मुख्य ५ कारण तत्त्वार्थसूत्र में बताए हैं—

"मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।"

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और मन-वचन-काया के योग बन्ध के कारण हैं।

अज्ञान, अन्धविश्वास, अश्रद्धा या विपरीत श्रद्धा, संशय, विपर्यय आदि मिथ्या-दर्शन या मिथ्यात्व है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि में जानबूझ कर प्रवृत्त होना अविरति है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष (आसक्ति और घृणा) पूर्वक प्रवृत्त होना किसी भी प्रकार से सावधान न रहना प्रमाद है। क्रोध आदि का उत्तेजन होना कषाय है एवं मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का नाम योग है। योगों में अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने से व्यक्ति की बहुत बड़ी हानि होती है।

इस बन्धन से मुक्ति कैसे ?

बहुत से लोग इन कर्मबन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हैं, परन्तु उन्हें मालूम नहीं कि बन्धनमुक्ति के उपाय कौन-कौन से हैं ?

आत्मा जब देहभाव में ओतप्रोत बनता है, देह को ही अपना सर्वस्व—साध्य समझकर प्रवृत्त होता है, तब ये सब पहले बताए हुए बन्धन के कारण आकर मिलते हैं और मनुष्य सहसा कर्मबन्ध कर लेता है। इसलिए देहभाव से मुक्त बनना ही वास्तव में बन्धन से मुक्त होने का उपाय है। देहभाव से मुक्त होने के साथ-साथ मनुष्य मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन ग्रहण करता है, हिंसा आदि से विरत होकर अहिंसा, सत्य आदि के परिपालन में प्रवृत्त होता है, प्रमाद का त्याग करके अप्रमाद को अपनाता है, क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करता है, किन्तु करता है आत्मलक्षी प्रवृत्ति। शुभयोग की प्रवृत्ति भी तब करता है, जब और कोई चारा नहीं होता।

कर्मबन्ध से मुक्त होने के जैनदर्शन में तीन उपाय बताए हैं—संवर, निर्जरा और मोक्ष। संवर के द्वारा नये आते हुए कर्मों को रोका जाता है। संवर क्या है? कैसे होता है? इस पर फिर कभी यथावसर चर्चा करूंगा।

निर्जरा के द्वारा पुराने बँधे हुए कर्मों को आंशिक रूप से क्षय किया जाता है। इसके लिए कभी-कभी उदीरणा भी की जाती है और कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त हो जाना मोक्ष है। यह मुक्त अवस्था तभी आती है, जब पहले चार घातीकर्मों को साधक क्षय कर देता है। तत्पश्चात् संवर और निर्जरा के माध्यम से अघातीकर्मों को भी आयुष्यपर्यन्त भोगकर क्षय कर डालता है। यही मुक्त अवस्था है।

परन्तु ये तीनों उपाय देहभाव से मुक्त होने पर शीघ्र कारगर हो सकते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

एक साधु थे। वे प्रतिदिन आध्यात्मिक विषय पर व्याख्यान देते थे। श्रोता

पिंजरे से छुटकारा पाते ही तोता पंख फड़फड़ाने लगा। सेठ ने उससे कहा—"अरे ! तू वापस जिंदा हो गया ?"

तोता बोला—"हाँ सेठजी ! मेरे गुरु ने मुझे बन्धनमुक्ति का यही उपाय बताया है।" यों कहकर तोता आकाश में उड़ गया।

सचमुच देहभाव ही आत्मा को बन्धन में डालने वाला तत्त्व है। देहभाव छोड़ कर आत्मभाव पर आते ही ये सब बन्धन टूट जाते हैं। शरीर जब भी कहे कि मुझे अमुक सुविधाएँ चाहिए, तब तुरन्त ही आपको कह देना है, इन सुविधाओं की खास जरूरत नहीं है, इसीलिए ये तुझे नहीं मिलेंगी, क्योंकि देह की सभी सुविधाएँ आत्मा के हित में नहीं हैं। इस प्रकार कठोरतापूर्वक शरीर की इस फर्माइश को ठुकरा देना होगा। तभी मानव बन्धनमुक्त हो सकेगा।

२

अहिंसा : क्यों, कैसे, किसकी ?

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ और बहनो !

आज मैं जीवन के एक महत्वपूर्ण तत्त्व की ओर आप सबका ध्यान खींचूँगा।
वह तत्त्व है—अहिंसा।

आप सम्भवतः श्रद्धालु होने के नाते यह सवाल नहीं उठाएँगे कि अहिंसा का
पालन क्यों करना चाहिए। आपको परम्परा से अहिंसा विरासत में मिली है इस
लिए सम्भवतः अहिंसा के पालन के विषय में शंकाशील नहीं होंगे, लेकिन अगर आप
से कोई विदेशी या अन्य धर्म का व्यक्ति यह प्रश्न पूछ बैठे तो आप उसके मन का
समाधान कैसे करेंगे ? क्या आप यह कहेंगे कि हमारे शास्त्रों में अहिंसा-पालन का
का विधान है या हमें अहिंसा के संस्कार परम्परा से मिले हैं अथवा अहिंसा
पालन करने की हमारे तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा है ? ये तीनों ही उत्तर ठो
सशक्त और सन्तोषजनक नहीं है। इतने से उत्तर से दूसरे देश या धर्म के लोगों का
समाधान नहीं हो सकता। इसीलिए हमें शास्त्रीय दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टि
इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ना होगा।

अहिंसा-पालन के पीछे शास्त्रीय दृष्टि

जब हम जैन-आगमों की गहराई में उतरते हैं तो एक बात स्पष्ट परिल
होती है, कि वे साधक को अहिंसा-पालन से पहले उसके दिल-दिमाग में यह
देना चाहते हैं, अहिंसा-पालन उसके लिए क्यों अनिवार्य है।

देखिए आचारांगसूत्र (२।३) का यह पाठ—

"सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजी
जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं ॥"

अर्थात्—हिंसा इसलिए नहीं करनी चाहिए कि सभी जीवों को अपनी
प्रिय है, सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख सबको प्रतिकूल लगता है, वध सबको
है जीवन प्रिय है। सभी जीना चाहते हैं। सबको जीवित रहना अच्छा लगता है

सूत्रकृतांगसूत्र में इसी से सम्बन्धित एक वचन है—

'सव्वे अक्कंतदुक्खा य अओ सव्वे अहिंसिया।'

"सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय लगता है, इसलिए किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।"

कितना सुन्दर समाधान है, अहिंसा-पालन का। भगवान महावीर समाधान करते है कि "ओ भव्यजीव ! क्या तुझे दुःख प्यारा लगता है ? क्या तेरी आयु को कोई नष्ट करने पर उतारू हो जाय, या कोई तेरा वध करने लगे, तेरी जिंदगी को नष्ट करने लगे, अथवा तेरे प्राणों को संकट में डालने लगे तो क्या तुझे वह अच्छा लगता है ? नहीं। जब तुम्हें दूसरे द्वारा मारा-पीटा जाना, दुखित-पीड़ित किया जाना या वध किया जाना या प्राणों को संकट में डाला जाना अच्छा नहीं लगता तो दूसरे प्राणियों को तुम्हारे द्वारा मारा जाना, दुःखित किया जाना या प्राण-हरण किया जाना कैसे अच्छा लग सकता है ? इसीलिए पुनः कहा—

आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता न विघायए।'

अपनी आत्मा से बाहर के अन्य प्राणियों को भी अपनी आत्मा के तुल्य देख। ऐसा विचार (आत्मवत्) करके तू न तो किसी का वध कर और न ही किसी दूसरे से वध करा।

इस पर भी यदि कोई साधक या व्यक्ति इतना सब विचार न करे और किसी को मारने-पीटने, सताने, वध करने, गुलाम बनाने, पीड़ा देने या भय-धमकी देने अथवा अन्य किसी प्रकार से हैरान करने लगे तो उसे उक्त हिंसाओं से विरत होने के लिए भगवान महावीर ने फरमाया—

तुमं सि नाम सच्चेव, जं हंतव्वं ति मन्नसि।

अर्थात्—'तू जिसको मारने योग्य समझता है, वह तू ही है अर्थात् उसकी और तेरी आत्मा एक ही है।'

आध्यात्मिक जगत् का यह माना हुआ तथ्य है कि जब व्यक्ति दूसरे सब प्राणियों (आत्माओं) को आत्मीय समझ लेता है, तब न तो किसी की हिंसा कर सकता है, न चोरी, न असत्य, और न ही परिग्रह वृद्धि की लालसा कर सकता है, क्योंकि ऐसा करने से दूसरे जिस पर बीतती है, उस को दुःख, पीड़ा, क्लेश होता है। क्या कोई अपने ही बन्धु, आत्मीय एवं मित्र के प्रति हिंसा आदि का कुकृत्य कर सकता है ? कदापि नहीं।

वास्तव में, जब मनुष्य दूसरे की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझता है, तब उसे दूसरे के दुःख, पीड़ा, वेदना और कष्ट अपने लगने लगते हैं। वह अहिंसा का पालन किये बिना रह नहीं सकता।

तथागत बुद्ध ने भी अपने उपदेशों में कहा है—

अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये।

'मनुष्य को चाहिए कि सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के तुल्य समझ कर किसी की हिंसा न करे, और न कराए।'

एक आध्यात्मिक पुरुष से पूछा गया कि आपने हिंसा का त्याग क्यों किया ? उसने कहा—आत्मा को अहितकर लगने के लिए तथा सभी प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य हैं, इसलिए उन्हें पीड़ा देना, अपनी आत्मा को पीड़ा देना है, यह समझ कर मैंने हिंसा का त्याग किया है।

सब प्राणियों को आत्मवत् समझने वाला व्यक्ति दूसरों के दुःख या कष्ट को देखकर रह ही नहीं सकता। जैनआगम अन्तकृद्दशांगसूत्र में श्रीकृष्ण की जीवनगाथा का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से अंकित है।

श्रीकृष्ण त्रिखण्डाधिपति वासुदेव थे। वे अपने भाई गजसुकुमाल के मुनि बन जाने के दूसरे ही दिन उनके तथा तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ हाथी पर बैठ कर जा रहे थे। साथ में अनेक राज्याधिकारी एवं कर्मचारी थे। रास्ते में श्रीकृष्ण ने अत्यन्त जराजीर्ण एक बूढ़े को देखा, जो अपने घर के बाहर लगे हुए ईंटों के ढेर में से एक-एक ईंट उठा कर अपने घर में रख रहा था। बूढ़ा हाँफ रहा था। बूढ़े को इस प्रकार के कष्ट में देखकर श्रीकृष्ण का हृदय अनुकम्पा से द्रवित हो उठा। उन्होंने फौरन ही अपने हाथ से एक ईंट उठाई और बूढ़े के घर में रख दी। श्रीकृष्ण द्वारा एक ईंट उठाते ही, साथ के राज्याधिकारियों और कर्मचारियों ने टपाटप सारी ईंटें उठा कर अन्दर रख दीं। बूढ़ा श्रीकृष्ण को प्रसन्न होकर अन्तर से आशीर्वाद देने लगा। यह था अहिंसा का अनिवार्य पालन।

अपने समान ही दूसरों का विचार करने से हिंसा त्याज्य और अहिंसा आचरणीय लगती है।

अहिंसा-पालन के पीछे व्यावहारिक दृष्टि

अहिंसा-पालन का एक दूसरा कारण है; वह व्यावहारिक है। हमारे सामने जीवन जीने के दो विकल्प हैं—एक हिंसा का, दूसरा अहिंसा का। आधुनिक भाषा में यों कह सकते हैं कि एक संघर्ष का मार्ग है, दूसरा है सहयोग का। दोनों में से मनुष्य को एक मार्ग का चुनाव करना हो तो वह किस मार्ग का चुनाव करके सुख से जी सकता है ? संघर्ष के मार्ग में पद-पद पर एक-दूसरे के साथ लड़ाई-झगड़ा, मारकाट, वैर-विरोध और द्वेष-वैमनस्य करके जीना है। इस मार्ग में किसी भी बात के लिए हिंसा किये बिना कोई चारा नहीं है। खाने-पीने के लिए संघर्ष, रहने-सोने के लिए परस्पर भिड़न्त, चलने-फिरने के लिए परस्पर झगड़ा करके दोनों में से एक जो जीतता है, वह अभीष्ट वस्तु को पा सकता है। यानी जीने के लिए दो की लड़ाई में विजयी ही जीवनयापन के साधन पाता है, दूसरा टुकुर-टुकुर देखता रह जाता है। अथवा पराजित व्यक्ति फिर अन्य किसी अपने से निर्बल के साथ लड़कर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करता है। इस प्रकार के अविरत संघर्ष में जो खत्म हो गया, वह सदा के लिए जीवन से हाथ धो बैठता है। जो रहता है, वह भी अशान्त बनकर रहता है। उसे

भी पद-पद पर यह आशंका रहती है कि कहीं मुझसे कोई जबर्दस्त आकर मेरे जीने के साधनों को छीन न ले।

प्रागैतिहासिक काल का आदिमानव, जो जंगलों में रहकर गुजर-बसर करता था, इसी प्रकार परस्पर लड़-भिड़कर दूसरे पशु का मार-काट कर उसके साधनों को छीन लेता था। परन्तु आदिमानव प्रारम्भ में चाहे अकेला ही लड़ता-भिड़ता रहा हो, बाद में वह गिरोह बनाकर दूसरे गिरोह से लड़ता-भिड़ता था। जंगली जानवरों का शिकार करके प्रायः अपना पेट भरता था।

क्या इस प्रकार का हिंसामय जीवन बिताना सुखदायी है ? क्या ऐसे संघर्षरत जीवन से मनुष्य सुख-शान्ति और अमनचैन से रह सकता है ? क्या रात-दिन ऐसे वैर-विरोध और विद्वेष-वैमनस्य से युक्त जीवन वाला व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान में तरक्की कर सकता है ? अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है ? प्रायः ऐसे अहर्निश संघर्षमय जीवन को जैन परिभाषा में नारकीय जीवन कहा जाता है। पाशविक जीवन भी इसी से मिलता-जुलता संघर्षरत जीवन है। पशुओं को भी अपने पेट भरने के लिए सुबह से शाम तक इसी टोह में घूमना पड़ता है या मालिक के अधीन रहकर कष्टमय जीवन बिताना पड़ता है।

ऐसे संघर्षमय या हिंसापरायण जीवन का सिद्धान्त था—'मारो और जीओ।'

दूसरा सिद्धान्त जो जैन महर्षियों या तीर्थंकरों ने बताया है—अहिंसापूर्वक जीवन जीने का—परस्पर सहयोग से जीने का। उन्होंने 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त आम जनता के सामने रखा। अर्थात्—उनका मन्तव्य था कि मानव और मानवेतर सभी प्राणियों को जीना है। सभी सुख से जीना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है, मानव अपने से भिन्न मानव का या दूसरे प्राणियों की सुख-सुविधा का ध्यान रखकर उतने ही पदार्थों का उपयोग करे जितने से काम चल जाए। कम से कम पदार्थों से जीवनयापन करने के लिए उन्होंने मानवों को प्रेरित किया। भगवान महावीर ने जनता के सामने यह सिद्धान्त रखा कि मैत्रीपूर्वक जीओ, वैर विरोधपूर्वक नहीं।[1] इसी प्रकार की अनुभवयुक्त बात तथागत बुद्ध ने कही—

'नहि वेरेण वेराणि, सम्मन्तीध कदाचन'

—वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता। अवैर—परस्पर सहयोग, क्षमा, सहानुभूति आदि से ही शान्ति और सुखद जीवन हो सकता है।

जैनदर्शन के धुरन्धर आचार्यों ने भी कहा—

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'

—जीवों का स्वभाव परस्पर उपकार करना है।

---

१ 'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई'

बच्चे का जन्म होते ही माता उसकी रक्षा, संवर्द्धन, पालन-पोषण करुणा और अनुकम्पा की दृष्टि से करती है। यानी माँ अपने बच्चे को जन्मघुटी में ही अहिंसा की प्रेरणा अपने जीवन-व्यवहार से देती है। अगर संघर्ष (हिंसा) से वह काम लेती तो बच्चे को जन्म देने के बाद भगवान के भरोसे छोड़ देती। माता के हृदय में निहित अहिंसा ही बालक का रक्षण, पालन-पोषण और संवर्द्धन उसमें कराती है।

मनुष्य को अगर अपना पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन सरस, आनन्दमय, आह्लादमय, निश्चिन्त और शान्त बनाना हो या बिताना हो तो उसके लिए अहिंसा को अपनाना अनिवार्य है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में कहा है—

अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारणिः।

संसाररूपी मरुस्थली में अहिंसा ही एक अमृत का झरना है।

परलोक में सुगति एवं सुख-शान्ति के लिए भी अहिंसा अनिवार्य

अहिंसा को इसलिए भी अपनाना अनिवार्य है कि इस लोक में मनुष्य जब हिंसा, संघर्ष, मारकाट, वैर-विरोध और द्वेष-वैमनस्य का व्यवहार करता है तो निश्चय ही उन मनुष्यों या जीवों के साथ वैर बंध जाता है, उसके बाद जब वह इहलोक से विदा होता है, तब भी उस शत्रुता की गांठ परलोक में ले जाता है। मरने वाला प्राणी भी परलोक में अपने साथ हुई हिंसक घटना की प्रतिक्रियास्वरूप उससे बदला लेता है।

इस प्रकार इस लोक में की गई हिंसा के कारण बँधी हुई वैर परम्परा जन्म-जन्मान्तर तक चलती है। अगर इस वैर-परम्परा को रोकना हो, और परलोक में सुख-शान्ति और सुगति प्राप्त करना हो तो अहिंसा को अपनाए बिना कोई चारा नहीं है।

अहिंसा से इहलौकिक वैभव

कई लोग जन्म से ही पंगु, कोढ़ी, लूले-लंगड़े, बेडौल, बदसूरत और रोगी ते हैं। क्या आपने कभी सोचा है कि ये इस प्रकार के विकलांग और कुरूप व्यक्ति ो होते हैं? आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि ये सब हिंसा के कुफल हैं। जो व्यक्ति जन्म में हिंसा करता है, उसे अगले जन्म में कुरूपता, विकलांगता, रोग और ायुष्कता प्राप्त होती है। अगर व्यक्ति ने पूर्वजन्म में अहिंसा का पालन किया ो उसे उसके परिणामस्वरूप उत्तम फल प्राप्त होता है। देखिये योगशास्त्र का ण—

दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं, श्लाघनीयता।
अहिंसायाः फलं सर्वं किमन्यत्कामदैव सा।

अर्थात्—"लम्बी उम्र, श्रेष्ठ रूप, नीरोगता और प्रशमायुक्त जीवन, ये सब अहिंसा के ही फल है। अधिक क्या कहे, अहिंसा सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाली कामधेनु है।" बृहस्पति स्मृति में तो स्पष्ट कहा है—

रूपमारोग्यमैश्वर्यमहिंसाफलमश्नुते।

सुन्दर रूप, नीरोग शरीर और सुख-सामग्री एवं वैभव, मनुष्य ये सब अहिंसा के फलस्वरूप प्राप्त करता है।

अहिंसा की शरण में आकर ही भयभीत, पीड़ित और दुःखित मनुष्य सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। अहिंसा भगवती ही माता की तरह सारे संसार के ओर पोसनी है, आश्वासन देती है और आश्वस्त करती है, हिंसा नहीं। त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का कुशलक्षेम करने वाली अहिंसा है। ज्ञानार्णव में अहिंसा की विशेषता बताते हुए कहा है—

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी, श्रीरहिंसैव शाश्वती॥

—अहिंसा ही जगत् की माता है, अहिंसा ही आनन्द की पगडण्डी है। अहिंसा ही उत्तम गति है और अहिंसा ही शाश्वत लक्ष्मी है। आत्मा के यथार्थ विकास के लिए, यहाँ तक आत्मविकास के चरम रूप मोक्ष के लिए अहिंसा का पालन अनिवार्य है।[१]

इसीलिए सभी धर्मों के ग्रन्थों में अहिंसा को परमधर्म कहा है।

क्या अब भी हिंसा और अहिंसा इन दोनों में से किसी एक को अपनाता है तो अहिंसा की उपादेयता में सन्देह रह जाता है?

एक अनुभव की बात लीजिए—एक व्यक्ति नंगी तलवार हाथों में लिए आँखें लाल-लाल करके दूसरे व्यक्ति पर आक्रमण करने आता है। इतने में ही दूसरा व्यक्ति जो दयालु है, एकदम वहाँ आकर मारने वाले उक्त व्यक्ति को रोकता है और कहता है कि ठहर जाओ। बचाना (रक्षा करना) मेरा धर्म है। परन्तु वह कहता है—'मारना मेरा धर्म है।' बताइए इन दोनों में कौन-सा धर्म सच्चा है और उपादेय है, तथा कौन-सा अधर्म और त्याज्य है? इसका वास्तविक निर्णय तो जिस पर मारने के लिए उतारू हो रहा है, उसी व्यक्ति से पूछकर हो सकता है। जो व्यक्ति मारा जा रहा है, वह तो यही कहेगा—बचाना धर्म है, वही उपादेय है, मारना कदापि धर्म नहीं हो सकता। वह हठमूढ़ ही मारने को धर्म कहता है।

निष्कर्ष यह है कि अहिंसा ही सच्चा धर्म है, वही उपादेय है, हिंसा कदापि धर्म और उपादेय नहीं हो सकती। इसीलिए मानव-जीवन की सर्वांगीण उत्कर्ष में अहिंसा का अत्यन्त उपयोगी है।

---

१ सर्ग ८ व निम्नर्हिंसकरण—शुभचन्द्राचार्य।

को झूठी कहकर अपनी मान्यता का मण्डन और दूसरों की मान्यता का खण्डन करने लगे। अनेकान्तवादी ही एकान्तवादी बन गए। एकान्तवाद के नशे में वे दूसरों पर कीचड़ उछाल कर उन्हें जनता में गम्भीर रूप से मिथ्यात्वी और नास्तिक कहने लगे।

अनेकान्त का अर्थ और दृष्टि

सामान्यतया विचारों के समन्वय को ही अनेकान्त कहा जा सकता है। जहाँ किसी एक अन्त यानी मतविशेष या पक्षविशेष का आग्रह न हो, वहाँ अनेकान्त है। जीवन के प्रत्येक अंग या पहलू को भलीभांति समझना हो तो अनेकान्त का आश्रय लिये बिना कोई चारा नहीं है। सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार अनेकान्त के बिना हो नहीं सकता। कोई व्यक्ति किसी एकान्त या एक विचार को ही सत्य मानकर आग्रहवश उसे ही पकड़ ले, और यह कहता फिरे कि मैंने जो पकड़ लिया या जो मेरा मत है, वही सत्य है, दूसरे सब असत्य हैं, तो उसे सर्वांगीण पूर्ण सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि के शब्दों में अनेकान्ती और एकान्ती का स्वभाव सुनिये—

आग्रहीवत् निनीषति युक्तिं तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

अर्थात्—"कदाग्रही व्यक्ति की जिस विषय में पहले से बुद्धि गड़ी हुई होती है, उसी विषय में वह अपनी युक्ति लगाता है। परन्तु पक्षपातरहित अनाग्रही व्यक्ति की बुद्धि वहीं प्रवेश पाती है, जहाँ युक्तिसिद्ध बात हो।"

इसलिए अनेकान्तवाद निष्पक्षता, समता, नम्रता, सत्यग्राहिता और वैचारिक अहिंसा की साधना है। विचारों के समन्वय और समत्व पर जब जोर दिया गया, उसी में से अनेकान्त दृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ।

जैनधर्म में अनेकान्त का विशिष्ट विश्लेषण

यों तो बौद्ध, मीमांसक, वेदान्त आदि सभी दर्शनों में एक या दूसरे प्रकार से अनेकान्त के बीज मिलते हैं। परन्तु जैनदर्शन ने शास्त्रों में अनेकान्त के यत्र-तत्र बिखरे हुए बीजों को पद्धतिपूर्वक व्यवस्थित करके उसे पल्लवित-पुष्पित किया है। जैनदर्शन ने अनेकान्तवाद सिद्धान्त के माध्यम से अन्य दर्शनों के कथन को भी सम्मान दिया है, यह कहकर कि जिस किसी ने जो कुछ कहा है, वह अमुक-अमुक अपेक्षा से उचित है—सत्य है। साथ ही वह उनसे यह कहता है कि अपने-अपने एकांगी कथन को ही पूर्णसत्य समझने की भूल मत करो। यही समझो कि दूसरे दर्शनों के विचार में भी अमुक-अमुक अपेक्षा से आंशिक सत्य है। नम्र बनकर जहाँ भी सत्य मिले उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करो, उसके भी दृष्टिकोण को समझो। इस प्रकार जैनदर्शन परस्पर विवाद करते हुए अन्य एकान्तवादी दर्शनों का पारस्परिक विरोध मिटाता है, उनमें समन्वय बुद्धि स्थापित करता है। अहिंसा की विशुद्ध भूमि पर अनेकान्त का व्यवस्थित समन्वयात्मक दृष्टि से युक्त विशाल महल खड़ा है। जिसमें सबके लिए समुचित यथा-योग्य आदर है। जैनधर्म अनिन्दक धर्म है, राग-द्वेष को हटाने वाला धर्म है। वह

हिंसा, घृणा और द्वेष को प्रोत्साहित करना है और इस भावहिंसा से बचने के लिए अनेकान्तवाद का उपाय बताया है।

जैनदर्शन का यह उदार विचार है कि इस विचारों के विशाल उद्यान में अनेक दृष्टिकोणों के सुन्दर सुगन्धित रंग-बिरंगे पुष्प खिलें और महकें। बगीचे में एक ही प्रकार के बजाय नाना प्रकार के विविध रंगों के पुष्प हों तो शोभा बढ़ाने वाले को वह रंगीन और सुहावना लगता है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति रूपी वाटिका में विविध विचारों की रंग-बिरंगी क्यारियाँ हों तो वह भी रंगीन और शोभित लगती है। अनेकान्त सिद्धान्त के कारण प्रत्येक दर्शन या धर्म व व्यक्ति को अपने संकीर्ण दृष्टिकोण से ऊपर उठकर एक-दूसरे के निकट आकर मैत्री और सौहार्द स्थापित करने का अवसर मिलता है।

अनेकान्तवाद विषमता और तज्जनित संघर्ष, द्वेष, घृणा आदि के विष से मुक्त मधुर निर्वैरता का सन्देश देता है।

अनेकान्तवाद क्या और कैसे ?

अनेकान्तवाद की जगह शास्त्र में स्याद्वाद शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। वैसे इसके दो नाम और भी प्रचलित हैं—सापेक्षवाद और समन्वयवाद।

वैसे अनेकान्तवाद और स्याद्वाद एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं, जैसे एक सिक्के के दो बाजू। परन्तु ऊपर से एक प्रतीत होते हुए भी इन दोनों के अर्थ में जरा अन्तर है। अनेकान्त वस्तुदर्शन या वस्तुविश्लेषण की विचारपद्धति है, जबकि स्याद्वाद उसकी भाषापद्धति है। चूँकि वस्तु में सिर्फ एक ही धर्म नहीं होता है, उसमें विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्त धर्म रहे हुए होते हैं। उन अनन्त धर्मों द्वारा वस्तुस्वरूप पर चिन्तन करने की विशुद्ध शैली अनेकान्तवाद है, तथा वस्तुगत उन अनन्त धर्मों के पीछे रही हुई विभिन्न अपेक्षाओं को दूसरे के समक्ष निरूपण करना, उसका रहस्य खोलना स्याद्वाद है।

मान लीजिए, एक आम है। उसमें रूप भी है, रस भी है, गन्ध भी है, स्पर्श भी है, भूख मिटाने, निर्बलता मिटाने, रोग निवारण करने आदि की शक्ति है, किसी अपेक्षा से वह रोग भी पैदा कर देता है, आलस्यकारक भी है, इत्यादि अनेक पहलू सिर्फ एक आम्रफल के सम्बन्ध में हो सकते हैं। हमारी बुद्धि सीमित है। हमें किसी भी वस्तु में निहित अनन्त धर्मों का ज्ञान नहीं है, अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ ही उसे जान सकते हैं। अतः पदार्थों को विभिन्न पहलुओं और दृष्टिबिन्दुओं से देखने और कहने का नाम ही अनेकान्तवाद है।

सापेक्षवाद वस्तु के विभिन्न रूपों की अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर सोचने का सिद्धान्त है, और समन्वयवाद का अर्थ है—सभी के द्वारा कही गई बातों के विरोध को मिटाकर मेल-मिलाप की दृष्टि से सोचने और कहने का सिद्धान्त। अर्थात्—'यही

(ऐसा) ही है' का आग्रह छोड़कर 'यह भी हो सकता है' कहकर किसी को स्वीकार करने का सिद्धान्त समन्वयवाद है।

ये सब अनेकान्तवाद के पर्यायवाची शब्द मालूम होते हैं। इन सब से एक ही बात ध्वनित होती है कि अनेकान्तवाद सौहार्दभावमूलक दृष्टि है, जिसके सातों नय मिलकर एक पूरे सत्य की रचना करते हैं। अनेक स्वरों में वह आकर्षण है, जिसमें सभी के आग्रह विगलित हो जाते हैं, जो मिलकर चलने की प्रेरणा देता है।

अनेकान्तवाद को समझिए

अनेकान्तवाद या अपेक्षावाद को समझाने के लिए हमारे आन जन्मान्ध मित्रों का उदाहरण दिया है।

एक गाँव में ६ जन्मान्ध मित्र रहते थे। एक दिन वहाँ एक हाथी आ गया। ग्रामीण लोगों ने कभी हाथी देखा नहीं था। इसलिए सारे गाँव में धूम मच गई। अन्धों ने सुना तो वे भी हाथी को देखने दौड़े। बेचारे आँखों से तो क्या देखते, हर एक ने अपने-अपने हाथ से हाथी को टटोला। सबने हाथी के एक-एक अंग को पकड़ कर समझ लिया कि मैंने जैसा जाना है, वैसा ही यह हाथी है। सबसे पहले सूँड पकड़ने वाला अन्धा बोला—"भाई! हाथी तो मूसल जैसा है।"

अब पूँछ पकड़ने वाले से नहीं रहा गया। वह बोला—"बिलकुल झूठ! हाथी ऐसा है ही नहीं। वह तो बिलकुल मोटे रस्से-सा है।" तीसरा दाँत पकड़ने वाला सूरदास बोला—"क्यों व्यर्थ की गप्पें हाँकते हो? हाथी तो कुश या कुदाल जैसा है।"

इस पर चौथा कान पकड़ने वाला अंधा कहने लगा—"क्यों बकवास करते हो? हाथी कहीं ऐसा होता है? वह तो छाज (सूप) जैसा है?" पाँचवें पैर पकड़ने वाले सूरदास ने कहा—"अरे! नाहक क्यों झूठ बोलते हो? हाथी तो खम्भे जैसा है। मैंने अच्छी तरह टटोला है।" अब तो छठा अंधा, जिसने हाथी का पेट पकड़ा था, गर्ज उठा—"अरे, कुछ भगवान् का तो डर रखो। मेरी आँखें भले ही काम नहीं दे सकतीं, पर हाथ तो धोखा नहीं दे सकते। हाथी ठीक अनाज भरने की कोठी जैसा है।"

बस अब क्या था! सब अन्धों में वाक्कलह ठन गया। सब एक-दूसरे को भला-बुरा कहने लगे।

इतने में एक सुआँखा सत्पुरुष वहाँ आ गया। वह इन अंधों का विवाद सुन कर हँस पड़ा। पर दूसरे क्षण सोचा—'इन बेचारों का क्या दोष है, इन्हें आँखों से तो दीखता नहीं, हाथी के एक-एक अंग को छूकर ही ये लोग अपनी-अपनी बात को सही समझ रहे हैं और दूसरे की बात को झूठी। अतः उसने सहृदयता से कहा—"भाइयो! क्यों लड़ते हो? मैं तुम्हें इसका स्वरूप बताऊँगा। तुम सब सच्चे भी हो, और झूठे भी। तुममें से जिसके हाथ में जो अंग आ गया, उसी के समान पूरे हाथी

को समझ रहे हो। दूसरों को झूठा कहना छोड़कर तुम लोग एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझो। हाथी मूसल जैसा भी है, सूँड की अपेक्षा से। हाथी रस्सा-सा भी है, पूँछ की दृष्टि से। दाँतों के लिहाज से हाथी कुश-कुदाल जैसा भी है। वह खम्भा-सा भी है, पैरों की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी-सरीखा है पेट के लिहाज से। इसी तरह हाथी छाज-सा भी है, कान की अपेक्षा से। इस तरह समझदार नेत्रवान् भाई ने समझा-बुझाकर एकान्त की आग अनेकान्त के जल से बुझा दी। सभी अन्धे अपनी भूल समझे और कृतज्ञता प्रगट करते हुए बोले—'भाईसाहब! आपने हमें अपनी भूल समझाकर हाथी का असली स्वरूप बताया। वास्तव में सभी अंगों को एक साथ मिलाकर देखने से ही पूरे हाथी का स्वरूप बनता है।'

अन्धे हाथी के एक-एक अंग को टटोल कर उसी को सच्चा मान बैठे थे, तथा हठ कर रहे थे। सुआँखे ने हाथी का सम्पूर्ण स्वरूप समझाया, तब जाकर उनका विवाद खत्म हुआ। स्याद्वाद भी इसी तरह आँखों वाला दर्शन है, वह एकान्तवादी अन्य दर्शनों को बताता है कि तुम्हारी मान्यता एक दृष्टि से ठीक हो सकती है, सभी दृष्टियों से नहीं। स्याद्वाद कहता है, अपने माने हुए एक अंश को बिलकुल सत्य और दूसरे अंशों को सर्वथा असत्य कहना यथार्थ नहीं। वह सर्वथा एकान्तवादी दर्शन का उसकी भूल बताकर विभिन्न अपेक्षाओं से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करता है। वह प्रत्येक धर्म, सम्प्रदाय और दर्शन की वास्तविक मान्यता को अमुक अपेक्षा से सत्य हो तो सत्य बतलाकर साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता और कट्टरता को मिटाने तथा परस्पर सौहार्द स्थापित करने की क्षमता रखता है।

अनेकान्तवाद का फलितार्थ

इसलिए अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का फलितार्थ है—विचारों की सहिष्णुता। दूसरे के विचारों में जो सत्यांश है, उनकी उपेक्षा न करके उन्हें सहर्ष अंगीकार करना। 'मेरा सो सच्चा' इस संकीर्ण मन्तव्य को तिलांजलि देकर 'सच्चा सो मेरा' इस सिद्धान्त को अपनाना ही अनेकान्तवाद को जीवन में उतारना है। बहुत-से लोग अनेकान्तवाद की बड़ी-बड़ी बातें तो बघारते हैं, परन्तु जब अपने मिथ्या अथवा एकान्त आग्रह को छोड़कर अनेकान्त को जीवन में उतारने का समय आता है, तब लड़खड़ाने लगते हैं। तब वे यों कहने लगते हैं—"क्या हम अपने मन्तव्य को छोड़ दें? अपने मत (तथाकथित एकांगी सिद्धान्त) को छोड़ देना तो स्वगौरव का हनन है।" अनेकान्तवाद कहता है—'तुम्हें अपने माने हुए मन्तव्य को छोड़ देने को कहता कौन है? परन्तु उसे ही एकान्त और अन्तिम सत्य न समझ लो, दूसरे उसके जैसे मतों की उपेक्षा न करो, उन पर भी उक्त दृष्टिकोण से सोचने का प्रयत्न करो। इसी एकान्तवाद, मताग्रह, दुराग्रह, तथा 'मेरा सो सच्चा' के स्वत्वमोह के कारण परिवार, समाज, राजनैतिक पार्टी, राष्ट्र, प्रान्त, धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन, वाद आदि में परस्पर संघर्ष, वाक्कलह और युद्ध आदि होते हैं, अशान्ति की ज्वाला धधक उठती है। पिता और पुत्र में, भाई-भाई

मे, पडोसी-पडोसी मे, सास-बहू मे, गुरु-शिष्य मे और देवरानी-जिठानी मे एक दूसरे के प्रति मनोमालिन्य, सघर्ष और विसंवाद है। क्या सम्प्रदाय, क्या धर्म, क्या दर्शन, क्या राजनीति, क्या परिवार और क्या समाज सर्वत्र, जीवन के सभी क्षेत्रों मे अलग-अलग दल, गुट, सम्प्रदाय और वाद के अखाडे बन गये है। इस मनमुटाव और लडाई-झगडे का कारण पूछने पर उत्तर मिलेंगे—प्रकृति नहीं मिलती, विचार भेद है, कार्यपद्धति मे अन्तर है, मनोभेद है, अपना हम सच्चे है, ये झूठे है इत्यादि। किन्तु अनेकान्तवाद का जीवन मे प्रयोग किया जाय तो ये सब उत्तर थोथे जान पडेंगे, वे सब दलीलें लचर मालूम होंगी। वास्तव मे मनुष्य आज अपनी बात को सर्वाधिक महत्त्व देता है, दूसरे की बात सत्य और युक्तियुक्त हो, तथापि वह मानने को तैयार नही होता। इसीलिए आज विश्व मे, सभी क्षेत्रो मे मनमुटाव, क्लेश, लडाई झगडा, द्वेष, घृणा, वैरविरोध दृष्टिगोचर हो रहे है। इन मिथ्याग्रही लोगों ने ही समाज, धर्म, जाति और राष्ट्र का आन्तरिक स्वास्थ्य चौपट कर दिया है। ऐसे लोगों से अनेकान्त कहता है—"उदार बनो! वैचारिक सकीर्णता, झूठी पकड़ या मिथ्या आग्रह छोडो। जहाँ कहीं भी सत्यता है, जिस अपेक्षा से जो बात यथार्थ है, उसे स्वीकार करो। हठवाद की बीमारी को जब तक नही मिटाया जाएगा, जब तक परिवार, समाज, राष्ट्र, जाति और धर्म-सम्प्रदाय का जीवन सुख-शान्तिमय नहीं बन सकेगा।

मान लीजिए, दो आदमी आपस मे लड रहे है। एक कहता है, दिल्ली पूर्व में है, जबकि दूसरा कहता है—नही जी, दिल्ली पश्चिम मे है। ये दोनो परस्पर विरोधी बातें है। इसलिए दोनो मे टकराव हुआ। सघर्ष बढ़ने लगा। इतने मे एक अनेकान्तवाद का उपासक आ पहुँचा। उसने सघर्ष का कारण जानकर कहा—भाइयो! लडो मत। आओ मेरे साथ मैं तुम्हे बताता हूँ दिल्ली कैसे पूर्व मे है और कैसे पश्चिम मे है। वह दोनो को बहादुरगढ़ ले गया और वहाँ जाकर दिल्ली को पश्चिम मे बताने वाले से उसने पूछा—"कहिये महाशयजी! यहाँ से दिल्ली किधर है?" उसने उत्तर दिया—पूर्व मे। अत दिल्ली को पूर्व मे बताने वाला खुश हो गया। अब वह अनेकान्ती उन दोनो को गाजियाबाद ले गया और दिल्ली पूर्व मे बताने वाले से पूछा—"कहिये महाशयजी! यहाँ से दिल्ली किधर है?" उसने उत्तर दिया—"यहाँ से तो दिल्ली पश्चिम मे है।"

अनेकान्ती ने कहा—"दोनो का समाधान हो गया न! बहादुरगढ की अपेक्षा से दिल्ली पूर्व मे है और गाजियाबाद की अपेक्षा से दिल्ली पश्चिम मे है अत दिल्ली पूर्व मे भी है, पश्चिम मे भी है।" यो 'ही' के बदले 'भी' लगाकर दोनो को सन्तुष्ट कर दिया। सघर्ष मिट गया। दोनो प्रेम से विदा हुए।

निष्कर्ष यह है कि 'भी' अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है, 'ही' मिथ्यावाद। अनेकान्त से वस्तु को सही रूप मे समझने के लिए अपेक्षा या दृष्टिकोण पर सर्वप्रथम ध्यान जाना आवश्यक है।

मान लीजिए, एक आदमी पूना के बम्बई बाजार में जा रहा है। सामने से उसके पिताजी आ गये। उन्होंने कहा—'बेटा !' इतने में दूसरी ओर से उसका लड़का आ गया। उसने कहा—'पिताजी !', तीसरी ओर से एक विद्यार्थी आया, उसने कहा—'मास्टरजी !' चौथी ओर से उसका भानजा आ गया, उसने कहा—'मामाजी !' अब कोई झगड़ा करता हुआ यह कहे कि यह आदमी तो पुत्र है, या पिता ही है, अथवा मास्टर ही है या मामा ही है, या चाचा, ताऊ, भानजा, भाई आदि ही है, तब तो कोई भी निर्णय न होगा, सभी लड़ते रहेंगे। स्याद्वाद इस सम्बन्ध में निर्णय करने वाला न्यायाधीश होगा। वह पहले व्यक्ति से कहेगा—'यह व्यक्ति *अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, अपने विद्यार्थी की* अपेक्षा से मास्टर है और भानजे की अपेक्षा से मामा है। और भी विभिन्न अपेक्षाओं से यह चाचा, ताऊ, मानजा आदि सब है। एक ही आदमी में अनेक धर्म हैं, परन्तु हैं वे विभिन्न अपेक्षाओं से। यह नहीं कि पुत्र की अपेक्षा से पिता है, उसी की अपेक्षा से पुत्र हो।' ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ विज्ञान के नियमों के विरुद्ध है।

एक और उदाहरण द्वारा इसे समझाता हूँ—

एक जगह कुछ लड़के खेल रहे थे। उनमें एक मन्त्री का लड़का भी था। अचानक उधर से अकबर बादशाह आ गये। लड़कों को खेलते देख उन्होंने उनकी बुद्धि की परीक्षा के लिए छोटी-सी लकीर खींची। फिर पूछा—"बताओ यह लकीर छोटी है या बड़ी ?" सबने कहा—छोटी है। "क्या इसको काटे या बढ़ाये बिना यह बड़ी हो सकती है या नहीं ?" यह सुनते ही सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। बीरबल मन्त्री के पुत्र ने कहा—"हुजूर ! मैं इसे बड़ी बना सकता हूँ।" उसने बादशाह से लकड़ी लेकर उस लकीर के बराबर में एक और छोटी लकीर खींच दी। और कहा—"हुजूर ! यह देखिए पहले वाली लकीर बड़ी हो गई न !" यही सत्य अनेकान्तवाद से प्रस्फुटित होता है। कोई-भी वस्तु छोटी भी हो सकती है और बड़ी भी। इस प्रकार संसार का कोई भी व्यवहार अनेकान्तवाद के बिना नहीं चल सकता। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अनेकान्तवाद की स्तुति करते हुए कहा था—

> जेण विणावि लोगस्स ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
> तस्स भुवणेक्कगुरुं णमो अणेगन्त वायस्स ॥"

—'जिस अनेकान्तवाद रूप सिद्धान्त के बिना लोक-व्यवहार बिलकुल नहीं चल सकता। उस समस्त लोकों के गुरु अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार हो।"

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में निहित सभी विशेषताओं को ध्यान में रखकर अपनी भाषा का प्रयोग करेंगे तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकेगी।

अनेकान्त का प्रयोग सभी क्षेत्रों में

अनेकान्त केवल व्यावहारिक क्षेत्र के अटपटे विवादों का ही निपटारा नहीं

है और दूसरों को संसार सागर से पार करता है, इसलिए उसे धर्मतीर्थ कहते हैं। यही कारण है साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका का चतुर्विध संघ भी जैन दृष्टि से तीर्थ कहलाता है।

ऐसे तीर्थंकरों को वीतराग, जिन, जिनेन्द्र, अरिहन्त आदि भी कहते हैं।

तीर्थ का अर्थ घाट भी होता है। तीर्थंकर संसाररूपी भयंकर विराट नद को आसानी से पार करने के लिए धर्म का घाट बनाते हैं, अलग-अलग कोटि के मनुष्यों के लिए अलग-अलग धर्ममर्यादाएँ स्थिर करते हैं। इन्हीं धर्ममर्यादाओं को व्यवस्थित रूप तीर्थ रचना करना है। ऐसी तीर्थ रचना तीर्थंकर करते हैं। संसाररूपी महानद बड़ा भयंकर है। उसमें काम, क्रोध, लोभ, माया, मोह आदि हजारों विकराल मगरमच्छ हैं, भँवर हैं, गर्त हैं, उन्हें पार करना आसान नहीं है। अतः परम करुणालु तीर्थंकर देव विचार-आचारमय (श्रुतचारित्रमय) धर्म को आचार संहिता बनाकर विभिन्न कोटि के साधकों के समक्ष प्रस्तुत कर देते हैं। जिसे जिस मार्ग पर चलने की रुचि एवं श्रद्धा होती है, उसे उस मार्ग पर चलने के लिए तीर्थंकर भगवान् ने एक राजमार्ग बना दिया है जिससे संसाररूपी दुस्तर एवं भीषण नद को पार करने में हरएक को आसानी हो।

यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा धर्मसंघ तो कोई बुद्धिमान और पढ़ा-लिखा चालाक व्यक्ति भी खड़ा कर सकता है। हजारों चेले-चेलियाँ भी मूंड सकता है और लाखों भक्त भी बना सकता है। ऐसी कला तो आजकल बहुत से मायाभट्ट एवं हुनरबाज व्यक्तियों में होती है। क्या उनको भी तीर्थंकर कहा जा सकता है? अगर इस प्रकार के व्यक्ति को तीर्थंकर कहा जायगा, तब तो एक ही शताब्दी में अनेकों तीर्थंकर देखने को मिलेंगे। और अगर ऐसे व्यक्तियों को तीर्थंकर नहीं मानते हैं, तब तो यह कहा जाएगा कि जैनधर्म का अमुक व्यक्ति के प्रति पक्षपात है। ऐसा क्यों?

तीर्थंकर बनने के लिए जैनधर्म का एक मापदण्ड है, और उस मापदण्ड के अनुसार किसी मनचले, सुशिक्षित, वाचाल और अवसरवादी पटु व्यक्ति को तीर्थंकर नहीं माना जा सकता। तीर्थंकर बनने के लिए सर्वप्रथम राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होना आवश्यक है, तत्पश्चात् उसे केवलज्ञानी, केवलदर्शनी, यथाख्यातचारित्री एवं चार घनघाती कर्मों से रहित त्यागी मुनिवेषी होना आवश्यक है। साथ ही मानव की अपूर्णता (छद्मस्थता) के सूचक १८ दोषों से उसका सर्वथा मुक्त होना अनिवार्य है। वे १८ दोष ये हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) अज्ञान, (३) क्रोध, (४) मान, (५) माया, (६) लोभ, (७) रति (हर्ष), (८) अरति (खेद), (९) निद्रा, (१०) शोक, (११) अलीक (झूठ), (१२) चोरी, (१३) मत्सर (डाह) (१४) भय, (१५) हिंसा, (१६) राग (आसक्ति), (१७) क्रीड़ा (खेलतमाशा नाचरंग देखने की वृत्ति), (१८) हास्य (हँसी-मजाक करना)।

व्यक्ति जब तक इन १८ दोषों से रहित नहीं होता, तब तक चाहे कोई

कितना ही महापण्डित हो, महात्मा हो, या चाहे कितना ही समाजनिर्माणकुशल हो, वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नहीं पहुँच पाता, इसलिए उसे तीर्थंकर नहीं कहा जा सकता है। १८ दोषों से मुक्त होने पर ही व्यक्ति आत्मशुद्धि के उच्च शिखर पर पहुँच कर केवलज्ञानी, केवलदर्शी बन पाता है। वह समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा हो जाता है।

कई लोग यों कह देते हैं कि जैनधर्म में तीर्थंकर को ईश्वर का अवतार माना जाता है, परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। जैनधर्म अवतारवाद को नहीं मानता। वह यह नहीं मानता कि सृष्टि का कर्ता-हर्ता, कोई सहस्रबाहु ईश्वर दुष्टों का नाश करने एवं सज्जनों की रक्षा करने हेतु दयाभाव लाकर गोलोक, सत्यलोक या वैकुण्ठ (मुक्तिधाम) आदि से दौड़कर वापस संसार में जन्म लेता है। ऐसा व्यक्ति ईश्वर का अवतार कहलाता है। जैनधर्म अवतारवादी नहीं, उत्तारवादी है। उसका कथन है कि मनुष्य असीम शक्तियों का पुंज है। वह जब संसार की मोहमाया का पर्दा चीरकर घनघाती कर्मों को नष्ट कर देता है, तब स्वयं केवलज्ञान, केवलदर्शन एवं यथाख्यातचारित्र को पाकर वीतराग अर्हत्पद पर पहुँच जाता है। इस प्रकार एक दिन जो मानव वासनाओं का गुलाम एवं कर्ममल से लिप्त था, वही व्यक्ति एक दिन जीवन्मुक्त तीर्थंकर बन जाता है। मगर उसमें इतना आत्मतेज एवं आत्मबल होना चाहिए कि बड़े-से-बड़े संकटों एवं परीषहों को तथा महान उपसर्गों को समभावपूर्वक सह ले। यों तो अकेला योद्धा भी लाखों सुभटों को संग्राम में मार गिराता है, परन्तु काम, राग-द्वेष, कषाय आदि शत्रुओं को मार गिराना उसके लिए शक्य नहीं होता, जबकि अरिहन्त देव अपने समस्त आन्तरिक विकारों के साथ युद्ध करके उन्हें परास्त कर देते हैं। उन्हें बाह्य युद्ध नहीं, आन्तरिक युद्ध लड़ना होता है।

अरिहन्त शब्द कोई जैनधर्म द्वारा सूचित व्यक्तिविशेष का द्योतक नहीं, वह गुणों का द्योतक है। किसी भी नाम वाला, जो भी व्यक्ति पहले बताए हुए विशिष्ट गुणों से युक्त हो, वह अरिहन्त माना जा सकता है। जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

> भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
> बुद्धो वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

—जिस महापुरुष के संसाररूपी [illegible] अंकुर को पैदा करने वाले राग-द्वेष

पुण्यशालिनी एवं रागद्वेषादि दोषों से रहित होती है, दुर्गति कर्मवर्गणाओं उ
और तीर्थंकरों के समान होती है। दोनों चार घातिकर्मों से मुक्त देहधारी मात्र हो
हैं। किन्तु तीर्थंकर नामकर्म के उदय से महान धर्मप्रचारक, धर्ममर्यादाओं की स्थि
करने वाले होते हैं। वे चतुर्विध संघ की रचना करते हैं। उन्हें ३४ अतिशय एवं
वचनातिशय प्राप्त होते हैं। वे अलौकिक योगविभूतियों के स्वामी होते हैं, ज
सामान्य वीतरागों में ये सब नहीं होते। तीर्थंकर स्वयं तरते हैं, दूसरों को तारते
स्वयं प्रतिबुद्ध होते हैं, दूसरों को प्रतिबुद्ध करते हैं। स्वयं मुक्त बनते हैं और दू
को मुक्त करते हैं, स्वयं रागद्वेषविजेता होते हैं, दूसरों को रागद्वेषविजेता बनाते
जबकि सामान्य जीवन्मुक्त वीतराग केवलियों में यह विशेषता नहीं होती। यद्य
स्वयं अष्टकर्म क्षय करके अपना अन्तिम साध्य प्राप्त कर लेते हैं। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त
हो जाते हैं। उस स्थिति में तीर्थंकरों में और सामान्य वीतरागों में कोई भी
नहीं रहता।

पदईश्वर से आगे बढ़ें

आप भी चाहें तो पदईश्वर से, मुक्त (जीवन्मुक्त) ईश्वर (वीतर
तीर्थंकर) बन सकते हैं, अथवा सिद्ध (परमात्मा) ईश्वर भी बन सकते हैं। जैन
यह चाबी प्रत्येक मानव को सौंपी है। यह उसके हाथ की बात है। राष्ट्रसन्त उप
अमरमुनि जी ने ठीक ही कहा है—

बीज बीज ही नहीं, बीज में तरुवर भी है।
मनुज मनुज ही नहीं, मनुज में ईश्वर भी है॥

इस दृष्टि से आप भी अपने अन्दर छिपे हुए ईश्वरत्व को जगाइए
रत्नत्रय के पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को पूर्ण बनाइए और राग-द्वेषादि वि
जूझकर अपने कर्ममलों को धो डालिए। इस प्रकार आत्मा से जीवन्मुक्तात्म
जीवन्मुक्तात्मा से परमात्मा बनने का यही राजमार्ग है।

५

धर्म की उपयोगिता और स्वरूप

आज प्रायः प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक के सामने यह प्रश्न है कि धर्म का जीवन में क्या स्थान है ? उसकी क्या उपयोगिता है ? कारण यह है कि साम्यवादी देशों में 'धर्म अफीम की गोली है' कहकर उसे ठुकरा दिया गया है। साधारण जनता इस बात की विशेष छानबीन नहीं करती कि कौन-सा धर्म अफीम की गोली है और हेय है ? इसी प्रकार शिक्षित वर्ग में भी धर्म के प्रति अश्रद्धा और घृणा व्याप्त है। वह धर्म को बुढ़ापे में आचरण करने की चीज समझता है अथवा धर्म के नाम पर कुछ दान कर देता है, या भगवान के नाम की कुछ माला फेर लेता है। वास्तव में धर्म उसके जीवन में ओतप्रोत नहीं होता, रग-रग में रमता नहीं। इसका मतलब है—वे धर्म की उपयोगिता को ठीक से समझे नहीं हैं।

सुख-शान्ति प्राप्त कराने वाला पुरुषार्थ : धर्म

किन्तु एक बात निश्चित है कि मनुष्य अपने जीवन में सुख और शान्ति चाहता है। प्रश्न यह है कि मनुष्य को अधिक से अधिक सुख और शान्ति कौन प्राप्त करा सकता है ? तीन प्रकार के पुरुषार्थ हमारे सामने हैं—अर्थ, काम और धर्म। मैं आपसे पूछता हूँ—अगर आपके पास केवल अर्थ (धन तथा जीने के साधन) हो तो उससे आपको सुख-शान्ति प्राप्त हो जाएगी ? केवल धन या साधनों का गुलाम बनकर मनुष्य कदापि सुख और शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जो मनुष्य धर्म से विहीन हो और अर्थ के पीछे दौड़धूप करता रहता है, वह प्रायः लोभी, कंजूस या अनुदार हो जाता है। उसके जीवन में कहीं शान्ति नहीं रहती। अपने परिवार वालों के साथ भी उसका संघर्ष चलता रहता है। अपने समाज के लोगों के साथ भी उसका व्यवहार रूखा रहता है। आज अमेरिका के पास अर्थ बहुत है। वहाँ के लोगों के पास इतना अधिक धन और साधन है कि उसे सम्भालना ही कठिन हो गया है। अर्थ का अत्यधिक सम्पर्क होने के कारण उनका मानस भी स्वार्थी बन गया है। अमेरिका में बड़े-बड़े कई मंजिल ऊँचे मकान हैं। उनमें भी प्रत्येक मंजिल में कई फ्लैट हैं। सबको अपने फ्लैट की चिन्ता रहती है, पड़ोस में कौन बीमार है या किसकी मृत्यु हो गयी है ? या कौन दुःखग्रस्त है ? इसकी उन्हें कोई जानकारी प्रायः नहीं होती और न ही वे इसकी जानकारी में कोई दिलचस्पी रखते हैं। पुरुष सवेरे जल्दी अपने व्यावसायिक कार्य पर चले जाते हैं, रात को बहुत देर से आते हैं। कई बार तो कई-कई दिनों तक वे अपने बच्चों

गे भी नहीं मिल पाते और न ही उनकी स्थिति पर कोई ध्यान दे पाते हैं। न तो सुखपूर्वक खा-पी सकते हैं और न ही सो सकते हैं। अमेरिका के धनाढ्य लोग तो प्रायः नींद की गोलियाँ खाकर नींद लेते हैं। उनको सुख से नींद भी नहीं आती। बताइए, अर्थ का जाल कितना भयंकर है? फिर वहाँ के लोगों में इतना स्वार्थ है कि पड़ोस में कोई मर भी जाय और उन्हें मृतक को ले जाने में सहयोग देने को कहा जाए तो वे साफ इन्कार कर देते हैं। इतना अर्थ होने पर भी उन्हें सुख-शान्ति कहाँ है? बुढ़ापे में वहाँ के स्त्री-पुरुषों को अकेलेपन का बड़ा दुःख उठाना पड़ता है। वहाँ एक आम रिवाज हो गया है कि लड़का शादी होते ही अपने माँ-बाप से अलग हो जाता है। वह फिर माता-पिता के साथ बिलकुल नहीं रहता। आश्चर्य तो यह है कि माता-पिता कदाचित् लड़के के यहाँ कभी आ भी जाएँ तो वह उन्हें भोजन करा देता है, लेकिन भोजन पर हुआ खर्च उनसे ले लेता है। अपने घर पर कदाचित् लड़का आ जाए तो यही व्यवहार उसके साथ माता-पिता करते हैं। बुढ़ापे में पत्नी गुजर जाए तो अकेला बूढ़ा वृद्धगृह में रहकर जीवन बिताता है। यह स्वार्थ की कितनी पराकाष्ठा है! सन्तान और माता-पिता के बीच भी जहाँ अतिस्वार्थ है, वहाँ दूसरों के प्रति स्वार्थ-भावना हो, इसमें तो कहना ही क्या? यह अर्थ की ही बलिहारी है कि मनुष्य इतना संकुचित एवं स्वार्थी बन जाता है। वास्तव में अकेले अर्थ से सुख-शान्ति प्राप्त हो जाती तो जितने भी धनाढ्य पुरुष हैं उन्हें दान करने, तीर्थयात्रा करने, साधु-सन्तों के दर्शन करने की आवश्यकता ही न रहती।

अब जरा काम पुरुषार्थ को टटोल लें। सांसारिक पदार्थों या इन्द्रिय-विषयों का जितना अधिक उपभोग किया जाता है, क्या उससे उन्हें स्थायी सुख या शान्ति प्राप्त होता है? दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि सांसारिक पदार्थों या इन्द्रिय-विषयों का अधिक उपभोग बढ़ने से सुख अधिक मिलता है। बल्कि पदार्थों के अधिक उपभोग से मनुष्य को ऐसी आदत लग जाती है कि वह उस पदार्थ के बिना रह नहीं सकता। और मात्रा से अधिक उपभोग करने पर अधिक सुख प्राप्त होना चाहिए, इसके बदले अधिक दुःख होता है। जैसे किसी को चाय बहुत अच्छी लगती है। वह चाय पीने का शौकीन है। चाय के बिना एक घण्टा भी नहीं रह सकता। इसलिए उसे किसी ने एक कप चाय लाकर दिया। वह पीने लगा। इतने में दूसरा कप आ गया। दूसरा कप पीकर उठा इतने में तो ५ कप चाय और आ गई। उसने आनाकानी करते हुए ५ कप पीए, इतने में तो चाय से लबालब भरे हुए १० कप और आ गए। अब इसने पीने से इन्कार किया तो लाने वाले ने कहा—"आप पीते जाइए। संकोच मत करिए।" वह अब चाय से ऊब गया और हाथ जोड़ने लगा—"भाई साहब! अब माफ कीजिए। अब तो एक कप पीना भी दूभर हो गया है।" यजमान ने कहा—"ऐसी बात मत कहिए! अब तो जितने कप चाय पीओगे, उतनी मुहरें (स्वर्णमुद्राएँ) मैं दूंगा।"

अब उस शौकीन में बहुत जोर होता तो शायद १५-२० कप और पी लेता।

निष्कर्ष यह है कि धर्मयुक्त अर्थ और काम हो तो गृहस्थ का जीवन भी अच्छा बन सकता है, सुखमय बन सकता है। जैसे साधु भी अमुक मर्यादा में धर्मोपकरण आहार आदि जुटाता है, और उनका उपभोग भी अमुक धर्ममर्यादा में करता है, फिर भी वह धर्मात्मा कहलाता है, इसी प्रकार गृहस्थ भी अमुक मर्यादा में अर्थ-काम का सेवन करता है, तो वह भी धर्मात्मा कहला सकता है।

मतलब यह है कि अर्थ और काम का सन्तुलन रखने वाला अगर कोई पुरुषार्थ है तो वह है धर्म। धर्म, तराजू की डण्डी के समान है। तराजू के दो पलड़ों में कौन-सा ऊँचा है, कौन-सा नीचा है, इसका पता डण्डी के बिना नहीं लग पाता। इसी प्रकार यदि धर्मरूपी डण्डी न हो तो अर्थ और काम के दो पलड़ों में से कौन भारी है, कौन हलका है, इसका पता भी नहीं लग सकता और न दोनों पलड़ों को बराबर रखा जा सकता है। इसीलिए मानव-जीवन में धर्म की महती आवश्यकता है। धर्म की डण्डी होने पर ही मनुष्य अर्थ और काम दोनों का ठीक सन्तुलन रख सकता है। ऐसा धर्म-युक्त अर्थ वाला मनुष्य अपने अर्थ द्वारा समाज का श्रेय करेगा, दुःखित-पीड़ित प्राणियों के दुःख को दूर करने में अर्थ का उपयोग करेगा। अपनी कामनाओं को या इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति को जीतकर इन्द्रियों का उपयोग स्व-पर-हित में करेगा।

अगर जीवन में अर्थ-काम के साथ धर्म न हो तो मनुष्य का जीवन पशुओं का-सा बन जाये। जिस जीवन में कोई मर्यादा न हो, अर्थ और काम पर धर्म का अंकुश न हो, वह जीवन पशुतुल्य होता है। इसलिए धर्म मानव-जीवन में सर्वप्रथम उपादेय है।

धर्म भारतीय जन जीवन में ओत-प्रोत

निष्कर्ष यह है कि पाश्चात्य संस्कृति अर्थ और काम को प्रधानता देती जबकि प्राच्य संस्कृति धर्म को। पाश्चात्य संस्कृति अर्थ-काम को प्रधान मानकर सुखी नहीं है। भारत का साधारण ग्रामीण भी धर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानता होग क्योंकि धर्म यहाँ जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ ताने-बाने की तरह ओतप्रोत रहा है।

एक गरीब आदमी था। अत्यन्त वृद्ध होने के कारण वह कुछ भी काम नहीं कर सकता था। उसे जब जरूरत होती तो किसी उदार व्यक्ति से माँग लेता था। एक दिन प्रातःकाल वह कहीं जा रहा था। उसे कड़ाके की भूख लगी। सामने से एक आदमी आ रहा था। उसने उस व्यक्ति से कुछ खाने के लिए माँगा। उसकी जेब बहुत भरी हुई थी। उसमें चने भरे थे। अतः वह बोला—'मेरे पास चने के सिवाय कुछ खास कुछ नहीं है।' उसने मुस्कराते हुए कहा—'भाई! भूखे को और क्या चाहिए।' बस, उस व्यक्ति ने मुट्ठी भरकर चने दे दिए। वह चने लेकर अपनी झोंपड़ी में आया और ज्यों ही खाने लगा, त्यों ही उनमें से एक मिश्री निकली। सोचा—'उसकी जेब में यह चने की मिश्री होगी, भूल से चनों के साथ आ गई है।' उसने सो

और मिश्री एक कपड़े के पल्ले में बाँधकर रख दी। रात को सोते-सोते विचार आया—'उस सज्जन ने तो चने दिये थे। मिश्री उसने जानबूझ नहीं दी, भूल से ही आई है। उसे पता भी नहीं होगा कि मेरी मिश्री किसके पास पहुँची है। अत इस मिश्री को रख लूँ तो कई महीना तक मुझे चने नहीं माँगने पड़ेंगे।' पर अन्तरात्मा कहती है—'यह तो अधर्म है, चोरी है, अन्याय है। उसने तुझे मिश्री दी नहीं, फिर भी रख लेना ठीक नहीं। उसकी भलमनसाहत का दुरुपयोग है।'

यों वह रातभर विचारों की उधेड़बुन में बेचैन रहा। मन कहता था—'मिश्री रख ले।' आत्मा कहती थी—'वापिस दे दे।' मन कहता था—'एक महीना सुख से बीतेगा। इतना धन तुझे बराबर कहाँ से मिलेगा?' आत्मा कहती थी—'यह जीवन बिगड़ जाएगा। ऐसे अन्याय-अनीति के पैसे से तू कहाँ सुखी होगा?' तेरे मन को यह अनीति व अधर्म कचोटते रहेंगे।" यों रातभर संघर्ष चला। सुबह वह धर्म-पालन करने के निर्णय के साथ उठा और उस सज्जन को खोजने चल पड़ा। वह जहाँ सुबह घूमने आता था, और जिस बेंच पर बैठता था, वहाँ पहुँचा तो वह सज्जन बैठा था। उसने तुरन्त उस सज्जन के हाथ में मिश्री थमाते हुए कहा—"लो भाई! यह तुम्हारी मिश्री।" आश्चर्यचकित होकर उस सज्जन ने पूछा—"यह मिश्री कहाँ से लाए?" गरीब ने कहा—"आपने मुझे कल चने दिये थे, उनके साथ यह मिश्री आ गई थी।" अपने पुत्र की सगाई के प्रसंग में आई हुई मिश्री उस सज्जन की जेब में ही रह गई थी। सज्जन ने साश्चर्य पूछा—"तुम इतने गरीब हो, फिर भी तुम्हें यह मिश्री वापस देने का विचार कैसे आया?"

उसने कहा—'मेरे घर में झगड़ा हो गया था, एक कहता था—'रख लो', दूसरा कहता था—'वापस दे दो।' आखिर धर्म की शरण में जाकर मैंने निर्णय किया कि इस मिश्री को उसके मालिक को वापस लौटाना ही मेरा धर्म है। इसी विचार से मैं मिश्री ले आया।' सज्जन बोला—"कल तो तुम कहते थे, मैं अकेला ही हूँ। कोई मेरी सँभाल करने वाला नहीं है, अभी कह रहे हो कि मेरे घर में कलह हो गया था। कलह फिर किसके साथ हुआ?"

वृद्ध ने मुस्कराते हुए कहा—"भाई! मैं शरीर को घर मानता हूँ। इस शरीर में दो व्यक्ति रहते हैं—मन और आत्मा। इन्हीं दोनों में झगड़ा हुआ था। मन रखने को कहता था, आत्मा वापस लौटाने को कहती थी। सारी रात झगड़ा चला। आखिर जीत आत्मा की हुई। इसलिए मैं यह मिश्री आपको लौटाने आया हूँ।"

उक्त सज्जन के मन में विचार आया—जो मनुष्य मन और आत्मा के संघर्ष में विवेक कर सकता है। वही आदमी मेरे काम का है। अतः उसने कहा—"तुम मेरे साथ जिन्दगी भर रहो। तुम्हें खाने-पीने की कोई चिन्ता नहीं करनी है। मुझे तुम्हारे जीवन में धर्म उतरा हुआ लगता है। तुम्हारे साथ रहने में मुझे सुख-शान्ति मिलेगी।

यह था, भारतीय मानव के जीवन में धर्म का सहज आचरण।

समझदार व्यक्ति को संसार में विशुद्ध धर्म को ही सदैव अपनाना चाहिए, क्योंकि धर्म के अतिरिक्त अन्य सब दुःख के कारण है।

बन्धुओ! आज धर्म के बदले धन उपादेय बन बैठा है। जहाँ देखो वहीं अर्थ का बोलबाला है। अर्थ को साधन के बदले आज का मानव साध्य मान बैठा है। परन्तु याद रखिए, जब तक अर्थ और काम को हेय न समझा जाएगा, तब तक धर्म की उपादेयता जीवन में नहीं आएगी। जब तक धर्मार्जन के प्रति उदासीनता और अर्थ काम के प्रति तीव्र रुचि है, तब तक जीव प्रथम (मिथ्यात्व) गुणस्थान में है। आप अपने दिल से पूछिए कि आप स्वयं अर्थोपार्जन में कितने घण्टे लगाते हैं और धर्मोपार्जन में कितने?"

आज का मानव धर्म और धर्मात्माओं की माला फेरने के बजाय कञ्चन, कामिनी, कीर्ति, काया और कुटुम्ब, इन पंच ककारों की माला फेरता है। परन्तु पंच ककार कम्पनी दिवालिया कम्पनी है। इसके शेयर होल्डर सगे-सम्बन्धी हैं, जीवात्मा इसका मैनेजर है। शेयरहोल्डर तो मुनाफे में ही साथ है, कम्पनी के घाटे में साथ नहीं है। आखिर नुकसान इसके मैनेजर जीवात्मा को ही भोगना पड़ता है। अतः पंच ककार कम्पनी के चक्कर में न पड़ो, धर्मार्जन करने में दत्तचित्त बनो। इसीलिए भगवान महावीर ने फरमाया—

धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राईओ

—धर्म करने वाले व्यक्ति की रात्रियाँ सफल होती हैं।

धर्म ही मनुष्य जीवन की रक्षा करने वाला है, वही भयभ्रान्त, दुःखी, असहाय और अशरण को शरण देने वाला है। धर्म ही सुगति दाता है, शुद्ध धर्म का आचरण करने से जीव अजरामर स्थान को प्राप्त करता है। धर्म जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक है।

धर्म : समस्त विकास का मूल

प्रश्न होता है, अगर धर्म जीवन में व्याप्त है तो वह प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखाई देता? भूख लगती है, तब धर्म भूख मिटाने के काम नहीं आता। प्यास लगी हो, तब भी धर्म पीने के काम नहीं आता। ठण्ड लगती हो, तब धर्म ओढ़ने के काम नहीं आता। कर्ज चुकाना हो तो कर्ज चुकाने के रूप में धर्म का उपयोग नहीं होता और व्यवहार में किसी वस्तु के विनिमय में भी धर्म का उपयोग नहीं हो सकता, तब फिर धर्म का उपयोग क्या है?

ज्ञानीपुरुष इसके उत्तर में कहते हैं—धर्म वृक्ष के मूल के समान है। मूल फल की तरह खाने के काम में नहीं आता तथा वृक्ष के अन्य अंगों की तरह बाहर भी दिखाई नहीं देता, मिट्टी की गहराई में छिपा हुआ होता है। फिर भी अगर मूल न हो तो किसी भी वृक्ष में टिके रहने की शक्ति होती। वृक्ष फलते हैं, पुष्पित-

तो वृक्ष का मूल ही होता है। इसी प्रकार मानव जीवन में जो भी विकास होता है, सुख-समृद्धि प्राप्त होती है, आध्यात्मिक विकास होता है, इन सबका मूल स्रोत धर्म ही है।

धर्म की भ्रान्ति को धर्म समझने से सुख नहीं

आज आम लोगों की यह शिकायत है कि भारत में दिनों-दिन मन्दिरों, धर्मस्थानों, उपाश्रयों, गुरुद्वारों, चर्चों आदि की संख्या बढ़ ही रही है, लाखों धर्मगुरु हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायियों की संख्या भी पहले से बहुत बढ़ी है। प्रत्येक धर्मस्थान में भी हजारों श्रोताओं की भीड़ होती है, इतनी-इतनी धर्मक्रियाएँ होती हैं, फिर भी लोग सुखी क्यों नहीं हैं? भारतवर्ष आज दुःखी और दरिद्र क्यों बना हुआ है?

इस विषय में हमारा अनुभवसिद्ध उत्तर है, लोग धार्मिक क्रियाएँ बहुत करते हैं, किन्तु वास्तविक धर्म से बहुत दूर हैं। जैसे आम के फल का असली तत्त्व तो उस के अन्दर का गूदा है, ऊपर का छिलका तो उसकी रक्षा के लिए है। इसी प्रकार घी की सुरक्षा के लिए घड़ा, अनाज की रक्षा के लिए कोठी आदि हैं। परन्तु मूल वस्तु तो घी या अनाज है। इसी प्रकार धर्म के वास्तविक तत्त्व (अहिंसा, सत्य, [illegible] आदि) की रक्षा के लिए कुछ क्रियाकाण्ड नियत किये गये हैं। वे क्रियाकाण्ड स्वयं धर्म नहीं हैं, धर्म की रक्षा के लिए हैं। परन्तु आज उन क्रियाकाण्डों को [illegible] करके व्यक्ति यह सन्तोष मान लेता है कि मैंने धर्म-पालन कर लिया, जबकि असली धर्म (अहिंसा, सत्यादि) से वह कोसों दूर रहता है। यह तो वैसा ही हुआ कि बाड़ की रक्षा की, मगर पौधे पशुओं ने नष्ट कर दिये।

मुझे इस सम्बन्ध में एक रोचक उदाहरण याद आ रहा है—एक शहर में एक बहुत बड़ी बैंक थी। उस पर दिन-रात पहरा लगता था। रात को पहरा देने का जमालखाँ नामक चौकीदार था। उसकी यह विशेषता थी कि वह रात भर [illegible] लगाता रहता और बैंक के दरवाजे पर लगे ताले और सील को बार-बार देखता रहता था। एक बार कुछ चोरों ने सोचा—"इस बैंक में आजकल बहुत धन जमा हुआ है। इसमें चोरी करनी चाहिए।" चोरों में से एक ने कहा—"यह काम बहुत कठिन है, क्योंकि रात का चौकीदार यहाँ जमालखाँ है। वह रात-भर गश्त लगाता है और भी सोता नहीं है।"

दूसरे ने कहा—"यह तो मुझे भी पता है। लेकिन वह तो सिर्फ ताले और सील को ही बार-बार देखता है। हमें ताले और सील के हाथ भी नहीं लगाने हैं। हमें तो पीछे से सेंध लगाकर अन्दर घुसना है, और माल लेकर [illegible] चम्पत हो जाना है।"

सबने एकमत होकर बैंक के पीछे की दीवार तोड़ी और अन्दर घुसने [illegible]

इधर जमालखाँ सबै खैरो-स्वस्तु वह बैंक के दरवाजे पर [illegible]

सील बार-बार [illegible] आवाज तो सुनी, लेकिन [illegible]

१
आचार-धर्म

[आचार का महत्त्व, स्वरूप और फल]

आचार क्या है ?

आचार मानव-जीवन के लिए एक व्यायाम है। जिस प्रकार शरीर को सुन्दर, सुस्पष्ट और सुडौल बनाने के लिए व्यायाम आवश्यक है, वैसे ही जीवन को सुन्दर, सुघड़, सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित बनाने के लिए आचार की आवश्यकता है। आप किसी भी व्यक्ति के जीवन के सर्वांगीण रूप को जानना चाहें तो केवल उसके विचार से नहीं जान सकते, उसके लिए उसके आचार (चरित्र) का ज्ञान आवश्यक है। विचारों को तो मनुष्य छिपा भी सकता है, या बढ़ा-चढ़ा कर व्यापक और उन्नत विचार प्रगट करके साधारण व्यक्तियों को प्रभावित कर सकता है, लेकिन आचार को छिपा नहीं सकता। चालाक एवं धूर्त लोग अपने विचारों से या व्याख्यानों से लोगों को प्रभावित कर देते हैं, स्वयं तथाकथित भगवान या पैगम्बर बन बैठते हैं, किन्तु उनके आचार की ओर देखा जाए तो वे उसमें बहुत ही पिछड़े हुए मालूम होते हैं। विचारों का जितना सब्जबाग वे दिखाते हैं आचार में वे बिलकुल दिवालिया सिद्ध होते हैं।

आचार का अभाव : भारत के पतन का कारण

भारतवर्ष के पतन के यथार्थ कारणों का अवलोकन किया जाये तो आचार का अभाव ही मुख्य कारण प्रतीत होगा। यहाँ विचार तो एक से एक बढ़कर प्रस्तुत किये गये। वेदान्त ने सारे संसार को ब्रह्मरूप बताया। उसमें सभी मानव, यहाँ तक कि समस्त प्राणिवर्ग भी आ गया। परन्तु व्यवहार में वहाँ भी हरिजन-परिजन, छूत-अछूत, ऊँच-नीच आदि के भेदराग मनुष्यमात्र में दृष्टिगोचर होने लगे। दूसरी जाति, धर्मसम्प्रदाय, प्रान्त एवं राष्ट्र के लोगों के साथ एक ब्रह्मभाव का व्यवहार तो दूर रहा, मानव समभाव का भी व्यवहार नहीं। वहाँ विचार तो आसमान को छूनेवाला, लेकिन आचार रसातल में जाने वाला! यही हाल प्रायः सभी धर्मों का हुआ। वे बातें तो बहुत ऊँची-ऊँची करते चले, लेकिन उनका व्यवहार प्रायः संकीर्ण पंथवाद, जातिवाद आदि का ही पोषक सिद्ध हुआ। मतलब यह है कि विचार की अपेक्षा आचार का महत्त्व अधिक है, क्योंकि आचार में किसी धर्म, जाति, राष्ट्र, परिवार या व्यक्ति की असलियत का पता लग सकता है कि वह कितने गहरे पानी में है।

कुरान शरीफ [६१।२] मे भी इसी आशय की बात कही गयी है—

"ऐ ईमानवालो ! ऐसी बात क्यों कहते हो, जो करते नहीं ?'

जो व्यक्ति बड़ी-बड़ी बातें करते है, परन्तु उनका तदनुसार आचरण नहीं होता, तब लोगो का विश्वास उन पर से उठ जाता है। जिनका आचार-विचारों के अनुसार होता है, वे विश्वसनीय होते है, वन्दनीय-पूजनीय हो जाते है।

आचारांग सूत्र निर्युक्ति [गा० १७] मे बताया गया है—

'सारो परूवणाए चरणं'

—'प्ररूपणा [उपदेश] का सार आचरण है।'

विचार बहुत ही उन्नत हों और आचार न हो तो वैसी ही स्थिति हो जाती है, जैसे गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे हो। गाड़ी घोड़े के पीछे हो, तब तो ठीक चलती है, लेकिन वह आगे हो जाय और घोड़ा उसके पीछे जुता हो गाड़ी ठप हो जायगी।

आचार के बिना कोरा ज्ञान उस कोरे लिफाफे के समान है, जिसमें समाचार बिल्कुल न हों।

धर्मरुचि अनगार में विचार आचारयुक्त थे

धर्मरुचि अनगार का विचार प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव का था। परन्तु जब नागश्री ब्राह्मणी ने उनके पात्र मे कड़ुए तुम्बे का साग दे दिया और वे उसे लेकर अपने गुरुजी के पास गए। गुरुजी को लाया हुआ आहार दिखाया तो उन्होंने देख कर कहा—"वत्स ! यह आहार खाने लायक नहीं है, इसे एकान्त मे ले जाकर निरवद्य स्थान मे परठ आओ।"

धर्मरुचि अनगार के मन मे चिन्तन चल पड़ा कि ऐसा आहार खाने मे मरती तो मेरी हुई। अब इस साग को निरवद्य स्थान पर परठने पर भी चींटियाँ आएँगी और वे इसे आस्वादन करके अपना प्राण गँवा बैठेंगी। इस प्रकार प्राणिहत्या का पाप भी मुझे लगेगा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव का विचार भी विचार-मात्र ही रहेगा।

अतः धर्मरुचि अनगार ने कड़वे तूम्बे के साग को जमीन पर न परठकर समभाव से उदरस्थ कर लिया। विषाक्त साग ने अपना प्रभाव दिखाया और कुछ ही क्षणों मे करुणामूर्ति एवं विश्वमैत्री के सक्रिय उपासक धर्मरुचि अनगार के प्राण-पखेरू उड़ गये।

सचमुच धर्मरुचि अनगार ने प्राणो की परवाह न करके भी अपने विचारो को आचार रूप मे परिणत करके दिखाया।

विशाल सभा हो रही थी। विषय था—अहिंसा का महत्त्व। कई विद्वानों ने भाषण दिये। एक मद्रासी वक्ता भाषण देने के लिए खड़े हुए। उन्होंने अहिंसा पर इतना धुंआधार भाषण दिया कि श्रोता लोग झूम उठे। वक्ता महोदय का शरीर पसीने से तरबतर हो गया। अत उन्होंने सहसा जेब से अपना रूमाल निकाला। पर यह क्या! साथ में दो अण्डे जेब से निकल कर फर्श पर गिरे। श्रोतागणों के चेहरे एकदम बदल गए। उन्होंने कहा—अहिंसा पर इतना प्रभावशाली भाषण देने वाला अण्डे खाता है। लानत है, इसके विचारों पर। ऐसे ही आचारहीन लोगों ने देश को रसातल मे पहुँचाया है। जिनके जीवन मे विचार के साथ आचार नही होता, वे कोरे भाषणभट्ट हैं। ऐसे आचारहीन के लिए स्मृति कहती है—

'आचारहीन न पुनन्ति वेदाः'

ऐसे आचारहीन लोग चाहे जितनी बार पवित्र वेदो (धर्मग्रन्थों) का पाठ कर लें, वेद या धर्मशास्त्र उसे पवित्र नहीं कर सकते। इसीलिए यजुर्वेद एवं मनुस्मृति में स्पष्ट कहा है—

'आचारः प्रथमो धर्मः श्रुत्योक्तः श्रेयस्करो महान्।'

"दूसरो के सामने शास्त्रों की चर्चा करने से पहले मनुष्य का प्रथम धर्म आचार है, वह महान् श्रेयस्कर है।"

संयम जीवन का आधार ही आचार है, इसीलिए भगवान् ने समस्त अंगशास्त्रो मे सर्वप्रथम आचारांग का प्रतिपादन किया है। तथा एक विशेष बात यह है कि जैनधर्म मे आचार के ५ भेद बताए हैं। वहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य इन पांचो को आचाररूप बताया है। तात्पर्य यह है कि कोरा ज्ञान वन्ध्य होता है। ज्ञान जब आचाररूप मे परिणत होता है, दर्शन जब आचरण में क्रियान्वित होता है, चारित्र भी आचार का रूप लेता है, तप भी तपश्चरण का रूप लेता है एवं वीर्य—शक्ति का प्रस्फोटन भी धर्माचरण के लिए किया जाता है, तभी ज्ञानादि पांचो सार्थक होते हैं। जिसके जीवन मे आचारनिष्ठा होती है, वह प्रत्येक कदम फूंक-फूंक कर रखता है। उसका जीवनमंत्र होता है—

If health is lost, nothing is lost.
If wealth is lost, something is lost.
If character is lost, everything is lost.

—अगर स्वास्थ्य चला गया तो कुछ भी नहीं गया, क्योंकि खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः प्राप्त किया जा सकता है, अगर धन खो गया, तो समझ लो कुछ खोया है, किन्तु वह भी कमाया जा सकता है। परन्तु अगर आचार (चरित्र) चला गया तो सब कुछ चला गया।

एक दिन वह था, जब भारत में आचार को इतना महत्त्व दिया जाता था। पर आज समाज और राष्ट्र में आचार का कोई मूल्य ही नहीं रह गया है। एक ओर समाज में शिक्षितों की संख्या बढ़ती जा रही है, विचारों में हमारा राष्ट्र बहुत आगे बढ़ गया है। परन्तु उनके आचार की ओर देखते हैं तो निराशा ही हाथ लगती है। भोगविलास, फिजूलखर्ची, आवारागर्दी, ठाठबाटे, फैशन और खानपान में असंयम—ये सब आचारहीनताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। यहाँ तक कि पुराने बुजुर्ग या प्रौढ़ लोग, जो अन्धश्रद्धायुक्त विचारों को ढोए चले जा रहे हैं, वे भी आचार के क्षेत्र में बहुत ही पिछड़े हुए नजर आते हैं। 'करेमि भंते ! सामाइयं' (भंते ! मैं सामायिक करता हूँ) का उच्चारण करते हैं, लेकिन समता का आचरण उनके जीवन में नहीं है। प्रतिक्रमण के समय 'मिच्छामि दुक्कडं' देते हैं, लेकिन वे ही कृत्य पुनः-पुनः करते रहते हैं। हिंसा, असत्य आदि बुराइयों का त्याग आचरण में नहीं आता। इस कारण युवकों की श्रद्धा भी आचार पर से हटती जा रही है। अधिकांश भारतीयों के जीवन में विचार और आचार के बीच की खाई चौड़ी होती जा रही है। सम्भव है, ऐसा होता रहा तो एक दिन विचार केवल विचार ही रह जायें, आचार स्वप्न की चीज बन जाए। किन्तु उस दिन मानवजाति का भविष्य अन्धकारमय हो जाएगा।

आचार का ही स्थायी प्रभाव

किसी भी मानव के आचार का ही दूसरे पर स्थायी प्रभाव पड़ता है, उसकी वेशभूषा या विचारों का प्रभाव क्षणिक होता है।

जिन दिनों महात्मा गांधीजी लन्दन में रहते थे। एक ईसाई पादरी उन्हें ईसाई बनाने के विचार से भोजन का निमन्त्रण देता था। गांधीजी शाकाहारी थे। इसलिए वह उनके लिए अलग से निरामिषाहारी भोजन बनवाता था। एक दिन पादरी के बच्चों ने उससे पूछा—"इनका खाना अलग क्यों बनाया जाता है ?" पादरी ने कहा—"बेटे ! यह अहिंसक है। मांस नहीं खाते।" बच्चों ने पूछा—"ये मांस क्यों नहीं खाते ?" तब पादरी ने गांधीजी की जीवनचर्या तथा अहिंसा का विवेचन किया। साथ ही मांस खाना हिंसा है, इससे क्रूरता बढ़ती है, आदि कहा। इस बात से बच्चे बहुत ही प्रभावित होकर कहने लगे—"पिताजी ! तब तो हम भी आज से मांसाहार नहीं करेंगे।" यह था गांधीजी के सदाचार का प्रभाव। पादरी महोदय ने बच्चों पर गांधीजी का प्रभाव पड़ता देख, फिर उन्हें निमन्त्रण देना बन्द कर दिया।

आचारवान का प्रभाव विचारवान की अपेक्षा अधिक होता है। वास्तव में जो आचारवान होता है, वह अपनी पब्लिसिटी बहुत कम करता है, क्योंकि आचारवान का जीवन बोलता हुआ होता है। उसका जीवन ही स्वयं ढिंढोरा पीट देता है।

आचारहीन की पोल खुल जाती है

जो व्यक्ति जीवन में आचार से खोखला होता है, वह अपनी पब्लिसिटी अधिक

है, वह दूसरों को उपदेश अधिक देता है। परन्तु स्वयं कथा के बैंगन की तरह
है। उपदेश उसके स्वयं के जीवन में नहीं उतरता। परन्तु किसी न किसी दिन
सकी पोल खुल ही जाती है।

एक गाँव में एक उपदेशक था। वह प्रतिदिन जोर-शोर से उपदेश देता था।
ारे उसने लोगों पर अपनी अच्छी प्रतिष्ठा जमा ली। लोगों को वह आसक्ति-
का बहुत उपदेश देता था। अपनी किराने की दुकान वह तीन-चार घण्टे ही
ता था। परन्तु प्रसिद्धि के कारण ग्राहक बहुत आते थे।

एक दिन एक गरीब आदमी उसकी दुकान पर गुड़ लेने आया। उपदेशक ने
ोला समझकर पुराना और खारा गुड़ दे दिया। वह गुड़ लेकर जब घर आया
उसकी पत्नी ने खराब गुड़ देखकर उपालम्भ दिया—क्या आपने गुड़ के पैसे नहीं
? पैसे देकर यह खराब गुड़ क्यों उठा लाए? इसे वापस लौटा आइए और इसके
अच्छा गुड़ लाइए।"

गरीब भाई उपदेशक की दुकान पर आया और वह गुड़ लौटाते हुए बोला—
गुड़ अच्छा नहीं है। दूसरा अच्छा गुड़ दीजिए।" यह सुनते ही उपदेशक तो
म लाल-पीले हो गये और कहने लगे—"अरे! तू अभी तक गधा ही रहा। तू
दिन मेरी कथा में आता है और अनासक्ति की बात सुनता है, लेकिन गुड़ से तेरी
क्ति नहीं छूटी। इतना उपदेश सुनने पर भी तेरा मन गुड़ जैसे जड़ पदार्थ में
ा हुआ है।"

बेचारा गरीब भोला एवं नम्र स्वभाव का था यों उसे धमका कर भगा
। उसने सोचा—"इनका कहना सत्य है। मुझे गुड़ पर आसक्ति नहीं रखनी
हिए।"

यों उसी गुड़ को लेकर जब वह पत्नी के पास आया और सारी बात कही तो
आश्चर्यपूर्वक झिड़कती हुई बोली—उस उपदेशक ने पीले गुड़ के पैसे लिये थे या
गुड़ के? वह हमें गुड़ पर से आसक्ति छोड़ने की बात कहता है तो फिर वह
में आसक्ति क्यों रखता है?" यह बात सुनाने पर भी उपदेशक अनासक्ति
आचरण के लिए तैयार न हुआ। इसीलिए आचार जिसके जीवन में ताने-
की तरह ओतप्रोत होता है, वह स्वप्न में भी अनाचार के पथ पर नहीं जा
ता। मगर जिसका जीवन आचारहीन होता है, वह बातें बड़ी-बड़ी करता है, पर
रण में शून्य होता है।

आचार के नाम पर अनाचार या दुराचार से बचो!

आचार के नाम पर भारत में कई अनाचार एवं दुराचार या कदाचार
प्रचलित हो गये हैं। भोले-भाले लोग आचार के सब्जबाग के झांसे में आकर
लोगों के चंगुल में फँस जाते हैं। 'मद्य, मत्स्य, मैथुन, मुद्रा और मांस इन

लड़के ने मुस्कराते हुए कहा—"हाँ माताजी ! मैं अब गुस्सा आने पर अपनी मुट्ठियों को जेब में ही रखूँगा।"

संयम से आध्यात्मिक लाभ

वास्तव में क्रोध आदि के आवेग के समय संयम रखने में जोर तो पड़ता है, किन्तु उससे शक्ति बढ़ जाती है। संयम से आत्मबल, मनोबल और शारीरिक बल दृढ़ होते हैं, अन्तर्द्वन्द्व मिटता है, मनोवेग और वासनाओं का दमन होता है, चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। चित्त एकाग्र होने पर अद्भुत शक्ति प्राप्त होती है। ये सब संयम के चमत्कार हैं। संयम से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य भी बढ़ता है। पश्चिम के एक दार्शनिक ने कहा है—'सबसे शक्तिशाली व्यक्ति वह है जो अपने आपको अनुशासन में रख सकता है। भगवान् महावीर ने कहा है—प्रत्येक मनुष्य को अपने आत्मा—मन, वाणी, इन्द्रिय आदि का दमन करना चाहिए। यद्यपि अपने आपका दमन करना—अपने आपको संयम में रखना बहुत ही दुष्कर और कष्टसाध्य है, तथापि अपने आपका दमन करने वाला इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है।'

जो व्यक्ति अपने आपको अनुशासन में नहीं रख सकता, बात-बात में आपे से बाहर हो जाता है, हर बात में दूसरों को दबाने और अपने अधिकार में चलाने का प्रयत्न करता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जो अपने आपको संयम में रख सकता है, वही दूसरों को अपने अनुशासन में रख सकता है। जो अपने माता-पिता का विनय करता है, अपने पर वाणी, विचार, व्यवहार, खान-पान आदि में संयम रखता है, वही दूसरों को अपने वश में कर सकता है।

संयम का सच्चा अर्थ और संयम की भ्रान्ति

संयम का अर्थ है—आत्मनिग्रह करना। अपने मन, वाणी, इन्द्रियों, बुद्धि एवं शरीर के अंगोपांगों पर नियन्त्रण रखना। क्रोधादि विकारों के समय अपने आप को अनुशासन में रखना।

मगर यह बात निश्चित समझ लेनी चाहिए कि अनुशासन या संयम स्वेच्छाकृत होता है, दूसरों के द्वारा जबरन लादा हुआ नहीं। अगर दूसरों के द्वारा दबाव से और जबर्दस्ती से किसी को भूखे-प्यासे रखे जाने या वस्त्र आदि का त्याग किये जाने को संयम या अनुशासन कहा जाएगा, तो जेल में जो कैदियों को जबरन भूखा रखा जाता है, बढ़िया कपड़े छुड़ाए जाते हैं, वह भी अनुशासन या संयम ही कहलाएगा। जो व्यक्ति गरीबी की मार से पीड़ित हैं, वह अच्छा खाना-पीना, पहनना छोड़ देता है, कम कपड़े रखता है, नाना प्रकार के कष्ट सहता है, वह भी संयम की कोटि में गिना जाएगा। मालिकों द्वारा नौकरों को सुनाई जाने वाली कठोर झिड़कियों को नौकरों द्वारा सब सहन किया जाता है, वह भी संयम गिना जाएगा। परन्तु संयम ऐसा सस्ता नहीं है, और फिर जहाँ स्वेच्छा से अपने आप समझ-बूझकर त्याग किया जाता है,

गृहस्थ संयम से हट नहीं सकता। उसके लिए उचित मर्यादा में संयम का पालन करना अनिवार्य है। अन्यथा गृहस्थ-जीवन कभी सुखकर, सरस एवं आनन्दमय नहीं बन सकता।

असंयम से कितना दुःख ?

आप जानते होंगे और प्रतिदिन अनुभव भी करते होंगे कि इन्द्रियों को स्वच्छन्द छोड़ देने या विषयों पर आसक्त होने से कितना दुःख उठाना पड़ता है। स्पर्शेन्द्रिय के वश होकर हाथी गड्ढे में पड़कर बन्धन में पड़ जाता है, रसनेन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर मछली काँटे में फँस कर अपने प्राण खो बैठती है। घ्राणेन्द्रिय का विषयलोलुप बन कर भौंरा कमल-कोष में बन्द होकर अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है, नेत्रेन्द्रिय के विषय (रूप) का गुलाम बनकर पतंगा प्रकाश पर पड़कर अपनी मृत्यु बुला लेता है और श्रोत्रेन्द्रिय के वश होकर संगीत मुग्ध हिरण शिकारी का शिकार बन जाता है। जब एक-एक इन्द्रिय का गुलाम होकर असंयम के कारण प्राणी अपनी जिन्दगी से हाथ धो बैठता है तो जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त एवं असंयमी बन जाता है, उसका कितना बुरा हाल होता है ? इसका अन्दाजा लगा सकते हैं। बल्कि जो गृहस्थ संयम से रहते हैं, वे जीवन जीने की कला सीख जाते हैं। अपने जीवन को महान् बना लेते हैं। आध्यात्मिक विकास के पथ पर भी वे शीघ्र पहुँच सकते हैं।

संयम के प्रकार

जैसा कि मैंने पहले संयम का लक्षण बताया था, उसके अनुसार संयम के कई प्रकार हो सकते हैं। परन्तु शास्त्रकारों ने मुख्य रूप से संयम के १७ भेद बताए हैं। आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति (१७२) में संयम के १७ प्रकार यों बताए हैं—

> "पंचाश्रवाद् विरमणं, पंचेन्द्रियनिग्रहः कषायविजयः।
> दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः॥"

अर्थात्—हिंसा आदि पाँच आश्रवों का त्याग, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों (क्रोधादि) पर विजय, तथा मन-वचन-काया रूप तीन दण्डों (अशुभ योग प्रवृत्ति) से निवृत्त होना, यों संयम के १७ प्रकार हैं।

संयम के ये १७ प्रकार क्या गृहस्थ और क्या साधु दोनों के लिए आचरणीय हैं। गृहस्थ को भी अपनी मर्यादा में इनका पालन करना अनिवार्य है।

दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्रीयवृत्ति एवं प्रवचन सारोद्धार में प्रकारान्तर से संयम के १७ भेद बताए हैं। उन पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। एक गाथा में वे प्रकार बताए हैं—

> पुढवी-दग-अगणि-मारुय-वणस्सई-बि-ति-चउ-पणिंदि अजीवो।
> पेहुप्पेह-पमज्जण-परिठ्ठवण-मणो-वइ-काए॥"

—१७ प्रकार का संयम यों है—(१) पृथ्वीकाय संयम (पृथ्वी की हिंसा

का त्याग) (२) अप्काय संयम (३) तेजस्काय संयम, (४) वायुकाय
वनस्पतिकाय संयम (६) द्वीन्द्रिय संयम, (७) त्रीन्द्रिय संयम, (८) चतुरि
(९) पञ्चेन्द्रिय संयम (१०) अजीव संयम (निर्जीव वस्तु पर
में आकर फैंकना या तोड़ना नहीं), (११) प्रेक्षा संयम (प्रत्येक
काम में न लेना, (१२) उपेक्षा संयम, ([illegible] आदि पर
प्रमार्जना संयम (पूंजने में सावधानी रखना), (१४) परिष्ठापना
का डालने में सावधानी रखना) (१५) मन संयम (मन को अशुभ
(१६) वचन संयम और (१७) काय संयम।

साधु-साध्वियों के लिए तो इन १७ प्रकार के संयमों का
आवश्यक है, जबकि गृहस्थ के लिए भी इनका यथोचित मर्यादा
आवश्यक है।

संयमी सर्वत्र आदरणीय

वास्तव में जो मनुष्य अपना जीवन इन संयमों से सुसज्जित
कहीं भी चला जाए, भारभूत नहीं होता, दुःखित और पीड़ित नहीं होता,
को भी भटकना नहीं, संयमी का जीवन लक्ष्य सांसारिक पदार्थों का
उपभोग करके चलना होता है, जबकि असंयमी सांसारिक पदार्थों का
उपभोग करने को ही अपना लक्ष्य बनाता है। इसलिए संयमी की जिन्द
सुन्दर और सौरभयुक्त होती है। मानवता की सौरभ उसके रग-रग में
आप भी अपना जीवन संयम के सुपथ पर ले जाइए, आपको आनन्द, उन्न
बल मिलेगा।

'लाभ' के साथ 'शुभ' हो

हां तो मैं, कहता था कि लक्ष्मी के साथ नीति का रहना अवश्यम्भावी है। तभी व्यापार समाज-सेवा का अंग बनता है। आपने देखा होगा कि प्रत्येक व्यापारी की दूकान पर 'लाभ' के साथ-साथ 'शुभ' शब्द लिखा होता है। उसके पीछे रहस्य यह है कि लाभ तो हो, धन की आय हो, किन्तु वह शुभ हो। और शुभ आय तभी होती है, जब व्यापारी व्यवसाय में नीति और न्याय की सुरक्षा रखता है।

वैश्य की नीति : समाज-सेवा

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने वैश्य वर्ग को जब वाणिज्य का कार्य सौंपा था, तब उन्होंने वैश्यों को यही प्रेरणा दी थी कि "वाणिज्य के द्वारा तुम्हें समाज की सेवा करनी है, तथा तुम्हें अपने एवं अपने परिवार के लिए उचित पारिश्रमिक लेना है।" पारिश्रमिक के पीछे भी नीति समाज-सेवा की हो, यह व्यापार के पीछे उद्देश्य था। इसका परिणाम यह आया कि बड़े-बड़े व्यापारी व्यापार को समाज-सेवा का अंग मानकर नीतिन्याय को चूकते नहीं थे।

नीति का अर्थ और महत्त्व

यों तो नीति शब्द बहुत व्यापक है। इसलिए व्यापारी वर्ग यह कह सकता है, व्यापार में भी हम अमुक नीति को अपनाकर चाहे जितना मुनाफा कमाएँ, माल हमारा है, हम चाहे जिस भाव में बेचें, उसमें समाज को क्या आपत्ति है? कई बार बाजार-भाव मन्दा हो जाने पर घाटा भी तो हमें उठाना पड़ता है।

यों तो व्यापारीवर्ग बाजार भाव तेज हो जाने पर लाभ भी प्रचुर मात्रा : उठाता है, इसलिए नीति शब्द का अर्थ और उसकी मर्यादारेखा समझ लेनी चाहिए

जीवन के सभी क्षेत्रों में नीति का सम्बन्ध है। चाहे वह सामाजिक क्षेत्र चाहे आर्थिक, चाहे राजनीतिक हो, चाहे सांस्कृतिक, नीति का होना तो अनिवार्य परन्तु नीति शुभ भी हो सकती है, अशुभ भी। यानी नीति के अच्छे और बुरे -- कोण हैं। ऐसी स्थिति में नीति शब्द के अर्थ पर ध्यान देने से यह समस्या हल हो जाएगी।

'नयति धर्मं प्रतीति नीति'

जो प्राणियों को धर्म की ओर ले जाती है, वह नीति है। इस अर्थ के अनुसार नीति शुभ व्यवहार के अर्थ में ही अधिक संगत हो सकती है। अंग्रेजी में इसे Moral कहते हैं। वहाँ भी मोरल शब्द अच्छे व्यवहार और विचार अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से नीति जीवन-पथ का प्रकाश स्तम्भ है। वह व्यक्ति, समाज और समष्टि के जीवन को 'स्वस्थ पथ' पर अग्रसर करने में सहायक होती है। व्यावसायिक क्षेत्र में भी नीति का अर्थ यही होगा, जो मैंने पहले बता दिया है।।

नीति : जीवन का विचारपूर्वक आचार पक्ष

जीवन के दो पहलू हैं—एक बाह्य, दूसरा आन्तरिक। इन्हें हम यों भी कह सकते हैं—एक विचारपक्ष है, दूसरा आचारपक्ष। प्रत्येक कार्य को क्रियान्वित करने से पूर्व उस कार्य के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन तथा विचार किया जाता है, उसकी रूपरेखा तैयार की जाती है, उसके बाद उसे तदनुसार आचाररूप में परिणत किया जाता है। इन्हें ही हम नीति का विचार और नीति का आचार कह सकते हैं। अर्थात् पहले नीति निर्धारित करना तत्पश्चात् उस विचार को आचार रूप में परिणत करना ही नीति का सर्वांगीण रूप है। आचार-विचारों का ही तो प्रतिबिम्ब है न! जहाँ व्यापार में बेईमानी का विचार होता है, वहाँ उसका आचार भी तदनुसार होता है। फलस्वरूप जैसे वह व्यक्ति बेईमानी और धोखेबाजी करता है, वैसे प्रायः परिवार में भी कई लोग उसे धोखा देने, उसकी आँखों में धूल झोंकने वाले मिल जाते हैं। इसीलिए व्यापार में भी नीतिमत्ता अनिवार्य बतायी है।

नीति के अन्तर्गत न्याय, सत्यता, प्रामाणिकता, ईमानदारी, धोखादेही न करना, निश्छल व्यवहार आदि सब आ जाते हैं। जिस व्यापारी के जीवन में उपर्युक्त गुण होते हैं, उसका विचार व्यवहार सब नीतिमय होगा। वह तस्कर व्यापार, काला बाजार, ठगी, धोखाधड़ी, सट्टा, लूटपाट, डकैती आदि सब बातों से दूर रहता है।

दुकानदारी के साथ मकानदारी हो

महाराष्ट्र के एक गाँव में एक फिल्म आई थी, जिसमें यह बताया गया था कि एक सेठ अपने मुनीम को यह आदेश दे रहा है कि वह व्यापार में नीति, न्याय और ईमानदारी रखे। परन्तु मुनीम बहस करता है कि अगर नीति, न्याय या ईमानदारी रखेंगे तो हमारे व्यापार में कुछ भी बचेगा नहीं। हमारा परिवार का गुजारा कैसे चलेगा?" परन्तु सेठ अपने वचन पर दृढ़ था। उसने मुनीम से कहा—"दुकानदारी के साथ मकानदारी रखो, तभी तुम ईमानदारी (नीति) रख सकोगे।" मुनीम समझ जाता है और उसी प्रकार का व्यवहार प्रारम्भ कर देता है।

कौन-सा धन टिकाऊ और शुभ ?

इस चलचित्र की कहानी का आशय यह है कि व्यापार में ग्राहक के साथ कौटुम्बिक भाव (मकानदारी) रखा जाय तो अवश्य ही ईमानदारी (नीतिमत्ता) से चलने की प्रेरणा मिलेगी। ग्राहक के प्रति कौटुम्बिक भाव रखा जायगा तो मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यापारी के मन में ग्राहक के साथ धोखेबाजी या बेईमानी करने का विचार कदापि नहीं आयेगा। ग्राहक अपना आत्मीय है, यह समझकर व्यापारी उसे शुद्ध (मिलावट से रहित), नापतौल में ठीक वस्तु देगा। माप में किसी प्रकार की हेराफेरी या गड़बड़ नहीं करेगा। उचित दर पर वस्तु देगा। ऐसा करने से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उस व्यापारी की साख जम जाती है। कोई भी ग्राहक उस पर अविश्वास नहीं करता। और धीरे-धीरे उसकी दुकान पर ग्राहकों का तांता लग

जाता है। इतनी अधिक बिक्री होती है कि व्यापारी को फुरसत नहीं मिलती। अनीतिमान व्यापारी ग्राहकों के साथ अनीति (बेईमानी) करके जितना धन कमाते हैं, उससे कई गुना अधिक धन ईमानदारी एवं न्यायनीतिपूर्वक व्यापार करने वाला कमा लेता है। इसलिए अनीति अन्यायपूर्वक धन कमाना बेकार है। आखिर वह धन टिकता नहीं। नीतिकार कहते हैं—

"अन्यायोपार्जितं वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्तेत्येकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥"

—अन्याय, अनीति से कमाया हुआ धन अधिक से अधिक टिके तो १० वर्ष तक टिकता है। ग्यारहवाँ वर्ष लगते ही वह समूल नष्ट हो जाता है। उसका नामो-निशान भी नहीं रहता।

हेलाक नाम का एक व्यापारी था। वह अपना व्यापार अनीतिमय ढंग से चलाता था। उसके एक ही लड़का था। वह जब सयाना हो गया तो हेलाक ने उसे दूकान पर बैठा दिया। साथ ही उसने अपने पुत्र को यह सांकेतिक भाषा भी सिखा दी कि जब कोई माल बेचने आए तो मैं तुम्हें कहूँगा—'पंचपुष्कर लाना।' पंचपुष्कर यानी ५० सेर का मन! और जब कोई माल खरीदने आएगा तो मैं तुम्हें कहूँगा—तीन पुष्करिया लाना, तो तुम ३० सेर वाला मन उठा लाना। इस तरह ग्राहक को ठगने के लिए हेलाक सेठ सांकेतिक भाषा का प्रयोग करता था। हेलाक सेठ ने अपने पुत्र का विवाह कर दिया। पुत्रवधू बहुत ही सुशील, नम्र, सेवाभावी एवं सत्यपरायण थी। दूकान के पीछे ही घर था। पुत्रवधू सेठ की वंचक भाषा ध्यानपूर्वक सुनती तो उसे बड़ा दुःख होता। उसने अपने पति से कहा—"आपके पिताजी पंचपुष्कर और तीन पुष्करिया लाने की बात क्यों कहते हैं?" क्या इसके पीछे कोई रहस्य है, लड़के ने सारी बात खोलकर कह दी। लड़के की पत्नी ने उससे कहा—"प्रियतम! आप ऐसा न करें, अपने पिताजी को समझा दें कि थोड़ी-सी जिन्दगी के लिए वे क्यों इतना उखाड़-पछाड़ करते हैं? किसके लिए वे अनीतिमय आचरण करते हैं? हमें यह पैसा बिलकुल नहीं चाहिए। मैं रूखासूखा खा-पीकर चला लूँगी, पर घर में अनीति का पैसा नहीं आने दूँगी। इससे सारे परिवार के संस्कार खराब होते हैं। सबकी बुद्धि भ्रष्ट होती है। अतः पिताजी से कहें कि वे नीतिन्यायपूर्वक धन्धा करें। नीतिन्याय पूर्वक कमाया हुआ पैसा टिकता है।"

लड़के ने पिताजी से अनुनय विनय करके सारी बात समझाई। पर हेलाकसेठ न माना। जब वह भोजन करने आया तो पुत्रवधू ने सेठ के चरणों में पड़कर नीति-न्यायपूर्वक व्यवसाय करने की प्रार्थना की। आश्वासन दिया कि नीति-न्यायपूर्वक उपार्जित धन टिका रहता है। अनीति से प्राप्त धन की अपेक्षा नीति से प्राप्त धन में बरकत है, शान्ति है। सबका शुभ आशीर्वाद मिलता है और उसमें मनुष्य धनवान-पुण्यता भी है।"

पुत्रवधू की प्रार्थना पर ध्यान देकर हेलाक सेठ नीति-न्यायपूर्वक व्यापार करना स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन से सब बाट सही रखे गये। पिता-पुत्र दोनों अब नापतौल में वस्तु दिखाने देने और मुनाफे में किसी प्रकार की कोई अप्रामाणिकता या अनैतिकता नहीं करते। नीति-न्यायपूर्वक व्यवसाय करने से इस वर्ष बहुत अच्छी कमाई हुई। हेलाक सेठ ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्रवधू के लिए सोने की एक करधनी बनवाकर दी। पुत्रवधू ने अपने श्वसुर की दी हुई भेंट सहर्ष स्वीकार की। एक दिन नदी तट पर पुत्रवधू नहाने गई थी। वह कपड़े में लपेट कर करधनी को किनारे पर रखकर नदी में नहा रही थी। तभी अचानक एक मछली आयी, खाने की चीज समझ-कर वह उसे निगल गई, और जल में चली गयी। नहा लेने के बाद जब हेलाक की पुत्रवधू ने अपनी करधनी टटोली तो वह नहीं मिली। इधर-उधर तलाश की, पूछ-ताछ की, पर कहीं भी पता न चला। आखिर वह घर आयी। श्वसुर से सारी बात कही। आखिर उसने विश्वासपूर्वक कहा कि "यह करधनी न्यायनीति से उपार्जित धन से बनी हुई है और उस पर आपका नाम भी खुदा है, इसलिए कहीं जाएगी नहीं। आप विश्वास रखें।"

संयोगवश एक मछुए के जाल में वह मछली फँस गई। मछुए ने जब उस निर्जीव मछली का पेट चीरा तो उसमें से वह सोने की चमकती हुई करधनी निकली। मछुआ आश्चर्यचकित होकर देखता रहा। अचानक उसकी दृष्टि उस पर जो नाम खुदा हुआ था, उस पर गई। 'हेलाक सेठ' का नाम पढ़ते ही वह सीधा उस नगर में प्रसिद्ध हेलाक सेठ के यहाँ पहुँचा और सोने की करधनी सौंपते हुए बोला—'सेठ! यह करधनी एक मछली के पेट में से निकली है। इस पर आपका नाम अंकित है। इसलिए मैं आपको देने के लिए लाया हूँ।' सेठ करधनी पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। अब वह व्यापार में न्यायनीति से उपार्जित धन का चमत्कार देख चुका था। पुत्रवधू का कथन अक्षरशः सत्य निकला, इसे भी वह जान चुका था। इसलिए अब तो वह अपने व्यापार में अन्याय-अनीति या बेईमानी को जरा भी स्थान नहीं देता था।

प्राचीनकाल का गौरवशाली व्यापारी

प्राचीनकाल का व्यापारी अपना व्यापार एक पुण्यकार्य—समाजसेवा समझकर करता था। वह व्यापार में भी पवित्रता और धर्म-भावना रखता था। जैनागमों में ऐसे कई व्यापारियों के वर्णन आते हैं, जो देश-विदेश में व्यापार करते थे। प्राचीन-काल का व्यापारी जब विदेश व्यापारार्थ जाता था तो अकेला-अकेला चुपके से नहीं जाता था, आजकल के व्यापारियों की तरह। वह सारे नगर में घोषणा करवाता था और जो भी छोटे व्यापारी उसके साथ चलना चाहते, उन्हें भी साथ में ले जाता था। इसीलिए प्राचीनकाल का व्यापारी नगर की जनता और वहाँ के शासक की मंगल भावनाएँ लेकर प्रस्थान करता था, और वापिस लौटते समय भी सारा गाँव, यहाँ तक कि राजा भी उस गौरवशील व्यापारी का स्वागत करने उमड़ता था।

उत्तराध्ययन सूत्र में पालित श्रावक की चर्चा है कि वह बहुत अच्छा शास्त्रज्ञ, नीतिज्ञ और धर्मात्मा श्रावक था, और व्यापार करने के लिए पिहुण्ड नगर पहुँचा। वहाँ व्यापार में उसकी सच्चाई, न्याय-नीति और प्रामाणिकता से प्रभावित होकर वहाँ के निवासी नागरिक ने उसे अपनी कन्या दी। बहुत कुछ धन दिया। वह अपनी पत्नी को लेकर समुद्र यात्रा द्वारा वापस अपने देश लौटा। रास्ते में ही उसकी पत्नी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम समुद्रपाल रखा गया। वही समुद्रपाल आगे चलकर विरक्त होकर त्यागी साधु बना।

कहने का आशय यह है कि प्राचीनकाल का व्यापारी कितना नैतिक मर्यादाओं और धर्म-पालन से मण्डित था और आज का व्यापारी। वह कहीं माल खरीदने भी जाएगा तो चुपके-चुपके जाएगा, स्वार्थी इतना कि किसी बेरोजगार भाई को रोजगार देने में कतराएगा। फिर व्यापार में भी जहाँ तक होगा, अधिक लोभ में पड़कर दूसरों को मूँडने, धोखा देने, ठगने, अच्छी दिखा कर खराब वस्तु देने, तौल-नाप में गड़बड़ करने, वस्तु में मिलावट करने या इसी तरह के हथकंडे करने का प्रयत्न करेगा। आयकर, विक्रयकर आदि करों के बोझ से सरकार ने भी उसे पूरी तरह लाद दिया है तो वह भी उस बोझ से छुटकारा पाने के लिए तरह-तरह के उपाय अजमाता है।

व्यापारी इन्हें तो छोड़ ही सकता है।

परन्तु तस्कर व्यापार चोर बाजार आदि के कई ऐसे राज्य विरुद्ध या बिना लायसेन्स या ठेके के व्यवसाय करने के राज्य निषिद्ध धन्धे हैं, जिन्हें तो व्यापारी चाहे तो छोड़ सकता है। अथवा ऐसी चीजों का व्यापार जिससे जनता का जीवन पाप और पतन की ओर जाता हो, से भी व्यापारी के लिए घोर अनैतिक हैं, उनसे भी व्यापारी को हाथ खींच लेना चाहिए। जैसे मद्य का व्यापार, मांस बेचने या कसाई खाने चलाने का व्यवसाय, अथवा वेश्यालय चलाने का धन्धा, या जिन चीजों से राष्ट्र निर्बल होता हो, ऐसे व्यवसाय—परस्पर लड़ाने भिड़ाने, फूट डालने, चोरी, डाके, लूटपाट, अपहरण आदि धन्धे—नहीं अपनाने चाहिए।

नीति नहीं, वहाँ धर्म कहाँ ?

इन अनैतिक धन्धों से मनुष्य का जीवन पतन की ओर जाता है। जहाँ नीति नहीं हो, वहाँ धर्म कैसे आ सकता है ? अहिंसा, सत्य आदि धर्म नहीं होगा तो सर्वभूत मैत्री, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' आदि की आध्यात्मिक भावना कैसे आएगी ? और इन उच्च भावनाओं के बिना मनुष्य का आत्मिक विकास कैसे हो सकता है। अतः मोक्ष रूपी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को अपने व्यावसायिक क्षेत्र में नीति-न्याय का अपनाना अनिवार्य है।

४

ब्रह्मचर्य : आत्मा एवं शरीर का तेजःस्रोत

भारत के प्राचीन ऋषियों की सबसे बड़ी मूल्यवान आध्यात्मिक देन है—ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य विज्ञान की जितनी अनुभूति और जितनी साधना-आराधना भारतवर्ष में हुई है, शायद ही अन्य किसी देश में हुई हो। आर्यों की सबसे बड़ी साधना, अमरत्व की आराधना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य मनुष्य के शरीर और आत्मा का तेजःस्रोत है। समस्त शक्तियों का मूलस्रोत यदि ब्रह्मचर्य को कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यह मानव के तन, मन और आत्मा को सशक्त, सक्षम, स्थिर और सुदृढ़ बनाता है। यह तो मानी हुई बात है कि तन, मन और आत्मा सुदृढ़ एवं शक्तिशाली न हों तो आध्यात्मिक साधना का श्री गणेश हो नहीं सकता। जिस व्यक्ति के मन में चंचलता और निर्बलता है, जिसका शरीर अत्यन्त दुर्बल, रोगिष्ठ है जिसमें कष्ट-सहिष्णुता नहीं है, विचारों की स्थिरता और आपत्तियों में हँसते हुए आगे बढ़ने की क्षमता नहीं है, वह आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर सकता, आत्मा के ज्ञानादि गुणों की प्रखरता के दर्शन नहीं कर सकता। उपनिषद् के ऋषियों ने तो स्पष्ट कह दिया है—

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'

'जिसके तन-मन में बल नहीं है, वह आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता।'

ब्रह्मचर्यपालन से शारीरिक लाभ

मैं आपसे पूछता हूँ—'क्या शरीर और मन बादाम का हलवा या और सिर्फ पौष्टिक पाक के खाने से बलवान हो जायेंगे ?' आप कहेंगे, बिना हजम हुए सिर्फ बढ़िया से बढ़िया पौष्टिक पदार्थ के खाने से कुछ भी लाभ नहीं होगा, कुछ भी ताकत नहीं आएगी। परन्तु पौष्टिक खुराक को हजम करने की शक्ति कैसे आएगी ? क्या भस्म रसायन या टॉनिक खाने से आ जाएगी ? कभी नहीं आएगी, जब तक व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करेगा, संयम पूर्वक नहीं रहेगा। ब्रह्मचर्य-पालन करने पर सादे-से-सादा खुराक भी शरीर में शक्ति लाएगा, दवाइयों या रसायनों की जरूरत नहीं रहेगी, मन प्रत्येक साधना में स्थिर हो जाएगा परिषहों एवं कष्टों के अम्बार आने पर भी वह पहाड़ की तरह अडोल रहेगा। भय और प्रलोभनों के समय भी वह समुद्र की तरह अविचल रहेगा। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने ब्रह्मचर्य का माहात्म्य बताते हुए कहा है—

चिरायुषः सुसंस्थाना दृढसंहनना नराः ।
तेजस्विनो महावीर्या भवेयुर्ब्रह्मचर्यतः ॥'

ब्रह्मचर्य से मानव चिरायु होते हैं, उनके शरीर का संस्थान मजबूत हो जाता है, उनके शरीर का संहनन भी सुदृढ हो जाता है। ब्रह्मचर्य के साधक तेजस्वी एवं परम-वीर्यवान् (महाबली) होते हैं।

मतलब यह है कि आध्यात्मिक साधना या जप, तप आदि साधना में सशक्त तन और सुदृढ स्थिर मन की आवश्यकता है, और तन-मन की सशक्तता के लिए ब्रह्मचर्य पालन अनिवार्य है। कारण यह है कि तन और मन को कमजोर और अशक्त बनाने वाली इन्द्रियविषयों में आसक्ति है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों के आकर्षण से वही मनुष्य खिंच जाता है, जिसका तन और मन कमजोर हो। ब्रह्मचर्य का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर मनुष्य का शरीर और मन दोनों इतने बलवान हो जाते हैं कि इन्द्रियों को लुभावने लगने वाले विषयों की ओर सहसा आकृष्ट नहीं होते। कवि श्री केवल मुनिजी के शब्दों में ब्रह्मचर्य की महिमा पढ़िए—

दृढ़ वक्षस्थल भुजदण्ड प्रचण्ड अरु कञ्चनवर्णी काया है।
आँखों में चमक, चेहरे पे दमक, यह ब्रह्मचर्य की माया है ॥ध्रुव॥
जो इसके महत्त्व को भूल गया वो भूल गया सुख की गलियाँ।
यौवन बसन्त से पहले ही, मुर्झी उसकी जीवन कलियाँ ॥
आँखों के नीचे गड्ढे हैं, गड्ढों में काली छाया है ॥१॥
उमंग रहे, उल्लास रहे, निर्भयता शान्ति साथ रहे।
प्रातः के सुरभित फूलों-सा मुख खिला-खिला दिन-रात रहे ॥
तन-मन-आनन हर्षित उसके, जिसने इसको अपनाया है ॥२॥
हीरा हो, लेकिन कान्ति न हो, दीपक हो, लेकिन तेल न हो।
मोती हो लेकिन आब न हो, साथी हो, लेकिन मेल न हो ॥
दो कौड़ी उनकी कीमत है, जिनने यह लाल लुटाया है ॥३॥
सभ्यता संस्कृति का भूषण, गुणरत्नों का आगार है यह।
अहिंसा और सत्य का साथी है, तपका, जपका शृंगार है यह ॥
'केवल मुनि' सारे व्रतों में, ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ बताया है ॥४॥

सचमुच ब्रह्मचर्य में इतना तेज, शक्ति और ओज है कि उसके सामने बिजली की शक्ति व चमक कुछ भी नहीं है। ब्रह्मचारी के शरीर और मन में इतनी शक्ति बढ़ जाती है कि वह चाहे तो अपनी एक लात से पत्थर को तोड़ सकता है। वह समुद्र को एक छलांग में पार कर सकता है, पहाड़ जितना वजन उठा सकता है। बड़ी से बड़ी शक्तिशाली मोटर को रोकने की शक्ति उसमें आ जाती है। वह कष्ट साध्य

विघ्नों से परिपूर्ण कार्य को सहज ही में कर सकता है। बड़ी से बड़ी आफत के समय भी ब्रह्मचारी घबराता नहीं है। वह आफतों से टक्कर लेता है, कष्टों एवं उपसर्गों का समभाव से सहने की उसमें प्रचण्ड शक्ति आ जाती है।

वीरवर हनुमानजी को कौन नहीं जानता ? वे वैदिक और जैन दोनों वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं। हनुमानजी में ब्रह्मचर्य की अद्भुत शक्ति थी। उसी ब्रह्मचर्य के प्रताप से वे लंका जाते समय नदी की तरह समुद्र को पार करके चले गए। लंका में जिस अशोक वाटिका में, जहाँ सीताजी को त्रिजटा आदि राक्षसियों के पहरे में रावण ने रखा था, वहाँ भी हनुमानजी अपनी विलक्षण शक्ति से पहुँच गए। माता सीता को उन्होंने श्री रामचन्द्रजी का सन्देश दिया। रावण को भी उन्होंने अपने बल का परिचय दिया। राक्षसराज रावण के द्वारा डाले गए नागपाश बन्धन को उन्होंने एक झटके में तोड़ डाला। रावण के शक्तिशाली राजपुरुषों के काबू में वे नहीं आए और वहाँ से सकुशल समुद्र पार करके श्रीराम के पास वे पहुँच गए। कितना कठिन कार्य था, रावण की नगरी में जाना और सीता का पता लगाना तथा रावण की गिरफ्त से निकल भागना ! यह ब्रह्मचर्य का ही प्रताप था, कि हनुमानजी इतने कठिन कार्य को आसानी से कर सके।'

जिस समय लक्ष्मण मेघनाद के शक्तिबाण से मूर्च्छित हो गये थे, उस समय श्रीराम के सैनिक शिविर में सन्नाटा छा गया था। सभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे। स्वयं श्रीराम भी हताश हो गए थे। परन्तु सुषेणवैद्य ने संजीवनी बूटी लाकर लक्ष्मण को सेवन कराने का कहा तो सबको थोड़ी-सी आशा बँधी लेकिन संजीवनी बूटी कौन लाए ? कहाँ से लाए ? उसकी पहचान क्या है ? यह पूछने पर सुषेण वैद्य ने कहा—वह द्रोणगिरि पर मिलती है, उसकी अमुक पहचान है। उस समय संजीवनी बूटी को लाने का बीड़ा और किसी ने नहीं, हनुमानजी ने उठाया। वे ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त लब्धि के बल पर वहाँ से उड़े और सीधे द्रोणगिरि पहुँचे। वहाँ एक पहाड़ी पर अनेक जड़ी-बूटियाँ देखकर हनुमान जी ने सोचा—'न मालूम, मैं ले जाऊँ, वह बूटी संजीवनी न हो, दूसरी बूटी हो।' अतः इस पहाड़ी को ही उठा ले जाऊँ, तो अच्छा रहेगा।" यह सोचकर ब्रह्मचर्य के अद्भुत बल से श्री हनुमानजी ने, कहते हैं—वह पहाड़ी ही अपनी हथेली पर उठा ली और उसे लेकर ठेठ लंका पहुँचे। सुषेण वैद्य एवं श्रीराम आदि सभी के मन में हनुमान जी के प्रति अन्तर से आशीर्वाद फूट पड़े। अब सबके जी में जी आया। संजीवनी बूटी को तोड़कर सुषेण वैद्य ने लक्ष्मण को सेवन कराई। बूटी लेते ही लक्ष्मण होश में आए और अँगड़ाई लेते हुए उठ खड़े हुए।

यह था ब्रह्मचर्य का अद्भुत कार्य !

आप कहेंगे यह तो बहुत पुराना हो गया। इस पर लोगों को सहसा विश्वास नहीं होता कि ब्रह्मचर्य से इतनी शक्तियाँ बढ़ जाती... कतिपय आधुनिक उदाहरण लीजिए:—

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध पहलवान प्रो० राममूर्ति ने ब्रह्मचर्य के बल पर अपने तन-मन को इतना साध लिया कि वे अपनी छाती पर कई मन का पत्थर रखवाकर बड़े हथौड़े से तुड़वा लेते थे। कई हॉर्स पावर वाली फुल स्पीड मे चलती हुई कार को कमर मे रस्से से बाँधकर रोक लेते थे। अपनी छाती पर हाथी के दोनों पैर रखवा लेते थे। इनकी शारीरिक शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि उसके द्वारा वे मजबूत से मजबूत आदमी से लोहा ले लेते थे। उनका यह दावा था कि मुझे दो वर्ष का बालक सौंप दो, मैं बीस वर्ष मे उसे दूसरा राममूर्ति बना दूँगा। प्रो० राममूर्ति का मनोबल भी अत्यन्त प्रबल था। उनका भोजन शाकाहारी एवं सात्विक था। व्यायाम एवं प्राणायाम वे अवश्य करते थे। परन्तु मूल वस्तु, जो शक्ति प्रदान करने वाली थी वह थी—ब्रह्मचर्य।

शरीर के अंगों में ब्रह्मचर्य की प्रचण्ड शक्ति

जैसे पॉवर हाउस मे बिजली सगृहीत होती है, उसके द्वारा फिर जगह-जगह पहुँचाई जाती है, वैसे ही आत्मा रूपी पावर हाउस मे ब्रह्मचर्य रूपी विद्युत्शक्ति सगृहीत हो जाने पर सारे शरीर में—शरीर के प्रत्येक अवयव मे पहुँच जाती है। आँख, नाक, कान, जीभ, हाथ, पैर आदि मे जो प्रचण्ड शक्ति है, वह किसकी है? ब्रह्मचर्य द्वारा संगृहीत वीर्य की है।

आयुर्वेदशास्त्र मे शरीर निर्माण एवं शारीरिक बल की सुन्दर प्रक्रिया बताई गई है। पाश्चात्य विद्वानो ने भी इस मत को स्वीकार किया है। सुश्रुत के अनुसार सात धातु मिलकर जीवन को धारण करते हैं। रस से लेकर शुक्र (वीर्य) तक का क्रम इस प्रकार है—

> "रसाद् रक्तं ततोमांसं, मांसान्मेदः प्रजायते।
> मेदसोऽस्थि, ततोमज्जा, मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥"

—"मनुष्य जो कुछ खाता है, वह शरीर में पहुँचता है। उसमे से सर्वप्रथम रस बनता है, रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद (चर्बी), मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा (रगें), मज्जा से सातवां पदार्थ, जो सब का सारभूत है, वीर्य बनता है।"

यही वीर्य ओजस् और तेजस् के रूप मे परिणत होकर सारे शरीर मे फैल जाता है।

आचार्य वाग्भट्ट ने बताया है कि[1] शरीर मे ज्यों-ज्यों ओजस् और तेजस्

---

१ यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टि-पुष्टि-बलोदयाः।
यन्नाशे नियतो नाशो, यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पाद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः।
उत्साह-प्रतिभा-धैर्य-लावण्य-सुकुमारताः॥ —वाग्भट्ट

बढ़ता है, वैसे-वैसे शरीर में तुष्टि, पुष्टि और शक्ति बढ़ती जाती है। वीर्य में निहित ओजस् के प्रभाव से प्रतिभा, मेधा, बुद्धि, लावण्य, सौन्दर्य एवं धैर्य उत्साह की वृद्धि होती है। ओजस् के ह्रास से मनुष्य का मरण होता है, और उसके रहते हुए मनुष्य का जीवन टिका रहता है।

इस पर से आप समझ सकते हैं कि सगृहीत वीर्य का कितना महत्त्व है? और वीर्यधारण का प्रमुख कारण है—ब्रह्मचर्य। इसी दृष्टि से कुछ आचार्यों ने ब्रह्मचर्य का अर्थ किया है—'वीर्य धारणं हि ब्रह्मचर्यम्।'

प्रश्न यह है कि भोजन करने से लेकर वीर्य बनने तक की प्रक्रिया में कितना समय लगता है? इसका उत्तर आयुर्वेदशास्त्र के पास है। यह तो आप जानते ही हैं कि भोजन करने के पश्चात् उसका जो सारभाग होता है, वह तो शरीर में रह जाता है तथा पाचन होकर बचा हुआ शेष जो निःसार भाग होता है, वह मल, मूत्र, पसीना, नाक-कान का मैल, कफ, श्लेष्म, बाल, नख आदि के रूप में बाहर निकल जाता है। सारभाग से रस से लेकर वीर्य बनने तक प्रत्येक धातु के परिपक्व होने में ५ दिन लगते हैं। रस से लेकर वीर्य तक सातों धातुओं के परिपक्व होने में पाँच दिन के हिसाब से ३५ दिन लगते हैं। अर्थात् जो भोजन आज किया गया है, उसका वीर्य बनने में ३५ दिन लगते हैं।

इतना मँहगा वीर्य नष्ट करना—मूर्खता

कितना वीर्य एक महीने में बनता है? इसका हिसाब भी आयुर्वेदशास्त्र में बतलाया गया है कि ४० सेर भोजन से १ सेर रक्त बनता है, एक सेर रक्त से सिर्फ दो तोला वीर्य बनता है। इसका मतलब है—तीस दिन में ३० सेर भोजन से डेढ़ तोला वीर्य बनता है। अगर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा जाए, तब तो यह वीर्य स्थिर रहता है, ओज बन जाता है और उससे पूर्वोक्त शक्तियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु अगर ब्रह्मचर्य भंग करके वीर्य को नष्ट कर दिया जाय तो एक बार के सहवास में कम से कम डेढ़ तोला वीर्य नष्ट हो जाता है। जो उपलब्धियाँ या शक्तियाँ मनुष्य ब्रह्मचर्य से प्राप्त कर सकता था, ब्रह्मचर्य भंग करके वीर्यपात से लगभग [illegible] बर्बाद कर डालता है। महीने भर की कमाई को सामान्य मनुष्य थोड़ी-सी देर में [illegible] नष्ट कर डालता है। शरीर से वीर्य निकल जाने के बाद शक्ति [illegible] निस्तेज, निस्सत्त्व और निर्बल हो जाता है। वीर्यपात के बाद मनुष्य [illegible], इन्द्रियाँ और शरीर के अवयवों की शक्ति ढीली और निर्बल हो जाती है। इसीलिए किसी मनीषी ने स्पष्ट कहा है—

'मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दु धारणात्।'

—वीर्य की बूंद के पतन से मरण है, और उस बूंद के धारण से जीवन है।
[illegible] अनुभव करते हुए कहते हैं—

वीर्यबिन्दु के धारण करने से मैं कामदेव को भस्म कर सका, समुद्र-मथन से निकले हुए कालकूट विष का पान करके मैं स्वस्थ एवं जीवित रह सका।'[1]

ब्रह्मचर्य में विष पचाने की शक्ति

आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती अखण्ड ब्रह्मचारी थे। उनके अंग-अंग पर ब्रह्मचर्य अठखेलियाँ कर रहा था। बड़ा तेजस्वी और ओजस्वी शरीर था उनका। कहते हैं, उन्हें विदेशी लोगों ने कई बार जहर दे दिया था, लेकिन वे जहर को भी पचा गये थे। विष अपना प्रभाव शरीर पर कुछ भी न डाल सका। इसके पीछे ब्रह्मचर्य का ही प्रताप था कि विष भी उनका कुछ बिगाड़ न सका। किन्तु अन्त में गौरजहाँ नामक वेश्या ने एक रसोइए द्वारा दूध में अत्यन्त घातक एवं तीव्र विष मिलाकर दिया गया वह उनके लिए मरणान्तक बना। यद्यपि बाद में उन्हें पता चल गया था कि मुझे दूध में विष दिया गया है, तथापि काफी विलम्ब हो चुका था, और विष की मात्रा भी अधिक थी, विष भी तीव्र था, इसलिए वह सारे शरीर में शीघ्र ही व्याप्त हो गया और जानलेवा बना। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि वही विष अगर किसी साधारण कामभोगपरायण मनुष्य को दिया होता तो वह चन्द मिनटों में ही खत्म हो जाता, जबकि स्वामी जी का शरीर काफी समय तक टिका रहा। दूसरी बात यह है कि विष का घातक प्रभाव और उसके कारण शरीर में असह्य पीड़ा होने पर भी उनके चेहरे पर शान्ति विराजमान थी। उनकी वाणी से केवल ओम्-ओम् का उच्चारण हो रहा था। इतनी कष्ट-सहिष्णुता भला किसके प्रताप से उनमें थी? वही ब्रह्मचर्य का प्रभाव था।

एक और घटना स्वामी दयानन्द जी के विषय में सुनिये—

एक बार सर्दी के दिन थे। कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी, प्रातःकाल के समय स्वामीजी सिर्फ एक छोटा-सा तहमद लगाए, नंगे बदन गंगानदी के तट पर घूम रहे थे। एक अंग्रेज ने ऐसी ठण्ड के मौसम में भी नंगे बदन घूमते देखा तो, आश्चर्यचकित होकर पूछा—आपको ठण्ड नहीं लगती? स्वामीजी ने कहा—"आपके मुँह और कान को जैसे ठण्ड नहीं लगती, वैसे ही मेरे बदन को ठण्ड नहीं लगती।" वास्तव में ब्रह्मचर्य का ही प्रभाव था, जिसकी उष्मा से शरीर सर्दी-गर्मी आदि को बर्दाश्त कर सकता था।

ब्रह्मचर्य-पालन से विभिन्न उपलब्धियाँ

मैंने पहले यह बताया था कि ब्रह्मचर्य-पालन से वीर्यरक्षा करने से मनुष्य में उत्साह, साहस, धैर्य, प्रतिभा, मनोबल, बुद्धि आदि बढ़ते हैं। इस सम्बन्ध में प्राचीन-

---

१ "सिद्धे बिन्दौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशोऽभवत्॥" —शिवसंहिता

काल के अनेक ब्रह्मचारियों के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। वर्तमानकाल का भी उदाहरण है—स्वामी विवेकानन्द का। स्वामी विवेकानन्द ने निष्ठापूर्वक ब्रह्म साधना की थी फलस्वरूप उनकी बौद्धिक क्षमता, प्रतिभा, स्फुरणा-शक्ति एवं स्मरण शक्ति आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गई थी। शिकागो की सर्वधर्म परिषद में उनके भाषण हुए, उनसे उनकी बौद्धिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। उन्होंने वेदान्त इतना गहन अध्ययन नहीं किया था, फिर भी जब वे बोलने लगे तो नई-नई स्फुरणा उनके दिमाग में स्फुरित होने लगीं। उसी का फल है कि वे अमेरीका के लोगों अपनी बौद्धिक प्रतिभा से प्रभावित कर सके थे।

एक बार स्वामी विवेकानन्द कुछ अस्वस्थ थे। उस समय उनके ... में विश्वकोष के कई दलदार ग्रन्थ रखे हुए थे। स्वामी जी उनमें से कई ग्रन्थ वाचन बहुत ही शीघ्रता से कर चुके थे। एक दिन उनका शिष्य उनकी ... में आया। उसने ये बड़े-बड़े पोथे देखे तो आश्चर्यपूर्वक पूछा—"गुरुजी! जिन्दगी में इन बड़े-बड़े पोथों को पूरा तो शायद ही कोई पढ़ सकता होगा। पढ़ भी जाए, तो भी इन्हें याद तो रख ही नहीं सकता होगा।" स्वामी ... ने उससे कहा—"वत्स! तू भूलता है। मैंने इनमें से अनेक भागों को पढ़ा है उनमें लिखी हुई बहुत-सी बातें मुझे याद हैं। तुम चाहो तो कहीं से भी देख लो।"

शिष्य ने विश्वकोष का एक भाग उठाया और उसमें से कई कठिन निकालकर उनके सम्बन्ध में पूछा। इस पर स्वामी जी ने कई स्थलों अक्षरशः पाठ सुना दिया और कई स्थलों पर उन्होंने अपनी ओर से विशेष करके समझाया। शिष्य तो सुनकर अवाक् रह गया। कहने लगा—"मालूम है, गुरुजी! आपको किसी दैवीशक्ति का वरदान प्राप्त है। इसी से आप इतना सकते हैं।" विवेकानन्द ने उसे प्रेमपूर्वक कहा—वत्स! मुझे किसी भी दैवीय वरदान प्राप्त नहीं है। यह ब्रह्मचर्य की ही अद्भुत शक्ति है। निष्ठापूर्वक पालन से सभी विद्याएँ हस्तगत हो सकती है, स्मरणशक्ति अखण्ड रह सकती तू भी चाहे तो ब्रह्मचर्य-साधना द्वारा ये सब शारीरिक, बौद्धिक एवं शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है।"

ब्रह्मचर्य का

ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति का सभी मनुष्यों पर प्रभाव पड़ता है। वह किसी के डराने से अपने ब्रह्मचर्य से विचलित होता है और न ही किसी प्र प्रलोभन से डिगता है। वह प्रकृति पर भी अपना प्रभाव डालता है। देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी दिव्यशक्ति सम्पन्न देव ऐसे ब्रह्म दुष्कर साधना से प्रभावित होकर उसे नमस्कार करते हैं, उसके धर्माचरण में

है।[1] ब्रह्मचारी के अंग-अंग में इतनी शक्ति होती है कि उसके अंग स्पर्श हुई भी वस्तु बड़े-बड़े रोगों को मिटा देती है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से सर्प पुष्पमाला बन जाता है, अग्नि शीतल होकर पानी बन जाती है, शूली सिंहासन का रूप धारण कर लेती है, ब्रह्मचर्य के अंग स्पर्श से नदी जलाशय एवं समुद्र रास्ता देते हैं। क्रूर अमृत बन जाता है, पहाड़ छोटा-सा पत्थर बन जाता है, विघ्न महोत्सव हो जाता है, शत्रु मित्रवत् व्यवहार करने लगता है, समुद्र क्रीड़ा सरोवर ही जाता है, और वन भवन बन जाता है।[2]

ब्रह्मचर्य एक प्रकार का तप है[3] इतना ही नहीं, 'तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं' इस न्याय से तपस्याओं में उत्तम तप ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य रूप तप का इतना माहात्म्य है कि इससे देवों ने मृत्यु का नाश किया है।[4] ब्रह्मचर्य को परमतीर्थ, परमबल, परमयज्ञ, उत्कृष्ट आभूषण, गुण का विभूषण माना है।[5] राजा (शासक) ब्रह्मचर्य रूप तप से राष्ट्र की रक्षा करता है। आचार्य ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारियों को शिक्षा दीक्षा देने में समर्थ होता है।[6]

आध्यात्मिक शक्ति का केन्द्र : ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य शब्द की बनावट पर आप ध्यान दें तो उसका महत्त्वपूर्ण अर्थ आपके ध्यान में आ जाएगा। वैसे ब्रह्मचर्य का अर्थ चाहे हम वीर्यरक्षा या वीर्यधारण कह दें, या सर्वेन्द्रियसंयम कह दें, अथवा मैथुनवृत्ति का त्याग कह दें, परन्तु उसका शब्दार्थ करें तो हमें उसकी व्यापकता ध्यान में आ जाएगी। ब्रह्मचर्य शब्द 'ब्रह्म' और 'चर्य' इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'ब्रह्म' का अर्थ आत्मा है और 'चर्य' का अर्थ गति करना, चर्या करना या चलना है। अर्थात् ब्रह्म=आत्मभाव की ओर चर्या करना,

---

1. देव-दाणव-गधव्वा जक्खरक्खस किन्नरा।
   बंभयारिं नमंसति, दुक्करं जे करेंति ते॥ —उत्तरा० १६।१६
2. तोयत्यग्निरपि, स्रजत्यहिरपि व्याघ्रोऽपि सारंगति।
   व्यालोऽप्यश्वति पर्वतोऽप्युपलति क्ष्वेडोऽपि पीयूषति॥
   विघ्नोऽप्युत्सवति प्रियत्यरिरपि क्रीडा तडागत्यपा—
   नाथोऽपि स्वगृहत्यटव्यपि नृणां, शील प्रभावाद् ध्रुवम्॥ —सिन्दूर प्रकरण-४०
3. तपो वै ब्रह्मचर्यम् —वेद
4. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —अथर्व०
5. (क) ब्रह्मचर्यं परं तीर्थम्। —दानचन्द्रि०
   (ख) ब्रह्मचर्यं परं बलम्। —आयुर्वेद
   (ग) यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्। —छान्दोग्य
6. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।
   —अथर्व०

गति करना ब्रह्मचर्य है। शुद्ध आत्मभाव ही ब्रह्म यानी परमात्मा है। उसकी ओर अग्रसर होना—अर्थात् परमात्मभाव में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य जब शुद्ध आत्मभाव या परमात्मभाव में गति (चर्या) करने का द्योतक है, तब सहज ही प्रश्न होता है—उस परमात्मभाव को प्राप्त करने के लिए जितने भी आत्म-बाह्य पदार्थ (परभाव) हैं—शरीर, मन, इन्द्रियाँ, धन, परिवार, साधन आदि उन सबको छोड़ना होता है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, मोह, द्वेष, ईर्ष्या आदि जितने भी मावात्मक आत्मबाह्य (विभाव) पदार्थ, उनसे भी किनाराकशी करनी होगी। मतलब यह है कि आत्मा अपने आप में शुद्ध होते हुए भी इन पर-पदार्थों में फँस कर अशुद्ध हो रहा है। ब्रह्मचर्य की साधना करते समय आत्मा का बन्धन में डालने वाले हिंसा आदि या क्रोधादि कषाय या मिथ्यात्व आदि विभाव है अथवा जितने भी परभाव हैं, उन्हें खदेड़ना है। मन-वचन-काया से निकालना है। ज्यों-ज्यों आत्मा विभाव से दूर होता जाएगा, त्यों-त्यों अपने असली स्वरूप या परमात्मस्वरूप के निकटतर होता जाएगा। परभाव या विभाव को हटाते ही आत्मा के स्वजन ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि स्वगुण उसकी सहायता में आ जाते हैं और आत्मा बहुत ही शक्तिशाली हो जाती है। इस तरह ब्रह्मचर्य आत्मिक शक्ति का केन्द्र बन जाता है।

जब ब्रह्मचर्य साधक व्यक्ति परभावों या विभावों से दूर रहकर आत्मभावों में रमण करता है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर के अंगोपांग आदि परभावों की सेवा से हटकर आत्मा (ब्रह्म) की सेवा में लग जाता है। शुद्ध आत्मा की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। इससे क्रमशः वीतरागता प्राप्त होने पर उसे अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये अनन्तचतुष्टय प्राप्त हो जाता है। कितनी आत्मिक-शक्तियाँ उसे प्राप्त हो जाती है। पर ये सब होती हैं—ब्रह्मचर्य के इस गहन अर्थ को समझ कर तदनुसार साधना करने से।

आत्मा और शरीर दोनों में ब्रह्मचर्य से शक्ति

मनुष्य क्या है? वह केवल आत्मा ही नहीं है, वह शरीर भी है। अगर किसी मनुष्य को आध्यात्मिक दिशा में आगे बढ़ना हो तो वह केवल शरीर को लेकर आगे नहीं बढ़ सकता और न वह सिर्फ आत्मा को ही लेकर आगे बढ़ सकता है। अतः दोनों को सुदृढ़ बनाकर व अपने विचार और उद्देश्य को मजबूत करके ही मनुष्य ध्येय की ओर गति-प्रगति कर सकता है। मगर दोनों को मजबूत और सुदृढ़ करने का उपाय क्या है? वह सर्वश्रेष्ठ उपाय ब्रह्मचर्य है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य में अमोघ शक्ति है। वही शक्ति साधक के तन-मन को सशक्त, सक्षम और मजबूत बनाती है। तन-मन जब सुदृढ़ हो जाते हैं तो साधक में प्रचण्ड शक्ति, अपूर्व देदीप्यमान तेज और अद्भुत क्षमता प्रगट हो जाती है। वह अबाधगति से अध्यात्म के उच्चशिखर पर चढ़ जाता है, कोई भी वैभाविक शक्ति उसके कदम को रोक नहीं सकती।

—

ब्रह्मचारी के सामने विकार टिक नहीं सकते

ब्रह्मचर्य एक तेजोमयी अग्नि है, जिसमें तप कर आत्मा कुन्दन बन जाता है। उस पर चढ़े हुए मल—कर्ममल जलकर भस्म हो जाता है। विकारों की चटनी बन जाती है, आत्मा में अपार शक्ति आ जाती है। ब्रह्मचर्य जिस जीवन में रम जाता है उसमें मोहादि कर्म बहुत-ही क्षीण हो जाते हैं।

स्थूलिभद्र एक दिन कोशा वेश्या के रूप, रंग, हावभाव में इतने आसक्त हो गए थे कि अहर्निश कोशा के ही पास रहने लगे। उन्हें कुछ भी भान न रहता कि बाहर की दुनिया में क्या हो रहा है? मेरा कर्तव्य क्या है? क्या यह शरीर भोगों में ही खो देने के लिए है? उनके पिता शकडाल महामात्य ने, उसके छोटे भाई तथा बहनों ने बहुत चाहा और समझाने का भी उपाय किया कि वह कोशा के चंगुल से निकल कर एक सद्गृहस्थ का-सा जीवन बिताए। लेकिन शकडाल महामंत्री की मृत्यु के बाद जब उनकी अर्थी श्मशान की ओर ले जाई जा रही थी। तभी कोलाहल सुनकर स्थूलिभद्र कोशा के महल से उतर कर बाहर आए। पिता के मृत शरीर को देख कर वे रो पड़े। उनके भावों में उथल-पुथल मच गई। उनके मनमस्तिष्क में काम और मोहदशा का, स्त्री शरीर और रूपरंग के प्रति आसक्ति का सारा नक्शा खिंच गया। पिता के अग्निसंस्कार के बाद स्थूलिभद्र ने न तो महामात्य का पद लिया और न ही सांसारिक भोग्य पदार्थों की ओर मुंह मोड़ा। वे एकदम विरक्त हो गए और गुरुचरणों में जाकर मुनि दीक्षा ले ली। पांच महाव्रतों में अतिदुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत उन्होंने ग्रहण तो कर लिया, परन्तु गुरुदेव ने उन्हें ब्रह्मचर्य साधना का परिपक्व अभ्यास कराया। स्थूलिभद्र मुनि अब ब्रह्मचर्य में इतने पारंगत हो गए थे कि कोई भी शक्ति अब उन्हें पूर्ण ब्रह्मचर्य से डिगा नहीं सकती थी। ब्रह्मचर्य को उन्होंने पचा लिया था। परन्तु जब तक पढ़ी हुई विद्या की परीक्षा नहीं हो जाती, तब तक उसमें उत्तीर्णता का पता नहीं लगता इसलिए स्थूलिभद्र मुनि को दूसरे गुरुभाइयों ने जब सिंह गुफा, सर्प की बांबी एवं कुए की जगत पर चौमासा करने का कठोर संकल्प किया तो स्थूलिभद्र ने भी अपनी भूतपूर्व हृदयेश्वरी रूपराशि कोशा की चित्रशाला में चातुर्मास बिताने का संकल्प किया और गुरुदेव से आज्ञा लेकर पहुँच गए कोशा के द्वार पर। चित्रशाला में चातुर्मास करने की बात सुनते ही कोशा को अपार हर्ष हुआ। उसने सोचा कि मैं इन्हें पुनः अपने रंग में रंग लूंगी। लेकिन जितना-जितना प्रयत्न कोशा ने मुनि स्थूलिभद्र को ब्रह्मचर्य व्रत से डिगाने का किया, उन सब में वह निष्फल हुई। आखिर मुनि विजयी बने, कोशा हार गई।

मैं आपसे पूछता हूं कि कौन-सी ऐसी शक्ति थी, जिसके कारण ब्रह्मचर्य-भंग के इतने निमित्त होते हुए भी, तथा कोशा द्वारा एड़ी से चोटी तक ब्रह्मचर्य से विचलित करने का प्रयत्न करने पर भी मुनिस्थूलिभद्र ब्रह्मचर्यमहाव्रत पर स्थिर रहे,

५

परिवार-कल्याण बनाम ब्रह्मचर्य

परिवार : कल्याण से सम्बन्ध

परिवार सहयोग के लिए बनता है। माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र, पुत्री, पत्नी, चाचा-चाची आदि सब मिलकर परस्पर सहयोग की दृष्टि से जुड़े हुए हैं, वही उनकी परिवार संज्ञा हो जाती है। यद्यपि परिवार जहाँ परस्पर शारीरिक और मानसिक सहयोग के लिए बनता है, वहाँ भारतीय संस्कृति में उसका एक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है— आध्यात्मिक विकास में एक-दूसरे को सहयोग देना। इसी दृष्टि से पत्नी को सिर्फ पत्नी या स्त्री न कहकर 'धर्मपत्नी' पद भारतीय संस्कृति के उद्गाताओं ने दिया है तथा वैष्णव धर्म में भगवान भक्ति की दृष्टि से यह भी चिन्तन प्रस्तुत किया गया है—"यह परिवार जो मुझे मिला है, यह मेरा नहीं है, भगवान ने परस्पर सहयोग के लिए, एक दूसरे के कल्याण और धर्म में सहायता देने के लिए, भगवान ने भेजा है। ये बालक भी भगवान के हैं। मुझे पालन-पोषण करने के लिए भगवान् ने ये दिये हैं, या भेजे हैं, आसक्ति या ममता करके मोहबन्धन में बँध कर अपने जीवन का अकल्याण करने के लिए नहीं।

कितना उदात्त दृष्टिकोण था परिवार के द्वारा कल्याण साधन का! परिवार में सन्तान भी आता था, कल्याण और धर्म वृद्धि में इसी प्रकार सहयोग देने की दृष्टि से।'

सन्ततिवृद्धि युक्त बड़ा परिवार कल्याण में बाधक

परन्तु परिवार में सदस्यों की संख्या जब तक सीमित रहती है, तब तक तो परिवार के माध्यम से कल्याण की सम्भावना रहती है। परन्तु परिवार में जब सदस्यों की संख्या बढ़ती जाती है, सन्तानों की संख्या भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है, और परिवार हद से ज्यादा बड़ा हो जाता है, तब परिवार का मुखिया या परिवार के वयस्क अथवा आजीविका सलग्न व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से संतानों की शिक्षा-दीक्षा, सुसंस्कार पालन-पोषण एवं उदरपूर्ति ठीक ढंग से नहीं कर पाते। परिवार के समझदार या मुख्य व्यक्ति रात-दिन बालकों की उदरपूर्ति से लेकर शिक्षा-दीक्षा, शादी, आजीविका आदि की चिन्ता में घुलते रहते हैं। जहाँ मध्यमवर्गीय परिवार में कमाने वाले एक दो हों, और खाने वाले अनेक हों, वहाँ वह आर्थिक

चिन्ता के बोझ से दबा रहता है। ऐसी स्थिति में अधिक संख्या वाला परिवार कल्याण रूप न होकर बोझ रूप या अकल्याण रूप हो जाता है। ऐसे परिवार में अधिक सन्तान वृद्धि परिवार कल्याण में बाधक बन जाती है।

बढ़ती हुई जनसंख्या और सन्ततिनिरोध

संसार की जनसंख्या जिस तेजी के साथ बढ़ रही है, उसने समाजशास्त्रियों की नींद हराम कर दी है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार संसार में प्रतिदिन ५० हजार, प्रति मास २० लाख एवं प्रति वर्ष लगभग ढाई करोड़ मानव बढ़ते हैं। ये आंकड़े मृत्यु संख्या को छोड़ कर मानव वृद्धि के हैं। समाजशास्त्रियों को चिन्ता है कि यदि इस अनुपात में जनसंख्या बढ़ती गई तो कुछ ही दशकों में अनेक भयंकर समस्याएँ मानव जाति के सामने आएँगी। आवास, खानपान एवं शिक्षा-दीक्षा आदि की प्रमुख समस्याएँ तो इतनी विकट हैं कि मनुष्य को कबूतर के घोंसलों की तरह छोटे-छोटे कमरों में सपरिवार रहना पड़ेगा। अतिथि को वह अपने घर पर नहीं ठहरा सकेगा। अपने परिवार को भी पौष्टिक खुराक पर्याप्त मात्रा में नहीं दे सकेगा, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, शादी आदि के खर्चों को निभाना तो और भी कठिन होगा। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि परिवार वृद्धि कल्याण का नहीं, बल्कि घोर संकट का कारण बनेगी।

कई लोगों का कहना है कि जो लोग धनाढ्य हैं, वे तो परिवार में सन्तान-संख्या बढ़ने पर भी सभी समस्याओं को पैसे से हल कर लेंगे, गरीबों के सामने ही ये समस्याएँ रहेंगी। परन्तु जब वस्तुओं की कमी होगी, कंट्रोल से ही सब चीजें मिलेंगी, तब क्या अनाज की जगह धनवानों के बच्चे सोना-चांदी खाकर रहेंगे? क्या वे उस समय लम्बे-चौड़े विशाल भवनों में रह सकेंगे? ऐसे समय में राष्ट्रीय सरकारें भी नागरिकों की समस्याओं को हल करने के लिए चिन्तित एवं व्यथित हो जाती हैं। भारत सरकार भी इस मामले में बहुत चिन्तित है। परन्तु भारत के राजनैतिक कर्णधारों का रुख भारतीय संस्कृति की ओर न होकर पाश्चात्य संस्कृति की ओर है।

पश्चिम और पूर्व की विचारधारा

यह आश्चर्य एवं खेद की बात है कि भारतीय राजनेता सन्तति-निरोध के लिए आत्म-संयम (ब्रह्मचर्य) की बात को भूलकर पश्चिम से संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों को उधार लेते हैं। स्वयं भारतवासी ऋषि-मुनियों द्वारा आविष्कृत एवं उपदिष्ट, इहलोक, परलोक हितकर ब्रह्मचर्य साधना को नहीं अपनाते या अपनाना नहीं चाहते। वास्तव में पूर्व और पश्चिम के चिन्तन में काफी अन्तर है। पूर्व में ब्रह्मचर्य पर आस्था थी और अब भी है। यहाँ ऋषियों ने मानव-जीवन की नींव पक्की करने के लिए बुनियाद में ब्रह्मचर्याश्रम उसके बाद गृहस्थाश्रम, उसमें भी एक-पत्नीव्रत में मर्यादित ब्रह्मचर्य, तत्पश्चात् पूर्ण ब्रह्मचर्य-पूर्वक वानप्रस्थाश्रम और अन्त में सन

आ पड़ेगी। बेचारी निरीह अबला सारी जिंदगीभर पिटती और पिसती रहेगी। इससे संतति नियमन की समस्या तो हल नहीं होगी, बल्कि संतति वृद्धि के साथ-साथ वह संतति असंस्कारी, अशिक्षित, गैरजिम्मेदार और अभाव-पीड़ित होगी। यह परिवार-कल्याण के लिए खतरनाक रास्ता है। परन्तु विवाह-मुक्ति के हिमायती नरनारियों का कहना है कि विवाह एक बन्धन है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य के युग में विवाह-बन्धन से मुक्त होना आवश्यक है। परन्तु जो ब्रह्मचर्यपूर्वक नहीं रह सकता, उसे विवाह के बन्धन को स्वीकार करना आवश्यक है। इस बन्धन से मुक्त रहने वालों के लिए ब्रह्मचर्याश्रम उचित है। ब्रह्मचर्य या स्वपत्नी-संतोष दोनों में से एक रास्ता चुन लेना चाहिए। आवारागर्द स्वच्छन्द एवं मुक्त सहचार के पक्षपाती युवकों का जीवन पशुवत् या असुरवत्, असभ्य, अमर्यादित जीवन बन जाता है, जिससे उसका शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी जर्जर हो जाता है, आत्मविकास रुक जाता है। इससे परिवार का कल्याण तो जरा भी नहीं है, बल्कि परिवार के कौटुम्बिक जीवन का सत्यानाश हो जाता है।

बहुपत्नी प्रथा भी परिवार-कल्याण के लिए हानिकारक

कुछ लोग कहते हैं—"प्राचीनकाल में बहुपत्नी प्रथा थी तब परिवार में संततिवृद्धि होने पर भी संतति के पालन-पोषण की जिम्मेदारी उस-उस संतान की माता पर रहती थी। इस तरह जिम्मेदारी बँट जाती थी। इसलिए संतानवृद्धि भी कोई दुःखदायक नहीं है।"

परन्तु जहाँ किसी भी व्यक्ति के अनेक पत्नियाँ होती थी, वहाँ उस पुरुष को प्रायः अहर्निश किसी न किसी पत्नी की ओर से शिकायतों का पुलिन्दा तैयार मिलता था। सौतों में परस्पर मेल-मिलाप और स्नेहभाव बहुत ही कम होता है। अपने प्रति पतिप्रेम का बटवारा जानकर एक स्त्री दूसरी अपनी सौतों से ईर्ष्या व द्वेष करती रहती थीं। कई बार तो अपनी सन्तान को उत्तराधिकार दिलाने के लिए दूसरी सौतों से हुई सन्तान को मरवा डालने के या दुःख देने के षड्यन्त्र रचे जाते थे। नाना यातनाएँ भी उन्हें पति के कान भर कर वे स्त्रियाँ दिलवाती थीं। राजा दशरथ के चार (किसी के मतानुसार तीन) रानियाँ थी। जब राज्याभिषेक का सवाल आया तो दशरथ नियमानुसार अपने बड़े लड़के श्रीराम को ही राज्य देना चाहते थे, लेकिन राजा दशरथ की रानी कैकेयी ने उन्हें अपने मुरक्षित वर देने के बहाने भरत को राज्याभिषेक करने के लिए विवश कर दिया। यह तो श्रीराम की बुद्धिमानी थी कि वे पिता के कहे बिना ही अपना कर्तव्य समझकर कैकेयी माता के वरदान के अनुसार भरत को राज्य देने और स्वयं वनगमन करने को तैयार हो गए थे। अन्यथा सारे परिवार में बड़ा कलह मचता और उसकी चिनगारियाँ दूर-दूर तक अयोध्या की जनता तक उछलती। वह कलहाग्नि शीघ्र शान्त भी न होती। इसलिए बहुपत्नी-प्रथा चाहे किसी भी कारण से प्रचलित हुई हो, उस युग में जायज भी हो, शास्त्र के पन्नों

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।।

काम भोगों के बार-बार सेवन से काम कभी शान्त नहीं हो सकता। अग्नि में घी की आहुति डालने से क्या आग शान्त हो जाती है ? नहीं, वह तो बार-बार अधिकाधिक भड़कती है और परस्त्रीगमन एवं वेश्यागमन का पारिवारिक जीवन पर तो बहुत बड़ा कुप्रभाव पड़ता है। उस पुरुष की पत्नी और बच्चे उसके प्रेम से वंचित हो जाते हैं उनकी भी सामाजिक प्रतिष्ठा खत्म हो जाती है। निर्धन होकर इधर-उधर भटकने और भीख मांगने तक उस परिवार को देखा जाता है। कई बार तो ऐसे पुरुष की पत्नी भी परपुरुष के साथ लग जाती है और सारा ही परिवार-सन्तान तक व्यभिचार के शिकार बन जाते हैं। क्या इन कुव्यसनों से परिवार कल्याण की आशा है ? कदापि नहीं। बल्कि इनसे परिवार का सत्यानाश हो जाता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने एकपत्नी व्रत या स्वदार-सन्तोष व्रत की योजना गृहस्थ के लिए बताई है। अर्थात् कोई पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकता हो, तो एकपत्नी के साथ विधिवत् पाणिग्रहण करके अमर्यादित रूप से भी काम सेवन न करे। चारों ओर लगी हुई या फैलने वाली काम वासना की आग को एक पत्नी में मर्यादित रूप से नियन्त्रित करने की योजना ही परिवार-कल्याण के लिए भारतीय मनीषियों ने उचित बताई है।

तात्पर्य यह है कि यहाँ चारों ओर अब्रह्मचर्य या असंयम पर प्रतिबन्ध लगा कर ब्रह्मचर्य-पालन की विवशता की दशा में मर्यादित रूप से एक पत्नीव्रत या स्वदार-सन्तोष परदारविरमणव्रत गृहस्थ के लिए विहित है। वहीं परिवार-कल्याण के लिए एक सीमा तक, उपयुक्त हो सकता है। उसमें भी बाल्यकाल के २५ वर्ष और प्रौढ़ एवं वृद्ध अवस्था के ५० वर्ष या अपनी आयु के अनुपात में जितने वर्ष इन तीनों अवस्थाओं में हों, उनमें ब्रह्मचर्य-भंग करने का अधिकार नहीं है, बल्कि ब्रह्मचर्य पालन ही विहित है। सिर्फ यौवनकाल में, लाचारी की दशा में, ऋतुकाल में, औषध सेवन की तरह ही सद्गृहस्थ स्वस्त्री सेवन करता है। परन्तु ऐसे सद्गृहस्थ का लक्ष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर मुड़ना ही रहता है। तभी परिवार-कल्याण की बात बन सकती है। अन्यथा परिवार में पतिपत्नी भोग के कीड़े बनकर ही सारा जीवन व्यतीत कर दें तो वे परिवार को क्या, सुसंस्कार धर्म एवं नीति की प्रेरणा दे सकते हैं ? वे सारे परिवार को समाकर सन्तान को भी भोग और असंयम की ही प्रेरणा दे जाते हैं।

बालविवाह एवं वृद्ध-विवाह भी हेय हैं

परिवारकल्याण एवं आत्मविकास की दृष्टि से बालविवाह एवं वृद्धविवाह दोनों ही हानिकारक एवं त्याज्य हैं। बचपन में विवाह हो जाने से बच्ची उम्र में ही सारा वीर्य निचुड़ जाता है, टी बी., दमा आदि दुःसाध्य रोग लग जाते हैं। सन्तान भी होती है तो निर्वीर्य, निर्बल एवं निस्तेज तथा रोगिष्ठ। अपनी सन्तान को

जाती है। ये सब अवस्थाएँ परिवार एवं समाज का कल्याण करने वाली तो दूर रहीं, ये सरासर रसातल में ले जाने वाली हैं। वृद्धविवाह करने वाला पुरुष भी बुढ़ापे में कामवासना के अत्यधिक सेवन से स्वयं भी रोगों का शिकार हो जाता है और अपने बच्चों को भी उत्तराधिकार में रोग दे जाता है। यद्यपि सरकारी कानून एवं सामाजिक प्रतिबन्ध कई जगह वृद्धविवाह पर लागू हो चुका है, फिर भी चुके-छिपे, पैसे के जोर पर यत्र-तत्र वृद्धविवाहों के सौदे हो ही जाते हैं। अनेक विरोधों के बावजूद भी कई कामी बूढ़े पुनःपुन विवाह कर ही लेते हैं। पर तो लड़की के माता-पिता को चाहिए कि वे प्रलोभन में आकर अपनी लड़की का जीवन बर्बाद न करें। कई बार तो लड़की ही ऐसे बूढ़े से शादी करने से साफ इन्कार कर देती है। पर ऐसा साहस बहुत ही कम लड़कियों में पाया जाता है। कई लड़कियाँ तो धन के लोभ में आकर बूढ़े के गले स्वयं बँध जाती हैं। जो व्यक्ति संयम एवं सदाचार का हामी है, सद्गृहस्थ नर-नारी हैं, उन्हें बालविवाह या वृद्ध विवाह सरीखे अनाचारों में भाग नहीं लेना चाहिए। अपना विरोध भी प्रकट करना चाहिए। ऐसे अनुचित एवं असंयम-वर्द्धक कार्यों में कोई सहयोग नहीं देना चाहिए, न ऐसे अकार्यों में सम्मतिदाता, परामर्शक या आयोजक ही होना चाहिए।

वेश्यानृत्य, गंदे सिनेमा, अश्लील उपन्यास

ब्रह्मचर्य या संयम जिस परिवार में जितना अधिक होगा। उतना ही अधिक और शीघ्र उसका कल्याण सम्भव है। इसके विपरीत जिस परिवार में कामवासना को भड़काने वाले, कामोत्तेजक जितने भी साधन अधिक होंगे, या ऐसे कुसंस्कारों का वातावरण जहाँ होगा, वहाँ कल्याण तो दूर रहा, सर्वनाश का मार्ग ता खुल ही जाता है। मानव-जीवन में आज तीन कामरोग लगे हुए हैं; वेश्या नृत्य, सिनेमा के अश्लील चलचित्र या अश्लील नाटक एवं अश्लील उपन्यास। इन तीनों ने अनेक परिवारों का जीवन चौपट कर दिया है, अनेक युवक-युवतियों को कामवासना के गहरे बीहड़ में डाल दिया है, अनेक परिवारों की सुख-शान्ति को उजाड़ डाला है, अनेक माता-पिताओं की आशाओं पर तुषारापात कर दिया है। माना कि प्राचीन-काल से वेश्या नृत्य, भारतीय समाज में चला आ रहा है। पर इससे क्या? प्राचीनकाल में भी ऐसी कई कुप्रथाएँ नहीं थीं? राजा महाराजा या धनी [illegible]

प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। ऐसे अश्लील नृत्य, नाटक या चलचित्रों के देखने से बालकों के जीवन पर कितने खराब संस्कार पड़ते हैं? वे बचपन में ही कामोत्तेजन के शिकार हो जाते हैं और गुप्तव्यभिचार में प्रवृत्त होकर कच्ची उम्र में ही वीर्य नाश कर बैठते हैं। इसलिए परिवार-कल्याण की दृष्टि से यह बहुत ही घाटे का सौदा है। इसमें परिवार का अकल्याण ही है। परन्तु परिवार के बड़े लोगों को जहाँ इसका शौक लग जाता है, जहाँ परिवार के वयस्क लोग परिवार के श्रेय की ओर ध्यान नहीं देते, वहाँ आए दिन कुंवारे युवक-युवतियों में स्वच्छन्द वासना तथा वासना का ज्वार बढ़ता ही है। युवक-युवतियाँ इस प्रकार की कुप्रथाओं के शिकार बनकर कुपथगामी हो जाते हैं, अपना धन, तन और स्वास्थ्य तीनों खो बैठते हैं।

इसके अतिरिक्त सिनेमा और नाटक के अश्लील दृश्यों एवं अश्लील कामोत्तेजक साहित्य भी परिवार-कल्याण में, ब्रह्मचर्य का शुभवातावरण बनाने में बाधक है। आजकल बालकों को उनके अभिभावक संयम एवं ब्रह्मचर्य की ओर ले जाने, ब्रह्मचारियों की जीवनी सुनाने या ब्रह्मचर्य का अभ्यास कराने के बजाय अधिकतर असंयम एवं अब्रह्मचर्य की ओर ले जाने का कार्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से करते हैं। वे गहराई से सोचते नहीं कि इसका बालकों पर कितना बुरा असर पड़ेगा? बहुत-से माता-पिता अपने बच्चों के सामने भी इस प्रकार की गंदी एवं अश्लील बातें करते रहते हैं। बच्चों को एक बार जब ऐसी कामवासनावर्द्धक बातों को देखने, सुनने और पढ़ने की चाट लग जाती है, तो उन्हें फिर संयम एवं ब्रह्मचर्य की ओर मोड़ना कठिन होता है।

माता-पिता को चाहिए कि वे अपने आत्मविकास के साथ-साथ अपनी संतान के कल्याण के लिए भी वेश्यादि नृत्य, अश्लील नाटक, अश्लील चलचित्र एवं घासलेटी साहित्य से उसे दूर रखें। स्वयं भी ऐसे असंयमवर्द्धक वातावरण से दूर रहें। घर में बहन, बेटी या पुत्रवधू विधवा हो, उस समय भी घर के बुजुर्ग या बड़ों का कर्तव्य हो जाता है कि उनके सामने संयम का वातावरण रखें, उनको ब्रह्मचर्य-पालन में प्रोत्साहन देने हेतु ऐसे अश्लील आयोजन न रखें, न अश्लील दृश्य या अश्लील साहित्य को घर में प्रवेश होने दें। तथा स्वयं भी ब्रह्मचर्य-साधनापूर्वक संयम एवं सादगी का जीवन बिताए, जिससे परिवार में रहने वाली विधवा को संयमी वातावरण मिले। उसके संयमी जीवन को प्रोत्साहन मिले।

सौराष्ट्र की एक घटना है। एक १४ साल की लड़की विवाह करके पहली ही बार ससुराल गई। वहाँ लगभग एक वर्ष रहकर अपने पीहर आई। कुछ ही दिनों बाद उसके ससुराल से तार आया कि अमुक....(उसके पति) का देहान्त हो गया। घर में सन्नाटा छा गया। लड़की को किसी तरह पता लग गया। उसका चेहरा भी शोकमग्न हो गया। कुछ ही महीनों के बाद उस लड़की के माता-पिता

ने उसका पुनर्विवाह करने के लिए उसको बहुत समझाने, मनाने की कोशिश की। परन्तु लड़की ने साफ इन्कार कर दिया, उसने कह दिया कि मैंने आजीवन ब्रह्मचर्य-पालन स्वीकार कर लिया है। अपना खानपान, रहनसहन, वस्त्र आदि भी सादगी और संयम के अनुकूल अपना लिए हैं। अब तो आप मुझे ब्रह्मचर्य-साधना में सहयोग दीजिए।" लड़की के माता-पिता की उम्र लगभग ३२-३३ वर्ष की थी। उन्होंने भी पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ले ली और अपना जीवन भी तदनुरूप सादगी और संयम से बिताना प्रारम्भ कर दिया। अपने घर का वातावरण उन्होंने संयमोचित एवं सादा बना दिया।

यह ब्रह्मचर्यपोषक घटना परिवार के अभिभावकों या बुजुर्गों के लिए कितनी प्रेरणादायक है।

अप्राकृतिक मैथुन : जीवन का सर्वनाशक

पारिवारिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक कल्याण की दृष्टि से अप्राकृतिक मैथुन घोर अब्रह्मचर्य एवं महापाप का जनक है। यह बीमारी बच्चे, बूढ़े, जवान सभी को लग जाती है, यहाँ तक कि परिणीत और गृहिणी के साथ होते हुए भी कई लोगों का अप्राकृतिक मैथुन-सेवन का इतना चस्का लग जाता है कि वे इसे जिंदगी के अन्त तक छोड़ नहीं सकते। इससे लाभ तो कुछ भी नहीं है, नुकसान तो प्रत्यक्ष ही है। शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि और बल सबकी क्षति है। इसमें आध्यात्मिक-विकास का द्वार ही मनुष्य बन्द कर लेता है। इससे स्वास्थ्य, सौन्दर्य, साहस, ओज, तेज, बल, धन, आदि का सर्वनाश हो जाता है। इसमें हस्तमैथुन, गुदामैथुन, कामांगों के अतिरिक्त अंगों से कामक्रीड़ा आदि सभी अप्राकृतिक कामसेवन आ जाते हैं। इस दुराचार से अपना तो नुकसान है ही, परिवार एवं समाज का भी कम नुकसान नहीं है। परिवार एवं समाज को ऐसा दुराचारी या कामी व्यक्ति कोई भी सद्गुण विरासत में नहीं दे जाता।

इस प्रकार मैंने आपके सामने परिवार-कल्याण में बाधक चीजों का रेखाचित्र प्रस्तुत किया है। इन संयम बाधक चीजों से ब्रह्मचर्याभिमुख व्यक्ति या परिवार को सदैव बचना चाहिए। तभी ब्रह्मचर्य के सुन्दर मूल्यों की प्रतिष्ठा हर परिवार में हो सकेगी।
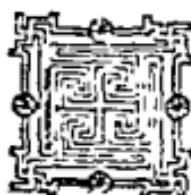
परिग्रह वस्तु या व्यक्ति नहीं, कोई सजीव या निर्जीव पदार्थ नहीं, परिग्रह व्यक्ति की मूर्च्छा, आसक्ति या ममत्व है।

यही कारण है कि वस्तु विद्यमान हो या न हो, अपने अधिकार में हो या न हो, किन्तु उस वस्तु के प्रति मन में मूर्च्छा, ममत्व या आसक्ति है तो वहाँ परिग्रह है।

चींटी के पास चाहे कुछ भी न हो, चींटी का परिवार चाहे छोटा ही हो, परन्तु उसने हृदय से समझ-बूझकर जब तक वस्तु के प्रति ममत्व या मूर्च्छा-इच्छा को छोड़ा नहीं है, तब तक उसे परिग्रही ही कहा जाएगा, अपरिग्रही नहीं। अगर वस्तु के होने-न होने पर परिग्रह-अपरिग्रह का नापतोल किया जाएगा, तब तो एक बिलकुल निर्धन या भिखारी के पास अत्यन्त अल्प साधन होने से उसे अपरिग्रही मानना पड़ेगा, गाय, घोड़ा, कुत्ता आदि प्राणियों को भी अपरिग्रही मानना पड़ेगा, इसके विपरीत जो गृहस्थ मर्यादित वस्तुएँ रखता है या जो साधु-साध्वी सिर्फ जीवन-निर्वाह के लिए कुछ धर्मोपकरण रखते हैं, उन्हें परिग्रही मानना होगा। परन्तु परिग्रह-अपरिग्रह का यह मापदण्ड गलत है। किसी के पास वस्तुएँ चाहे अल्प हों, किन्तु उन पर उसकी आसक्ति या ममता है, या अपने माने जाने वाले व्यक्तियों पर गाढ़ ममत्व है, तो वहाँ परिग्रह है। इसके विपरीत वस्तुएँ चाहे अधिक हों किन्तु धर्माचरण के लिए उपयोगी हों और उन वस्तुओं के प्रति उसका ममत्व, मेरापन या मूर्च्छा नहीं है। उन पर उसका कोई स्वामित्व नहीं है, वह केवल अनासक्त-भाव से उपयोग करता है, तो वहाँ परिग्रह नहीं माना जा सकता।

एक बगीचा है, उसमें विविध फलों के अनेक पेड़ लगे हुए हैं, चारों ओर हरियाली छाई हुई है। बीच-बीच में हरी वनस्पति से रहित सुन्दर स्थान बने हुए हैं, बेंचें रखी हुई हैं। एक साधु बगीचे के माली की अनुमति लेकर उस बगीचे में घूमता है, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य को निहारता है, वहाँ बैठकर ताजी हवा का सेवन करता है, परन्तु यह सब निर्लिप्तभाव से करता है। इसी प्रकार एक बहुत बड़ा सात मंजिला मकान है। उसमें मकान मालिक की अनुमति लेकर साधु उसमें रहता है। साधु उस मकान का केवल उपयोग करता है, उसे अपनी मालिकी का नहीं मानता। बताइये, क्या वह पाँच लाख का मकान साधु के लिए परिग्रह हो जाएगा? और क्या वह बगीचा साधु के लिए परिग्रह हो जाएगा? कदापि नहीं। इसी प्रकार साधु संयम पालन के लिए कुछ धर्मोपकरण रखता है, उन पर अपना स्वामित्व या ममत्व नहीं रखता, वह केवल उनका उपयोग निर्लेपभाव से, अनासक्तभाव से करता है। इसी तरह साधु शरीर को भी अपना नहीं समझता, उस पर ममत्व या स्वामित्व भाव नहीं रखता, केवल धर्म-पालन के लिए वह शरीर को स्वस्थ व सशक्त रखता है, इसलिए *निर्वाह के लिए पर्याप्त आहार-पानी भाड़े के रूप में शरीर को देता है, उससे* वे शरीर से संसार की भलाई के काम करता है, आत्म-साधना, तप, जप, संयम

भगवती सूत्र (१८/७) में तीन प्रकार के परिग्रह इसी दृष्टि से बताए है—कर्मपरिग्रह, शरीरपरिग्रह और बाह्य भाण्डोपकरणपरिग्रह। साधु अगर इन्हें भी मूर्च्छा आसक्तिवश ग्रहण करता है तो वह एक दृष्टि से परिग्रहग्रस्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ-जहाँ मूर्च्छा, ममत्व या आसक्ति है, वहाँ भले ही वस्तु (सजीव या निर्जीव) सामने हो या न हो, परिग्रह है, जहाँ मूर्च्छादि नहीं है, वहाँ परिग्रह नहीं है।

अपरिग्रह का व्यावहारिक रूप

ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि एक गृहस्थ है या मानलो राजा है, उद्योगपति है या सत्ताधीश है, उसके पास बापदादों से प्राप्तधन भी बहुत है, फिर उसने स्वयं भी कमाया है, गृहस्थी चलाने के लिए अन्य साधन भी पर्याप्त मात्रा में है। अनाज के कोठे भरे हुए हैं। मकान भी कई हैं, सोना-चांदी भी है, खेत भी है। अथवा उसकी दूकान भी है। उसके यहाँ अनेक नौकर-चाकर भी हैं। पत्नी-पुत्र माता-पिता आदि परिवार भी हैं, भला ऐसी स्थिति में वह अपरिग्रह व्रत को कैसे अपना सकता है या कैसे उसका पालन कर सकता है?

सर्वथा अपरिग्रही होना गृहस्थ के लिए दुर्लभ है। फिर भी अपरिग्रह वृत्ति के उपाय हो सकते हैं।

पहला उपाय यह है कि व्यक्ति इतनी अधिक साधन सामग्री का संग्रह होने पर उसे अपना न माने, समाज का माने। अर्थात् जो कुछ भी सजीव-निर्जीव पदार्थ उसके पास हैं, उन्हें वह समाज की धरोहर समझे, यहाँ तक कि अपने शरीर को भी समाज या राष्ट्र की सम्पत्ति समझे, स्वयं को उन सब साधनों का ट्रस्टी (संरक्षक) माने। अथवा उन सबको वह पराया (समाज की मालिकी का) माने, स्वयं को केवल उनकी व्यवस्था करने वाला मुनीम या मैनेजर समझे। बाहर से सभी व्यवहार करते हुए भी अन्तर से वह इन सब से अलग रहे।

शास्त्र में दो प्रकार की मक्खी का दृष्टान्त देकर इसे समझाया गया है। एक बूरे की मक्खी होती है, जो जब चाहे तब बूरे पर से उड़ सकती है और दूसरी होती है—चासनी की मक्खी। चासनी पर बैठने वाली मक्खी, चासनी में आसक्त होकर उसमें फँस जाती है, वह उड़ नहीं सकती। वह वहीं चासनी में फँस कर अपने प्राण खो बैठती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति अपरिग्रहवृत्ति का होता है, वह कितनी ही श्रेष्ठ भौतिक साधन-सामग्री क्यों न हो, या कितने ही निकट के रक्त सम्बन्ध क्यों न हो, उनके ममत्व में नहीं फँसता। वह बूरे की मक्खी की तरह जब चाहे तब उड़ सकता है। मगर जो चासनी की मक्खी की तरह परिग्रहवृत्ति वाला होता है, वह संग्रह किये हुए साधनों या सम्बन्धों में फँस जाता है और अपनी जिन्दगी उसी में खतम कर देता है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक इन सब और पदार्थों या मकानों को परमाणु समझता है। वह इनमें आसक्त या ग्रस्त नहीं होता। जैसा कि बृहदालोयणा में कहा है—

"जं जं समदृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्बप्रतिपाल।
अन्तर से न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल॥"

सम्यग्दृष्टि श्रावक व्यवहार में जितने बाह्यपरिग्रह करते हैं, उन सबको रखता है, परन्तु उन सबका वह अपना नहीं मानता। जैसे मालिक के लड़के को स्तनपान कराने वाली धायमाता उसे को खिलाती-पिलाती है, उसका सब तरह से पालन-पोषण करती है, परन्तु अन्तर में वह समझती है, यह मेरा लड़का नहीं, मालिक का है। मैं तो सिर्फ इसकी संरक्षिका हूँ। इसीप्रकार की निर्लिप्तता का आदर्श श्रावक या सम्यग्दृष्टि सद्गृहस्थ का। वह उसकी मोहमाया में फँसे नहीं, इससे उसका कुछ भी बिगड़ेगा नहीं, और न ही किसी प्रकार का व्यवहार रुकेगा। बल्कि अनिष्टसंयोग या इष्टवियोग के समय उसे किसी प्रकार का शोक या आर्त्तध्यान नहीं होगा।

जैसे एक मुनीम है, वह अपने सेठ की दुकान पर बैठता था, लाखों रुपये अपने हाथ से वह रखता व देता है। किन्तु दुकान में मुनाफा या घाटा होने पर वह यही सोचता है कि यह तो सेठ का है, मेरा इसमें कुछ भी नहीं। इसी प्रकार अपरिग्रह-वृत्ति वाला व्यक्ति अपने पास के धन को समाजरूपी सेठ का समझकर स्वयं को उसका व्यवस्थापक एवं ज्ञाता-द्रष्टा समझता है।

महात्मा गांधी जी ने पूंजीपतियों को ट्रस्टीशिप की भावना बताई थी। उनके ट्रस्टीशिप के विचार को श्री जमनालालजी बजाज ने अपना लिया था। वे अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र व समाज की सम्पत्ति मानते थे। जब भी गांधी जी को देशसेवा के लिए सम्पत्ति की जरूरत पड़ी, जमनालालजी ने मुक्तहस्त से दिया। वे कहते थे— "बापूजी! यह सब सम्पत्ति या साधनसामग्री आपकी है, आपकी चीज आपको लेने में क्या संकोच है?

जो व्यक्ति गुड़ की मक्खी की तरह अपरिग्रहवृत्ति के सिद्धान्त को अपना [illegible] है, वे समय आने पर तुरन्त अपनी (अपने पास सरक्षित) साधनसामग्री को देश [illegible] लिए देने में कभी हिचकिचाते नहीं।

भामाशाह को कौन नहीं जानता? जब मेवाड़ पर परतन्त्रता के संकट [illegible] काले-काले बादल मँडरा रहे थे, महाराणाप्रताप का धैर्य नष्ट हो चुका था, वे मे[illegible] भूमि को छोड़कर अन्यत्र जाने के लिए तैयार हो गये थे; तभी भामाशाह ने [illegible] सर्वस्व-सम्पत्ति देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए महाराणाप्रताप के चर[illegible] समर्पित कर दी। उन्होंने यह सम्पत्ति मेरी नहीं, मेवाड़भूमि की है। मैंने मेवाड़भू[illegible] की सेवा करके प्राप्त की थी, अब यह मेवाड़भूमि को ही अर्पित करता हूँ। अगर भामाशाह अपनी सम्पत्ति पर मोह करके चिपके रहते तो मेवाड़भूमि को परतन्त्र होते

से कभी नहीं बचा सकते थे। यह गृहस्थ में रहते हुए अपरिग्रहवृत्ति का ज्वलन्त उदाहरण है।

दूसरा अपरिग्रहवृत्ति का उपाय है—धनसम्पत्ति या साधनसामग्री या सम्बन्धो से निर्लिप्त रहना। निर्मोही रहना। यद्यपि निर्मोही या निर्लिप्त रहना बहुत ही कठिन है। परन्तु जिसे अपरिग्रहवृत्ति अपनानी है, जिसका लक्ष्य अपरिग्रह होता है, वह संसार में रहता हुआ भी सासारिक पदार्थों का उपभोग करता हुआ भी अन्तर में निर्लेप या निर्मोही रहता है। इस सम्बन्ध मे भरतचक्रवर्ती का उदाहरण प्रसिद्ध है—

भरतचक्रवर्ती के पास ऋद्धिसमृद्धि, सत्ता, साधनसामग्री आदि सामाजिक सुख-साधनो का कोई ठिकाना नहीं था। फिर भी अन्तर मे वह यही मानता था कि ये सब साधन मेरे नही हैं, मैं उनका नहीं हूं। मेरा तो यह शरीर भी अपना नही है। किन्तु स्थूलदृष्टि वाले लोग बाहर से किसी के पास अपार वैभव और सुख-साधन देख-कर यही सोचते हैं कि यह महान् परिग्रही होगा। यही हुआ। एक बार भगवान् ऋषभदेव की धर्मसभा जुडी हुई थी। अपार जनसमूह के समक्ष भगवान् ऋषभदेव ने भरतचक्रवर्ती की प्रशसा की—"देखो, वर्तमान युग मे भरत चक्रवर्ती अनासक्ति का नमूना है। इसके पास अपार ऋद्धि, सत्ता और वैभव होते हुए भी यह इन सबसे निर्लिप्त—अनासक्त रहता है।" सभा में एक स्वर्णकार बैठा हुआ था। उसने सुना तो मन ही मन इस बात के प्रति अश्रद्धा व्यक्त करने लगा—"ऋषभदेव भरत के पिता हैं, इसलिए ये अपने पुत्र की प्रशसा करते है। भरतजी के पास तो इतना अपार वैभव है कि उतना वैभव रखते हुए कोई निर्लेप रह सके, यह असम्भव है। इससे तो मेरे पास बहुत ही कम साधन हैं, धन भी अल्प है। प्रशसा का अधिकारी तो मैं हूं।"

धर्म सभा विसर्जित होते ही सब वन्दन करके जाने लगे, भगवान ऋषभदेव से स्वर्णकार के मन मे उठने वाली शका छिपी न रही। फिर उसने प्रकट मे भी कानाफूसी करनी शुरू कर दी थी। भरतजी के कानो मे भी वह बात पहुँची। उन्होने शान्तभाव से सोचा—"वैसे तो मेरी निन्दा कोई करे तो मुझे कोई दुःख नही, किन्तु वीतराग प्रभु के प्रति इसके मन मे अश्रद्धा व्याप्त हो, और यह अन्य लोगो को भी बरगलाए। इससे धर्मशासन की बदनामी होगी। अतः अच्छा हो कि मैं इसे युक्ति से समझा दूं। अतः भरतचक्रवर्ती ने लोगों के समक्ष कहा कि "मैं स्वर्णकार महोदय को इस विषय मे भली-भाँति समझाऊँगा। वह समय निकालकर मेरे पास आए।" स्वर्ण-कार जब भरतचक्रवर्ती के पास पहुँचा तो उन्होंने आदेश-पत्र बताते हुए कहा—स्वर्ण-कार महोदय! आप इस सारी अयोध्या नगरी को देख आएँ। नगरी में कहाँ क्या हो रहा है? क्या हलचल है? इन सब बातो को मुझे बताएँ। आपके हाथ मे तेल से लबालब भरा यह कटोरा रहेगा। आपके साथ नगी तलवार लिये ४ सिपाही रहेंगे, जहाँ भी आपने इस कटोरे मे से एक भी बूंद तेल की गिरा दी, वहीं आपकी गर्दन तल-वार से ये उड़ा देंगे। जाइए, सारी नगरी मे घूम आइए।"

वाली कुरीतियाँ या कुरूढ़ियाँ हैं, वे आवश्यक नहीं हैं उन्हें अनावश्यक समझकर उनका त्याग करना चाहिए।

आज तो फैशन का भूत इतना सवार हो गया है कि खानपान और रहन-सहन, पोशाक और देशाटन सर्वत्र लोग व्यर्थ खर्च करते हैं। इनमें बहुत-सा खर्च तो देखादेखी होता है। ब्याह-शादियों में लोग खानपान के पीछे अनापसनाप खर्च करते हैं, वे आगा-पीछा नहीं सोचते कि हमारी देखादेखी जाति के गरीब भाइयों को भी इसी प्रकार पिसना पड़ेगा, कर्जदारी के कारण उनकी कमर टूट जाएगी। बहुत-से लोग घर पर भोज देने के बदले आलीशान खर्चीले होटल में भोज देते हैं। एक भोज पर ४०-५० हजार खर्च कर देना आम बात है। महापरिग्रहियों की इस वृत्ति-प्रवृत्ति को देखकर अपरिग्रहवृत्ति को प्रोत्साहन कैसे मिल सकता है, जो अपरिग्रह की ओर बढ़ना चाहते हैं, वे भी ऐसी प्रवृत्तियाँ देखकर हतोत्साह हो जाते हैं।

सादी साड़ियों से भी काम चल सकता है किन्तु ५०० से लेकर १०[illegible] रुपये की एक-एक साड़ी खरीदेंगे, भेंट देंगे या घर की स्त्रियाँ पहनेंगी। [illegible] अपरिग्रहवृत्ति की ओर बढ़ने वाला व्यक्ति इस अनावश्यक खर्च पर कटौती [illegible] कर सकता? क्या काली-महाकाली, कृष्णा, चन्दनबाला, मृगावती साध्वियों [illegible] त्यागपूर्ण कथा सुनने वाली बहनें सादी साड़ी से काम नहीं चला सकतीं? प्रतिष्ठा तो त्याग और सादगी में मिलती है, और वह स्थायी भी होती है।

मेरे इशारे को आप समझिए और अपरिग्रहवृत्ति की ओर बढ़ने के लिए समाज में प्रचलित, अहितकर और अपव्ययवर्द्धक ऐसी अनावश्यक कुरूढ़ियों और कुरीतियों को चुन-चुन कर धक्का देकर निकालिए। आप स्वयं इनका त्याग कीजिए, और लोगों को भी प्रेरित कीजिए।

सैरसपाटों के नाम पर भी आए दिन अपरिग्रही भगवान् महावीर के उपासक लाखों रुपये व्यर्थ ही खर्च कर देते हैं। सैरसपाटा ही करना हो तो पदयात्राओं का आयोजन कीजिए, जिसमें आपको देश और दुनिया का अनुभव हो, या फिर बस आदि की व्यवस्था करके कम खर्च में भी यात्राएँ की जा सकती हैं। मनोरंजन और स्वार्थ त्यागी महापुरुषों के दर्शन तथा सत्संग आदि की दृष्टियों से धर्मयात्रा हो तो उसमें द्रव्य और भाव दोनों तरह से लाभ होगा। अपरिग्रह वृत्ति की ओर बढ़ने के लिए इस बारे में भी पूरा विवेक करना चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि लोगों के पास दो नम्बर का पैसा अधिक जमा हो गया है, उसका उपयोग कहाँ करें? जैसा कि अमेरिका आदि विदेशों के लोग कहते हैं कि हमारे पास पैसे और साधनों की कोई कमी नहीं, परन्तु उनका उपयोग कहाँ और कैसे करें? यह हम नहीं जानते। आमतौर पर ऐसे अनावश्यक धन का उपयोग भोग-विलास और आमोद-प्रमोद में, या दुर्व्यसनों के पोषण में अथवा फैशन में खर्च किया जाता है, अथवा लड़के-लड़की के विवाह में धूम कर खर्च किया जाता है।

परन्तु आपसे बढ़ कर धन तो भगवान महावीर के आनन्द कामदेव आदि १० श्रावकों के पास था, किन्तु वे सामाजिक कुरूढ़ियों, गैरजरूरी में या दुर्व्यसन अथवा फैशन में खर्च नहीं करते थे। समाज के दीनहीन, असहाय, विधवा, निर्धन, अपाहिज, वृद्ध आदि लोगों की सेवा में, या परोपकार में उनका धन खर्च होता था। आप उपासकदशांग सूत्र उठा कर देखिये—उन्होंने वस्त्र कितने सीमित रखे थे —

नन्नत्थ एगेणं खोमजुयलेणं अवसेसं सव्वं वत्थविहिं पच्चक्खामि

(सिर्फ एक जोड़ कार्पासिक—कपास से बने हुए वस्त्र के सिवाय सब वस्त्रों का प्रत्याख्यान—त्याग करता हूँ)। बताइये, आनन्द जैसा बारह करोड़ सोनैया का मालिक और सिर्फ एक जोड़ी वस्त्र पहिनने के लिए! आनन्द श्रमणोपासक के पास श्रावकव्रत ग्रहण करने से पहले भी बारह करोड़ स्वर्णमुद्राओं की सारी मिल्कियत थी और व्रतग्रहण करने के बाद भी उतनी ही मिल्कियत की परिग्रह मर्यादा रखी। अपनी मर्यादा बढ़ाई नहीं, बल्कि पहले की जितनी ही रखी, फिर भी उन्होंने अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाई नहीं, घटाई ही। धन का सदुपयोग समय-समय पर वे करते रहते थे, परन्तु अनावश्यक रूढ़ियों में या फैशन में, फिजूलखर्च नहीं करते थे। क्या अपरिग्रहवृत्ति का यह आदर्श प्रेरणादायक नहीं है?

आनन्द का अपरिग्रहवृत्ति का आदर्श

इसके अतिरिक्त जिन्दगी की सन्ध्या के समय आनन्द श्रमणोपासक ने अपने घरबार धन-सम्पत्ति और कारोबार से मोह-ममत्व छोड़ दिया था। अपना घरबार, सम्पत्ति और कारोबार अपने बड़े लड़के को अपनी बिरादरी के लोगों की उपस्थिति में सौंप कर स्वयं ने श्रावक प्रतिमा (निवृत्ति) ग्रहण कर ली। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे धर्मध्यान एवं आत्मशुद्धि में संलग्न रहे। उन्होंने भारतीय संस्कृति के 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' (अन्तिम समय में योगमार्ग में रहते हुए शरीर त्याग करने) के आदर्श को जीवित रखा, अपरिग्रहवृत्ति के आदर्श को पाया। क्या आज के वृद्ध सद्गृहस्थ भाई-बहन (श्रावक-श्राविका) आनन्द श्रमणोपासक के इस आदर्श से प्रेरणा नहीं लेंगे? पर मैं देखता हूँ कि हमारा श्रावक वर्ग इस बारे में बहुत ही पिछड़ा हुआ है। वह धन कमाने और जोड़-जोड़कर रख जाने में तो बहुत आगे है। परन्तु आत्मा के लिए अपरिग्रह धर्म रूपी धन कमाने में बहुत ही दुर्बल है, असावधान है। इस ओर की चिन्ता बहुत कम लोगों को है।

ये और इस प्रकार के कुछ उपाय अपरिग्रहवृत्ति के हैं। यही अपरिग्रह की व्यावहारिक भूमिका है। जिस व्यक्ति के जीवन में सन्तोष आ जाता है, जो आत्म-स्वभाव में लीन हो जाता है, जिसे आध्यात्मिक जीवन का आनन्द आ जाता है, उसकी वृत्ति परिग्रह घटाने, इच्छाओं और आवश्यकताओं को अल्पातिअल्प करने की रहती है। उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में अपरिग्रहवृत्ति की झलक होगी, उसके कण-कण में अपरिग्रहवृत्ति रम जाएगी।

卐

७

दान की धारा—समाज के खेत में

सहयोग का आदान-प्रदान मानव के लिए अनिवार्य

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज के बिना वह अकेला जी नहीं सकता।
अगर वह जीता भी है तो अनेक कष्टों और कठिनाइयों के साथ जीता है। जन्म से
लेकर मृत्युपर्यन्त वह विभिन्न रूपों में असंख्य व्यक्तियों से सहयोग लेता रहता
है। खाने-पीने से लेकर सड़क पर चलने, बीमार पड़ने पर दवा लेने आदि प्रत्ये
प्रवृत्ति में वह किसी न किसी से सहायता लेता है। कभी-कभी तो उसे बिल्कु
अपरिचित व्यक्ति से सहयोग लेने का मौका आता है। क्या जिस मकान में वह
रहा है, वह उसने अकेले ने बनाया है? नहीं, उसमें भी अगणित लोगों के हाथ
होंगे। जिस सड़क पर वह चलता है, उसे भी बहुत-से मजदूरों वगैरह ने मिलकर
बनाया होगा। और तो और मनुष्य के पास जो अर्थ संचय हुआ है, वह कहाँ से
आया है? क्या वह परलोक से अपने साथ लाया था? नहीं, उसने इसी लोक में
समाज के सहयोग से इतनी सम्पत्ति प्राप्त की है। अगर वह गर्व करता हो कि यह
धन तो मैंने अपने बाहुबल या बुद्धिबल से उपार्जित किया है, इसमें मैंने किसी से सह-
यता नहीं ली, तो यह अहंकार भी व्यर्थ होगा, क्योंकि वह मनुष्य समाज से दू
एकान्त किसी पर्वतीय गुफा या निर्जन वन में अपनी दूकान लगाए या व्यवसाय चल
तो क्या उसका व्यवसाय एक दिन भी चल सकता है? वह चाहे बीसों वर्ष दू
लगा कर बैठे कोई भी ग्राहक शायद ही उसकी दूकान पर चढ़ेगा। हाँ, जंगली ज
पर उसके ग्राहक बन सकते है, परन्तु वे माल लेने वाले ग्राहक नहीं, प्राणलेवा ग
ही हो सकते हैं। अतः यह निश्चित है कि मनुष्य समाज से अगणित रूप में सेवा
सहयोग लेता आया है और लेता रहेगा।

दान लिए हुए सहयोग का प्रत्यर्पण

जब मनुष्य अगणित लोगों से नानारूप में सहायता एवं सेवा लेता है
उसका भी यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि समाज को उसकी सहायता और
बदले में प्रत्यर्पण करे। बस, समाज को उससे ली हुई सेवा और सहायता
से प्रत्यर्पण करना ही 'दान' है।

अगर मनुष्य समाज से लेता ही लेता रहे, बदले में कुछ भी दे न

उसकी कृतघ्नता होगी। ऐसा व्यक्ति समाजद्रोही कहलाता है। जो समाज से सहयोग लेकर बदले में समाज की किसी भी प्रकार से सेवा नहीं करता, कुछ भी देने की भावना नहीं रखता, वह अपने पर समाज का ऋण चढ़ाता है। समाज के उक्त ऋण से उऋण होने के लिए उसे दान की धारा बहानी चाहिए।

मान लो, एक व्यक्ति ने स्थानीय समाज, मजदूरों और कर्मचारियों के सहयोग से पर्याप्त धन अर्जित किया है, अगर वह अपने इस अर्जित धन में से जरूरतमन्दों को कुछ भी देना नहीं चाहता, जबकि उसके पास आवश्यकता से अनेक गुना अधिक धन और साधन पड़े हैं फिर भी जिनको उसकी थोड़ी-सी मदद से बहुत सहारा मिल सकता है, उन्हें वह देता नहीं है तो वह एक तरह से समाजद्रोह या समाज के प्रति कृतघ्नता करता है। ऐसा करके वह अपने पुण्य को क्षीण करता है, समाज की सहयोग देने की श्रद्धा को खत्म करता है। मानव समाज को ऐसा व्यक्ति जानवरों से भी गया बीता बना देता है। अतिस्वार्थी मानव मानवता को भी तिलांजलि दे बैठता है।

मानव में समाज के प्रति द्रोह, कृतघ्नता एवं पशुता न आ जाए, वह अपनी मानवता को खो न दे, इसलिए प्राचीन ऋषियों ने उसे 'दान' देने की प्रेरणा की। अपनी संचित पूंजी तथा संचित साधनों में से अतिथि, भूखे, जरूरतमंद, साधनहीन निर्धन अंगविकल एवं असहाय व्यक्ति को कुछ भी देना उसका कर्तव्य है, इस बात की शिक्षा उन्होंने दी। किसी को दान देना, किसी पर एहसान करना नहीं है, यह तो समाज में अब तक असंख्यरूपों में लिये हुए सहयोग का प्रतिदान है, बदला चुकाना है, कर्ज चुकाना है, कर्तव्यपालन करना है। दान देकर अहंकार से गर्वित होना, मूर्खता है।

दान समाज से लिया हुआ कर्ज चुकाना है।

मानव विवेक-विचारशील प्राणी है। उसने समाज के विभिन्न कोटि के व्यक्तियों से ही नहीं, विभिन्न प्राणियों से अनेक प्रकार की साधन-सामग्री एकत्रित की है। अब उसे समाज से प्राप्त इस कर्ज को चुकाने के लिए दान और भोग—इन दोनों में से उक्त प्राप्त साधन सामग्री का उपभोग कम से कम करके अधिक से अधिक दान को अपनाना चाहिए। तभी वह इस ऋण से मुक्त हो सकता है। वह ऐसे व्यक्तियों और ऐसे अवसरों को ढूंढ़ता रहे कि उसे अपने संचित साधनों में से दान देने का और समाज के ऋण से शीघ्र उऋण होने का मौका मिले। उसे अपना अहोभाग्य समझना चाहिए कि मुझे समाज के ऋण को उतारने के लिए अमुक व्यक्तियों को दान देने के रूप में उत्तम अवसर मिला है।

समाज से लिए हुए सहयोग-दान को पुनः समाज को चुकाने में क्यों हिचकिचाना चाहिए। व्यक्ति का जीवन ही समाज के लिए अर्पित होना चाहिए। वेदों

तथा अपनी धनहीनता अखरती नहीं। वह यही सोचता है कि धनिक मुझे संकटकाल में, बीमारी में, विपत्ति पड़ने पर या किसी आवश्यक मौके पर स्वेच्छा से दे ही देता है, तब मुझे धन को अधिक संचित करके रखने की क्या आवश्यकता है? बल्कि धन की सुरक्षा की चिन्ता से मैं मुक्त हूँ।"

दान से दरिद्रतानाश

समाज में दान की धारा सतत प्रवाहित रहे तो उससे दरिद्रता नाम की कोई वस्तु नहीं रहती। प्राचीनकाल में ओसवाल जाति में इसी प्रकार की दान-परम्परा थी।

माण्डवगढ़ (धार) का इतिहास इस बात का साक्षी है। यहाँ लगभग एक लाख की वस्ती सर्वप्रथम थी। फिर जो भी जैन आकर बसना था, उसे व्यापार धन्धे के लिए प्रत्येक घर से एक-एक रुपया और मकान बनाने के लिए एक-एक ईंट दी जाती थी। इस प्रकार आगन्तुक जैन अपना मकान बनाकर लाखों रुपयों से अपना रोजगार चलाता था। साधर्मीवात्सल्य का यह कितना अनुपम उदाहरण है!

पारसी कौम में आपको कोई गरीब नहीं मिलेगा। इसका कारण है कि वे अपनी बिरादरी के किसी व्यक्ति को साधनहीन, असहाय या गरीब नहीं रहने देते। वे जब किसी को संकटग्रस्त या विपन्न देखते हैं तो उसे कोई न कोई आजीविका दिलाकर उसकी निर्धनता को मिटा देते हैं। क्या यह सहयोग के रूप में दान-परम्परा अनुकरणीय नहीं है?

मुसलमानों में बोहरा कौम में भी आपको जातीय समानता देखने को मिलेगी। उसका कारण भी स्पष्ट है कि वे किसी भी भाई पर आकस्मिक विपत्ति, बेकारी या बेरोजगारी का संकट आया देखेंगे तो उसके कहे बिना तुरन्त सामूहिक चन्दा करके उसे अपने मनोनीत व्यवसाय में लगा देते हैं। उसे दान देकर भी वे उसके मन में हीनता महसूस नहीं होने देते।

इसीलिए चाणक्यनीति में स्पष्ट कहा गया है—'दानं दारिद्र्यनाशनम्'

—जहाँ दान की धारा सतत बहती रहती है, उस समाज में दारिद्र्य का दुर्भिक्ष टिक नहीं सकता।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पंचम अध्याय में दान की महिमा का वर्णन करते हुए बताया है कि दान न करने से मनुष्य दरिद्र हो जाता है। दरिद्र होने पर वह पापकर्म में प्रवृत्त होता है, जिसके फलस्वरूप वह नरकगामी बनता है और पुनः-पुनः दरिद्र एवं पापी भी होता रहता है।"

इससे स्पष्ट समझा जा सकता है कि जिस समाज में दान की वृष्टि नहीं होती, उस समाज की सरसता, उदारता और सहृदयता सूख जाती है। समाज के अधिकांश लोग दरिद्र होकर पापमय जीवन बिताते हैं।

लिए तैयार हैं, लेकिन इस काम को करने के लिए हम कम से कम एक महीने की मुद्दत मिलनी चाहिए।"

बादशाह ने कहा—"अवश्य ! मैं इस काम को पूर्ण करने के लिए आपको एक महीने की अवधि देता हूँ।"

पाटन के चापा शाह आदि मुख्य-मुख्य शाहों ने मिलकर दुष्काल निवारण के लिए गुजरात के विभिन्न शहरों में घूमकर टीप में मितियाँ लिखाना प्रारम्भ किया। वे जहाँ भी गए वहाँ धनाढ्यों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार मितियाँ लिखाईं। घूमते-घूमते वे सबलाह प्रांत प्रदेश के हडाला ग्राम से होकर आगे बढ़ना चाहते थे। प्रातःकाल का समय था। शौचस्नानादि के लिए वे सब शाह एक कुँए पर बैठे थे। अकस्मात् हडाला निवासी खेमाशाह उधर से आ रहे थे। उन्होंने इन शाहों को कुँए पर बैठे देखा तो सहज ही पूछ लिया—"शाहजी! कहाँ से पधारे? आप लोग कहाँ जा रहे हैं?" शाहों के प्रमुख ने कहा—"भाई! हम लोग गुजरात के दुष्काल निवारण के लिए बड़े-बड़े शहरों में जाकर टीप में शाहों से मितियाँ लिखवाते हैं। हमें एक महीने के अन्दर-अन्दर ३६५ मितियाँ पूरी करनी हैं। हम घूमते हुए २० दिन तो पूरे हो गए। अब केवल १० दिन ही शेष रहे हैं। मितियाँ अभी बहुत लिखनी बाकी हैं। इसलिए हम यहाँ से शीघ्र ही नहा-धोकर आगे के लिए प्रस्थान करेंगे।"

खेमाशाह ने यह सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की कि काम तो आपका बहुत ही सुन्दर है, समाज कल्याण का है, पर आप इस गाँव को छोड़कर आगे क्यों जा रहे हैं? यहाँ भी तो हम आपके साधर्मिक भाई हैं, यथाशक्ति हम भी टीप में कुछ न कुछ मितियाँ लिखाएँगे ही।' इसलिए आप एक टाइम के लिए इस गाँव में रुकिए।" उन्होंने खेमाशाह का परिचय पूछकर कहा—खेमाभाई! हमें रोककर आप क्या करेंगे? यहाँ विशेष काम बनने वाला नहीं दिखता, छोटा-सा गाँव है। हमारे पास कुल १० दिन बाकी रहे हैं। इसलिए हम बहुत शीघ्रता से बड़े-बड़े शहरों में जाकर अधिकाधिक मितियाँ लिख सकेंगे।" परन्तु उदार खेमा ने कहा—आप छोटा-सा गाँव देखकर आगे बढ़ने का विचार मन करिए। मेरी भावना को देखिए। मेरी विनति पर ध्यान देकर एक टाइम के लिए अवश्य यहाँ रुकिए। मेरे घर पधार कर कम से कम नाश्ता तो कर लीजिए। मैं नाश्ता किये बिना तो आपको जाने ही नहीं दूँगा।"

शाह लोग खेमाशाह की ऊँची-ऊँची धोती और ग्रामीण पोशाक देखकर अनुमान लगा रहे थे। यह साधारण-सा ग्रामीण ज्यादा से ज्यादा २-४ मितियाँ लिखा देगा, पर इतने से क्या काम होगा। परन्तु खेमाशाह के अत्याग्रह के आगे सभी शाहों को झुक जाना पड़ा। खेमाशाह उन सबको अपने घर ले आया। साधारण-सा घर देखकर सभी शाह परस्पर कानाफूसी करने लगे। खेमा ने शाहों को अपने दीवानखाने में बिठाया, सबको नाश्ता करवाया। इसी दौरान वह शाहों से टीप लेकर अपने वृद्ध

शाह बोले—हाँ, हो गया, हजूर ! एक ही दिन म और एक ही व्यक्ति से हो गया ?"

"ऐसा कौन दानवीर तुम्हें मिल गया, जिसने अकेले ने सब काम कर दिया ?" बादशाह ने पूछा।

शाहों ने कहा—"हजूर ! ये हमारे मे प्रमुख खेमाशाह है। इन्होंने अकेले ने सारे गुजरात को एक साल तक अन्न तथा घास चारा देने का बीड़ा उठाया है।'

बादशाह आश्चर्यचकित होकर बोले—"अच्छा, ये है खेमाशाह ? क्या इनके पास कोई जागीरी है ?"

खेमाशाह ने कहा—"हजूर ! मेरे पास तो ये दो जागीरी है—पठ और पायली[1] और कोई जागीरी नही है। मैं किसान हूँ। खेती करता हूँ।"

बादशाह ने सभी शाहों को धन्यवाद देते हुए कहा—"वास्तव मे आप लोगों ने शाह पद के उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। मुझे बहुत खुशी है। आओ आज से आप सबका शाह पद कायम रहेगा।"

यह है—समाज के भूखे और सकटग्रस्त लोग को देखकर प्रबल उत्साह से दानधारा बहाने का ज्वलन्त उदाहरण !

इस्लाम धर्म की भी दान के सम्बन्ध मे महती प्रेरणा है। हर मुसलमान को अपनी आमदनी का ४०वाँ हिस्सा खैरात मे निकालना चाहिए।" कुरानेशरीफ मे एक जगह कहा है—"पैसा सूद से नहीं, दान से बढ़ता है।" वास्तव मे समाज को स्वस्थ, सम एव समृद्ध रखना हो तो समाज के हर व्यक्ति को कुछ न कुछ दान प्रतिदिन करना चाहिए।

वैदिक धर्म मे तो दान की प्रेरणा कूट-कूट कर भरी हुई है। वहाँ बताया गया है कि जो व्यक्ति केवल सचित ही करता जाता है, न तो स्वय उपभोग करता है और न दूसरों को देता है, वह निपट स्वार्थी है, वह पापी है, जो अकेला खाता है।

'केवलाघो भवति केवलादी'

जो स्वय अकेला खाता है किसी को देता नही, वह केवल पापी है। भगवद्गीता मे भी स्पष्ट कहा है—

'तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव स'

अर्थात्—समाज के विभिन्न वर्गों या घटकों के दिये हुए साधनों को समाज के जरूरतमंदों को दिये बिना, जो अकेला ही सब कुछ उपभोग कर जाता है, वह चोर है।

---

१. अनाज तोलने के बाट को पठ और मापने की डलिया को 'पायली' कहते है।

८

विचार और वाणी पर संयम

दुर्लभ और बहुमूल्य चीजों पर कन्ट्रोल

संसार में जितनी दुर्लभ, दुष्कर और बहुमूल्य वस्तुएँ हैं, उन पर कन्ट्रोल रखा जाए तो उतनी ही हानि उठानी पड़ती है। परमाणु बहुत ही दुर्लभ और हुमूल्य वस्तु है, किन्तु उस पर कन्ट्रोल न करके उसका बम बनाकर किसी शहर र फैंका जाए तो कितनी विनाशलीला का सर्जन कर सकता है? हीरोशिमा और गासाकी, ये दो बड़े शहर परमाणु बम पर कन्ट्रोल न करने के उदाहरण है। वाईजहाज बहुत कीमती होता है, अत्यन्त तीव्रगति से वह मनुष्य को दूर-सुदूर चा देता है, परन्तु उसका चालक उस पर ठीक कन्ट्रोल न करे तो जरा-सी देर वह जलकर भस्म हो जाता है। मोटर की अन्धा-धुन्ध गति पर कन्ट्रोल न किया ए तो कितना अनर्थ हो जाता है? इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी बहुमूल्य और म विचार और वाणी पर कन्ट्रोल न करे तो क्या-क्या दुष्परिणाम आ सकते है, ा कभी आपने इस पर सोचा है?

आप कहेंगे, हमे विचार करने के लिए मन और बोलने के लिए वाणी तो न मे मिले हैं। इसका कोई मूल्य हमने नहीं दिया है। परन्तु मैं पूछता हूँ, आपको ष्य का मन प्राप्त करने और मानववाणी प्राप्त करने के लिए कितने-कितने जन्मो पस्या करनी पड़ी है? कितने-कितने सत्कार्य करके सद्विचार मन मे सजोकर तब र वाणी द्वारा दूसरो को सन्मार्ग बताकर आपने महान् पुण्य धन उपार्जन किया होगा, मी उस महापुण्य-धन के बदले आपको मनुष्य के उत्कृष्ट मन और मानववाणी की प्राप्ति हुई है। आप मानें या न मानें, आपको अनेक जन्मो तक काफी मूल्य चुकाना पड़ा है। आपको भले ही इस जन्म मे उत्तम मन और उत्तम वाणी के लिए कोई मूल्य न चुकाना पड़ा हो, परन्तु पहले तो चुकाना ही पड़ा है। किसी व्यक्ति को कोई कीमती और दुर्लभ चीज लेनी होती है, कुछ दिनों बाद उस दुकानदार के यहाँ सिर्फ एक नग आने वाला हो, और फिर उसके ... बाजार में घूम रहे हो, तो उस चीज के लिए पहले से ... के ... रही तो ... कम ... मूल्य ... क्या कराता ... , तब कर ... मिल ... अन्यथा, उस दुर्लभ ... क ... मे आ

सकता है। यही बात मानव-मन और मनुष्य वाणी की महंगाई एवं दुर्लभता के लिए समझ लीजिए। आप अनेक जन्मों तक पुण्य रूपी धन इकट्ठा जमा करते रहे होंगे, प्रकृति की दुकान में तब कहीं जाकर पूरी रकम (पुण्यराशि) जमा होने पर प्रकृति रूपी दुकानदार ने आपको मनुष्य के मन-वचन दिये हैं।

इतनी दुर्लभ एवं महंगी चीजों के उपयोग पर संयम हो

अब आप ही सोचिए, इतनी महंगी वस्तु पाकर आप इन दोनों का मनमाना उपयोग करते रहें, चाहे जहाँ इनको व्यर्थ खर्च करते रहें तो क्या आपको ये दोनों दुर्लभ वस्तुएँ बारबार मिल जाएँगी? नहीं मिल पाएँगी। इसलिए आपको इतनी महंगी और दुर्लभ वस्तुओं के उपयोग पर संयम करना चाहिए। इन दोनों वस्तुओं पर कंट्रोल न करने से संसार में बड़े-बड़े अनर्थ हुए हैं, वैसे ही आपके अनियंत्रित मन और वाणी के द्वारा भी भयंकर अनर्थ होने की सम्भावना है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार इन दोनों का उपयोग करने में फूंक-फूंक कर कदम रखने की बात कहते हैं।

बलवान आत्मा की पहचान : पवित्र विचार और वचन

आत्मा की शक्ति का नाप-तौल किसी बाहर की वस्तु से नहीं हो सकता, उसके नापतौल के लिए मनुष्य के विचारों और वचनों को देखा-परखा जाता है। अगर मनुष्य के विचार उत्तम हैं, सुलझे हुए हैं, स्पष्ट हैं, स्वपर-कल्याणकारी हैं, तथा उसके वचन सत्य से सने हैं, मधुर हैं, पर-पीड़ाकारी नहीं हैं, परहित से परिपूर्ण हैं, युक्ति-संगत हैं, नपेतुले हैं, तो समझा जाता है कि उसकी आत्मा में प्रबल शक्ति है, परन्तु अगर मनुष्य के विचार गन्दे हैं, हानिकर हैं, उलझन और संशय से भरे हैं, अस्पष्ट हैं तथा उसके वचन भी अश्लील हैं, काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों से ग्रस्त हैं, स्वार्थी हैं, कटु हैं, परपीड़ाकारी हैं, युक्ति विरुद्ध हैं तो समझा जाता है कि उसकी आत्मा निर्बल और निस्तेज है।

आत्मा बलवान और तेजस्वी बनती है—पवित्र विचारों से, पवित्र आध्यात्मिक वचनों से। जहाँ स्वपरहित के, युक्ति-संगत विचार और वचन होंगे, समझ लो, उसके पीछे बलवान् आत्मा का निवास है। अतः आत्मा की बलवत्ता शुद्ध, सक्रिय, स्वपर-आत्महित से युक्त विचारों और वचनों पर निर्भर है।

विचार और वाणी के स्रोत-मन और वचन

अगर विचार और वाणी पर आप संयम रखना चाहते हैं, आप इनकी पवित्रता को स्थायी रखना चाहते हैं तो सर्वप्रथम विचार और वाणी के स्रोत को ढूंढना चाहिए। विचार का स्रोत मन है, जबकि वाणी का स्रोत—उद्गमस्थान वचन है। जितने भी शुभ या अशुभ विचार पैदा होते हैं, जितनी भी चिन्तन की विविधताएँ हैं, जितना भी मनन होता है, सब का उद्गम स्थान मन है। मन को अगर अच्छे विचार करने में अभ्यस्त किया जाए, शुद्ध आध्यात्मिक चिन्तन, स्वपर-कल्याण के चिन्तन या

आत्महित पर मनन करने का आदी बनाया जाए, इसे प्रशिक्षण देकर पवित्र रहने में अभ्यस्त किया जाए तो निःसन्देह मन बुरे विचारों के बीहड़ में नहीं भटकेगा, अपवित्र एवं अहितकर मनन नहीं करेगा। निष्कर्ष यह है कि मन को बुरे विचारों से हटाकर अच्छे विचारों के उद्यान में प्रवृत्त करना चाहिए। साथ ही जब भी मन बुरे विचारों एवं अहितकर चिन्तन-मनन में पूर्व संस्कारवश प्रवृत्त होने जा रहा हो, उस समय तुरन्त आप सावधान हो जाएँ और दृढ़तापूर्वक उसे उन कुविचारों एवं अशुभ चिन्तन से खदेड़ दें, झटपट मन से बुरे विचारों को निकाल दें, जरा भी रियायत न करें, न ही पपोलें। अगर आपने कुविचार एवं दुश्चिन्तन करते हुए मन को जरा भी पपोला, उसे मोहवश जमने दिया तो फिर वे कुविचार और दुश्चिन्तन घर कर जाएँगे। आपके अन्तर्मन में उन बुरे विचारों एवं दुश्चिन्तन के कुसंस्कारों की परतें जम जाएँगी। फिर उन्हें निकालना अत्यन्त कठिन हो जाएगा। कोई कुत्ता किसी के घर में पोल देख कर या पुचकारते ही झट घुस जाता है और आपकी आँखें बचाकर रोटियाँ खा जाता है या अन्य नुकसान कर बैठता है, किन्तु आते ही उसे एकाध रोटी देकर डंडा दिखा कर भगा दिया जाता है, फिर भी वह दूसरी-तीसरी बार आता है। अगर उसे दो-तीन बार लगातार डंडा दिखा कर दूर तक भगा दिया जाता है तो फिर वह नहीं आता। वह समझ जाता है कि यहाँ तो मुझे दुत्कार कर खदेड़ दिया जाता है, यहाँ जाना ठीक नहीं। यही हाल मन का है। मन को बुरे विचारों के साथ प्रवेश करते समय यदि आप चुपचाप बैठे रहे, उसे खदेड़ें नहीं, उसे पपोलते रहे तो वह जम कर बैठ जाएगा, बुरे संस्कारों का संचय कर देगा, और आगे चल कर भारी अनर्थ मचा देगा। अगर आपने कुविचारों या दुश्चिन्तन के साथ आते हुए मन को देखते ही उसे अनुशासन और संयम का डंडा दिखाया और उसे खदेड़ दिया, दुत्कार-फटकार दिया तो दो-तीन बार अपमानित होकर फिर वह सहसा आपकी आत्मा के चौके में घुसने का साहस नहीं करेगा।

मन को अशुभ चिन्तन से हटाकर शुभ चिन्तन में लगा दो

प्रश्न यह है कि मन का काम तो सतत चिन्तन-मनन करना, तथा सोचना-विचारना है। क्या उसे अशुभ विचारों या दुश्चिन्तन से रोक कर निश्चेष्ट या बिलकुल निश्चिन्तन, निर्विकल्प किया जा सकता है? बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैन सिद्धान्त कहता है कि मन चौदहवें गुणस्थान की भूमिका पर जाकर बिलकुल निश्चेष्ट, निष्कम्प, निश्चल एवं निर्विकल्प हो जाता है, परन्तु इससे पहले की भूमिकाओं में कुछ न कुछ हलचल तो करता ही रहेगा। मन का काम ही कुछ न कुछ चिन्तन, मनन व विचार करना है। इसे आप गठड़ी में बाँध कर बिलकुल निश्चेष्ट बना कर बिठा नहीं सकते। अगर आप इसे जंगल में, गुफा में या बिलकुल एकान्त में भी छोड़ आएँगे, तो भी यह वहाँ कुछ न कुछ विचार, चिन्तन या मनन करेगा ही, खाली बैठा नहीं रहेगा। चाहे वह अच्छा विचार करे या बुरा, दुश्चिन्तन करे या

चिन्तन, कुछ न कुछ तो करता ही रहता है। अगर वह अच्छे विचारों या सच्चि-
न्तन से खाली रहेगा या उसे सुविचार तथा सुचिन्तन से रिक्त रखा जाएगा, तो वह
अवश्य ही बुरे विचारों या दुश्चिन्तन में प्रवृत्त हो जाएगा। अतः अगर आप दुवि-
चारों या दुश्चिन्तन को रोकना चाहते हैं, उन पर संयम करना चाहते हैं तो आप
विचारों के स्रोत—मन को सुविचारों एवं शुद्ध आध्यात्मिक चिन्तन में प्रवृत्त क
होगा। अन्यथा, एक अंग्रेज विचारक के शब्दों में—

'Empty mind is devil's workshop.'

—खाली मन शैतान का कारखाना हो जाता है। वास्तव में सुविचारों
सच्चिन्तन के संस्कारों की परतें अन्तर्मन में सुदृढ़ रूप में जमाने के लिए
बार-बार सुचिन्तन और सुविचार से अभ्यस्त और प्रशिक्षित करना आवश्य
तभी विचारों पर संयम हो सकेगा। तभी सुविचार और सुचिन्तन सहज स्वा
रूप से मन में जम जाएँगे।

इसी प्रकार वाणी पर संयम करने के लिए वाणी के स्रोत वचन को
टटोलना आवश्यक है। वचन का भी प्रहरी बनकर बैठा रहना होगा। जैसे द्वारपाल
किसी भी ऐरे-गैरे या अनिष्ट आदमी को मालिक की आज्ञा के बिना अन्दर नहीं
घुसने देता, वैसे ही जागृत साधक को आत्मारूपी मालिक की आज्ञा के बिना अंटसंट
एवं अनिष्ट वचनों को जबान पर नहीं चढ़ने देना चाहिए। जैसे ही कोई गलत, अशुभ,
पीड़ाकारी, अहितकर एवं असत्य वचन घुसने लगे या जिह्वा पर चढ़ने लगे तो
तुरन्त ही उसे रोकना पड़ेगा, शुभ, हितकर, सत्य एवं परिमित वचन को उसके बदले
स्थान देना होगा, अथवा मौन रखना होगा। तभी दुर्विचारों की तरह दुर्वचनों को
रोका जा सकेगा। यही वाणी-संयम का उत्तम उपाय है। परन्तु वाणी-संयम की इस
साधना के लिए भी पूर्व संस्कारवश जिह्वा पर चढ़े हुए दुर्वचनों को हटाने के लि
बार-बार जूझना होगा। बार-बार सावधानीपूर्वक उन दुर्वचनों को खदेड़ना होग
कदाचित् मुख से निकल जाएँ तो उसके लिए पश्चात्ताप 'मिच्छामि दुक्कडं', प्रायश्चि
एवं क्षमायाचना का प्रयोग करें, इस प्रकार बार-बार के अभ्यास से आपकी जि
सध जाएगी, वह अच्छे वचनों का ही प्रयोग करेगी, दुर्वचनों के आते ही कड़वे
की तरह वह तुरन्त थू-थू करके उसे भगा देगी।

परन्तु यदि आपने विचार और वाणी दोनों जगह असावधानी रखी,
दुर्विचारों या दुर्वचनों को खदेड़ा नहीं, उलटे पपोलने लगे तो फिर वे आपको
देंगे, आप पर एकदम हावी हो जाएँगे। आप लाख कोशिश या मिन्नतें कर लें
वे झटपट निकलेंगे नहीं।

अतः विचार-संयम और वाणी संयम के लिए पदे-पदे सावधानी की,
की जरूरत है। इसके बिना यह कार्य दुष्कर है। साथ ही विचार और व
संयम के लिए सुविचार और सुवचन के द्वार सदैव खुले रखेगा।

पानी की टंकी जितनी ऊँची होगी, उतना ही ऊँचा पानी चढ जाता है, इसी प्रकार मन को सद्विचारों से ऊँचा बनाएँ तो मस्तिष्क की टंकी तक सद्विचार पहुँच सकते हैं।

जैसे शरीर को पवित्र—शुद्ध करने के लिए नल का पानी है, वैसे ही मन को पवित्र—शुद्ध करने के लिए ज्ञान रूपी पानी है।

विचार और वाणी पर संयम क्यों ?

बहुत से शिक्षित लोग यह कहा करते हैं कि विचारों और वाणी पर तो किसी प्रकार का प्रतिबन्ध होना ही नहीं चाहिए। विचार उन्मुक्त मन से करना चाहिए और जो मन में आए उसे खुल्लमखुल्ला प्रगट कर देना चाहिए। जबान हमें किसलिए मिली है और दिमाग भी हमें किसलिए मिला है ? मुक्त चिन्तन एवं मुक्त रूप से वाणी द्वारा विचारों का प्रकटीकरण, ये दो तो स्वतन्त्रता के लक्षण हैं, इन पर प्रतिबन्ध लगाना परतन्त्रता है।

परन्तु ऐसा कहने वाले भूल जाते हैं कि जो भी मन में आए, वह बोलने और जो भी दिमाग में विचार आया, उसी पर चिन्तन करने पर उसे घोषित कर देते हैं, उसे मानसिक चिकित्सा के लिए पागलखाने में भेज देते हैं। अगर व्यक्ति समाजहित, राष्ट्रहित एवं परिवारहित के विरुद्ध, हिंसात्मक, द्वेषा चौर्यात्मक या परपीड़ात्मक चिन्तन करता है, जिसे जैन परिभाषा में रौद्रध्यान का तो उस पर भी लोकतन्त्रीय सरकार प्रतिबन्ध लगाती है, बशर्ते कि वह रौद्र लेख या वाणी द्वारा प्रकट हो जाए तो अथवा उसके क्रूरतापूर्ण कार्यों द्वारा वे घातक सिद्ध हो जाएँ तो। जैनधर्म भी विचार और वाणी पर सर्वथा ताला की बात नहीं कहता है, वह भी कहता है कि मन विचार करने के लिए है, वचन बोलने के लिए है। इन दोनों की स्वतन्त्रता तो मनुष्य का जन्मसिद्ध अ है। परन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य मन का गुलाम बनकर नचाये नाचे, मन को अपने अधीन बनाने के बदले, मन के अधीन स्वयं बन ज अथवा वचन को अपने अधीन बनाने के बदले स्वयं वचन के अधीन बन जाए और वचन की स्वतन्त्रता का अर्थ यही है कि मन और वचन दोनों स्व=आत्म तन्त्र=अधीन में हों। आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वत्र इसी अर्थ में स्वतन्त्रता ली गई मनुष्य जहाँ पर अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रिय, वचन, काया, धन या किसी भी वस्तु के तन्त्र में=अधीनस्थ हो जाय, वहाँ परतन्त्र कहलाता है।

दूसरी बात यह है कि विचारों या वाणी पर जो प्रतिबन्ध लगाना है, दूसरे किसी के द्वारा लगाना नहीं है, स्वयं के द्वारा स्वेच्छा से स्वयं के विचारों वचनों पर प्रतिबन्ध लगाना है। किन विचारों या किन वचनों पर प्रतिबन्ध (न्त्रण) लगाना है, इसका निर्णय तो व्यक्ति स्वयं करेगा। जो वचन या विचार स्व घातक, अहितकर परपीडाकारी होंगे, जिनसे अपनी आत्मा का भी अहित होगा,

सका, वह उसे सह न सका। फलतः वह भयंकर दुर्दान्त दस्यु बन गया। वह अपने सेठ की पुत्री सुषमा तथा उसके धन को अपहरण करने के भागा। दुर्विचारों पर अंकुश न करने का परिणाम ऐसा ही होता है। चिलातीपुत्र आवेश में था और जब उसका बहुत पीछा किया गया तो उसने आवेश में आकर सेठ की पुत्री का ही काम तमाम कर डाला। स्वयं का जीवन भी संकट में पड़ गया। आखिर चिलातीपुत्र को सद्बोध देने वाले एक प्रशान्त-आत्मा मुनि मिल गये। उन्होंने दुर्विचारों को छोड़कर सुविचार करने का मार्ग बताया। चिलातीपुत्र संयमी मुनि बन गया। शुद्ध विचारों के फलस्वरूप उसने अपने जीवन को सार्थक कर लिया।

दुर्विचारों पर संयम न करने से कितनी हानि हो जाती है, इसकी बोलती कहानी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की है। ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि पर जब राजा श्रेणिक के राजकर्मचारी दुर्मुख ने ताना कसा तो वह एकदम तिलमिला उठे। अपने आपे को खोकर वह रौद्र ध्यानवश युद्ध करने के लिए मन ही मन तैयार हो गये, शस्त्रास्त्र से मनकल्पित शत्रुओं पर वे प्रहार करने लगे। यद्यपि यह सारा कार्य मानस क्षेत्र में ही हो रहा था, तथापि राजा श्रेणिक के द्वारा भगवान महावीर से पूछे जाने पर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के लिए उन्होंने उस समय नरकगति बताई। परन्तु एकाएक सम्भल जाने और दुर्विचारों पर एकदम ब्रेक लगाने, पश्चात्ताप करने एवं शुविचारों का प्रवाह बहाने पर उनका भविष्य उज्ज्वल हो गया। सर्वार्थसिद्ध देवलोक का बन्ध होते-होते शुद्ध शुक्ल ध्यान की विचारधारा में रमण करते-करते उन्हें केवलज्ञान और सर्वथा बन्धन मुक्ति रूप मोक्ष प्राप्त हो गया।

दुर्विचारों पर असंयम और संयम की यह जीती-जागती कहानी सब कुछ प्रेरणा दे जाती है। दुर्विचारों पर संयम न रख पाने के कारण तन्दुलमच्छ को सातवीं नरक की यात्रा करनी पड़ी। हालांकि वह अपने दुर्विचारों को रत्तीभर भी क्रियान्वित नहीं कर सका।

वर्तमान युग के मानव का चिन्तन

चार गतियों में मनुष्यगति ही ऐसी है, जहाँ मनुष्य को विचार करने का उत्तम, अवसर प्राप्त होता है। दूसरे प्राणियों को इतना उन्नत मन नहीं मिलता कि वे उच्चविचार कर सकें। अत मनुष्य को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में अविनाशी परब्रह्म (शुद्ध आत्मा) का चिन्तन करना चाहिए, उसके बदले आज उसका चिन्तन बहुत ही निम्नकोटि का हो गया है। वर्तमान युग का मानव प्रायः विचारों पर संयम नहीं रख सकता। वह आमतौर से चार वस्तुओं की चिन्ता करता है—(१) पैसा, (२) मोह-जन्य प्रेम, (३) पुत्र-पुत्री और (४) प्रसिद्धि। इन चारों में उसका मन इतना रुका हुआ होता है कि वह इन्हीं की चिन्ता में रात-दिन घुलता रहता है, किसी उदात्त तत्त्व का चिन्तन नहीं करता। [illegible]

होता है या कोई भी धर्मक्रिया करता है, वहाँ भी बार-बार इन्हीं बातों की चिन्ता में उसका मन लगा रहता है। भला, [illegible] अविनाशी आत्मा परमात्मा का चिन्तन छोड़कर शरीर और शरीर से सम्बन्धित विनाशी वस्तुओं का ही अधिक चिन्तन-मनन करने वाले व्यक्ति की गति कैसे सुधर सकती है? ऊर्ध्वगति के योग्य मनुष्य इन दुर्विचारों या दुश्चिन्तन के कारण अधोगति प्राप्त कर लेता है। कितना दुर्भाग्य है! अतः अगर आप विचारों पर संयम करना चाहते हैं तो प्रत्येक कार्य या प्रवृत्ति करने से पहले विचार कीजिए कि मैं यह प्रवृत्ति क्यों कर रहा हूँ? इस प्रवृत्ति का परिणाम क्या आएगा? इस प्रवृत्ति के पीछे मेरे मन में कोई दुर्विचार या स्वार्थमय विचार तो नहीं है? यह प्रवृत्ति घातक है या हितकर? इस प्रकार बार-बार विचार करने से अपने विचारों पर आपका आधिपत्य हो जाएगा। आप स्वाभाविक रूप से विचार-संयम कर सकेंगे।

इसके अतिरिक्त विचारों की शुद्धि के लिए आपको प्रातःकाल किसी एक शान्त स्थान में बैठकर यह आध्यात्मिक विचार करना चाहिए—

"कोऽहं, कथमिदं जातं, को वै कर्तास्य विद्यते ?
उपादानं किमस्तीह ? विचारः सोऽयमीदृशः ॥"

—'मैं कौन हूँ? मैं मानव कैसे हुआ? या मेरी यह स्थिति कैसे बनी? इसका कर्ता कौन है? इस परिस्थिति में उपादान क्या है?' इस प्रकार का चिन्तन ही सुविचार है।

इस प्रकार के बार-बार चिन्तन से आप स्वयं किसी भी परिस्थिति में सुविचार-कुविचार का निर्णय कर सकेंगे। मान लीजिए, आपको किसी ने मारा-पीटा या गाली दी? उस समय आप उत्तेजित होकर गाली या मारपीट करने के बदले पहले उपर्युक्त विचार सूत्रों की दृष्टि से चिन्तन कीजिए। मैं कौन हूँ? यह परिस्थिति क्यों हुई? इसका मूलकर्ता कौन है? इस विषय में उपादान क्या है? यह भाई जो मार-पीट कर रहा है, या गाली दे रहा है, यह तो निमित्त है। मूल उपादान कारण तो मैं ही हूँ। मेरे पूर्वकर्मों के फलस्वरूप ही तो ऐसा हुआ है? अतः इसका मूलकर्ता मैं हूँ। दोषी आत्मा ने ही ऐसा किया था, तभी तो उसका प्रतिफल मिला? इस प्रकार विचार शुद्धि कर लेने पर मनुष्य समभावपूर्वक कष्ट सहकर उन कर्मों को काट सकता है, नये कर्मों का बन्ध रोक सकता है।

विचारों पर संयम : महा-अनर्थ निवारक

विचारों की शुद्धि होने पर अपना शत्रु और मित्र स्वयं ही प्रतीत होगा। किन्तु विचारों की शुद्धि न होने से उन पर कोई कन्ट्रोल नहीं रहेगा। ऐसी दशा में मित्र भी शत्रुवत् प्रतीत होने लगेगा।

एक राजा वायुसेवन के लिए बगीचे में गया। वहाँ एक बेंच पर बैठकर वह आराम करने लगा। सहसा उसकी दृष्टि सामने चलते हुए राजपथ पर पड़ी। एक

राजा सेना सहित आ रहा था, उसे देखकर इस राजा के मन मे कुविचार उठा—हो न हो, यह राजा मेरे नगर पर चढ़ाई करने आ रहा है। अत यह चढाई करे उससे पहले ही मैं इसे मौत के घाट उतार दूँ।" बस, उसके दुर्विचार पूर्ण मन ने मन ही मन शस्त्रग्रहण करके युद्ध ठान लिया, मारने-काटने के काम मे लग गया।' इस प्रकार मन ही मन राजा ने पाप मय कुचक्र रच लिया।

सामने से जो राजा आ रहा था, उसने देखा कि नगर का राजा तो इस बगीचे मे बैठा है। इसलिए दूर से ही प्रणाम करते हुए वह राजा के निकट पहुँचा और विनयपूर्वक बोला—"राजन्! मैं दूर-सुदूर तीर्थों की यात्रा के लिए जा रहा हूँ। आप यहीं मिल गए, यह अच्छा हुआ। मैं आपसे विनति करने के लिए ही आ रहा था कि आप भी मेरे साथ तीर्थयात्रा के लिए पधारें।" नगर नरेश सुनकर एकदम चौंका और पश्चात्तापपूर्वक सोचने लगा—अरर् गजब हो गया! यह मेरा शत्रु नहीं, मित्र है। यह तो तीर्थयात्रा के लिए सेना सहित जा रहा है, मुझे भी साथ चलने की प्रार्थना कर रहा है।"

वस्तुतः विचारो की जहाँ शुद्धि नही होती, वहाँ मनुष्य दूसरो को देखकर इसी प्रकार के रागद्वेषपूर्ण विचारो की सृष्टि करता है, जो बाद मे पश्चात्ताप के कारण बनते हैं।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य को विचार करना सीखना चाहिए। विचार करने की कला से विचार-संयम बहुत शीघ्र हस्तगत हो जाएगा।

वाणी पर असंयम : अनर्थ एव वैरपरम्परावर्द्धक

आपके कपड़े फटे हुए हो, खाना चाहे रूखा-सूखा हो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु अगर आपकी वाणी कड़वी, मुँहफट, व्यंग्यपूर्ण, मर्मघातक, पीडाकारक एव असभ्य होगी तो उससे महान् अनर्थ हो जाएगा। वाणी से आप किसी को मित्र भी बना सकते हैं, शत्रु भी। जिसकी वाणी पर सयम नही होता, कटुता होती है, वह अनेक लोगों को अपने शत्रु बना लेता है। बन्दूक की गोली या तलवार के प्रहार से होने वाला घाव तो महीने-दो महीने मे भर जाता है, लेकिन तीखे और कटुवचनों के प्रहार से होने वाला घाव जन्म-जन्मान्तर तक नही भरता। वैरपरम्परा कई जन्मो तक चलती है। इस जन्म मे भी लड़ाई-झगड़े आदि रागद्वेषवर्द्धक अनर्थ परम्परा चलती है।

दुर्योधन जब पाण्डवों का नवीन भव्य राजमहल देखने आया, तब द्रौपदी महल के झरोखे मे बैठी थी। दुर्योधन को इस खूबी का पता नही था कि कहाँ जल है, कहाँ भूमि है! क्योंकि जहाँ जल था, वहाँ जमीन जैसा प्रतीत हो रहा था और जहाँ जमीन थी, वहाँ बहते जल जैसा मालूम होता था। दुर्योधन जल के बदले जमीन समझकर दबादब चलने लगा, इससे उसके कपड़े भीग गए। द्रौपदी यह देख व्यंग्यपूर्ण वाणी मे बोली—"अन्धे के पुत्र अन्धे ही तो होते हैं!"

बस, इस तीखे व्यंग्यवचन बाण ने दुर्योधन के तन-बदन में आग लगा दी। उसने मन ही मन इसका बदला लेने हेतु द्रौपदी को भरी सभा में निर्वस्त्र करने की ठान ली। फलस्वरूप दुर्योधन ने पाण्डवों को जुआ खेलने के लिए ललकारा। जुए में हारने पर द्रौपदी को भी दाव में रख दिया। दुर्योधन को अपना बदला लेने का अच्छा मौका मिल गया। भरी सभा में द्रौपदी को निर्वस्त्र करने के लिए बुलाया। इस प्रकार महाभारत का बीजारोपण हुआ।

इसके पीछे द्रौपदी की व्यंग्यपूर्ण वाणी ही उत्तरदायी थी! अगर द्रौपदी उस समय अपनी वाणी पर संयम रखती तो इतना अनर्थ न होता।

वाणी मनुष्य और पशु दोनों को मिली है। परन्तु मनुष्य की भाषा इतनी उच्चप्रकार की है, उसमें इतना अर्थ गाम्भीर्य और भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति है कि एक भाषा का अनुवाद दूसरी भाषा में हो सकता है। यू० एस० ओ० में तो ऐसी मशीन भी है, जो एक भाषा का अनुवाद तुरन्त ही अनेक भाषाओं में कर देती है। परन्तु क्या कुत्ते की भाषा का अनुवाद बिल्ली की भाषा में हो सकता है? कदापि नहीं। इससे यह सिद्ध होता है, मनुष्य की भाषा—वाणी, पशु की वाणी से कई गुना विशिष्ट है। मानववाणी अनेक लोगों के विकास और प्रेरणा का प्रबल साधन बन सकती है। परन्तु इसी मानववाणी का जब अविवेकपूर्वक संयम रखे बिना उपयोग होता है तो वह अनेकों के उद्वेग, पतन, कलह एवं विनाश का कारण बन जाती है।

वाणी पर संयम बहुत आवश्यक है

चूँकि वाणी विचारों को परोसने के लिए एक चमचा है। विचारों का पता सीधा हर एक को नहीं लग सकता, क्योंकि विचार मन की गुफा में छिपे रहते हैं परन्तु वाणी तो प्रकट वस्तु है, इसलिए वाणी पर से मनुष्य के अच्छे-बुरे विचारों का तुरन्त पता लग जाता है। इसलिए सभ्य और सुसंस्कृत मानव के लिए तोल-तोलकर बोल निकालना आवश्यक है। अन्यथा वैचारिक असंयम से मनुष्य के जीवन की सारी पवित्रता खत्म हो जाती है।

मनुष्य की जीभ अत्यन्त पवित्र तथा कीमती वस्तु है। और दुर्लभ भी है। जो अपनी जीभ का दुरुपयोग करता है, उसे अगले जन्म में मनुष्य बन जाने पर अच्छी जीभ नहीं मिलती। या तो वह गूँगा या तोतला होता है, या वह जीभ से अच्छी तरह बोल नहीं सकता। इसलिए जिह्वा पर संयम और पहरेदारी रखना अत्यावश्यक है। मूल्यवान और दुर्लभ वस्तु होने के कारण जीभ पर भी कुदरत ने पहरा बिठा रखा है। आप पूछेंगे—"कौन पहरेदार है जीभ पर?" जीभ के चारों ओर बत्तीस दाँत पहरेदार के रूप में बैठे हुए हैं। दो ओठों का सुदृढ़ किला बना हुआ है। जीभ के चारों ओर चमड़ी लपेटी हुई है, वह उसकी रक्षा के लिए हाल है। ऐसी जीभ के अन्दर क्यों है? बताइए, कुदरत का संकेत क्या है? वाणी को बचा-बचा

र विवेक विचारपूर्वक बाहर निकालो !' यही तो संकेत है ? जिह्वा पर सरस्वती
ा निवास है। इस जिह्वा पर संयम रख कर उपयोग किया जाए तो मनुष्य हजारों-
ाखों का भला कर सकता है। और असंयम से लाखों का संहार करा सकता है।
ा कर सकता है, पतन के मार्ग पर प्रेरित कर सकता है।

मन्त्र में शक्ति किसकी है ? मन्त्रशक्ति से देवता पृथ्वी पर खिंचे चले आते
, वह क्या है ? शब्द ही तो है। वाणी में ही तो इस प्रकार की शक्ति है। एक
 क्ति गरीब है, किसी अतिथि को सूखी रोटी खिलाता है, परन्तु साथ में नम्र मधुर-
ाणी में कहा—आप जैसे महाभाग के चरण हमारे घर में कहाँ पड़े हैं ? हम पर बड़ी
पा की, आपने पधार कर।" किन्तु एक दूसरा धन-सम्पन्न व्यक्ति है, उसके यहाँ
्ाभटका कोई अतिथि आ गया। वह उसे भोजन कराने के बाद कहता है—'हमारे
हाँ भोजन बनाने वाला कोई नहीं है। आप आ गए, इसलिए हमें आपके लिए बना
र खिलाना पड़ा! हमारे यहाँ आए दिन ऐसे बेकार आदमी टपक पड़ते हैं, बड़ा
र देखकर !"

इन अनिष्ट व्यंग्य वचनों से अच्छे से अच्छा खिलाया हुआ भोजन भी जल-
र खाक हो जाएगा, जबकि मधुरभाषी के नम्र वचन सुनकर अतिथि का हृदय
द्गद हो जाएगा। वाणी का प्रयोग करना ही हो, तो संयमपूर्वक करना चाहिए,
ाकि वचनपुण्य का लाभ तो मिले। नीतिकार कहते हैं—"जब वाणी मिली है
ो अच्छे वचनों का प्रयोग करने में कंजूसी क्यों करते हो ?"[1]

अगर कोई व्यक्ति किसी को धन या साधन नहीं दे सकता हो तो कोई बात
हीं, वचन से तो उसे सान्त्वना के दो मीठे बोल कहना चाहिए ? अमृतमय वचन
ुखिया के दुःख पर मरहम का काम करते हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि विचार और वाणी दोनों पर प्रतिपल और प्रतिपद संयम
मानव के लिए आवश्यक है। जैन श्रावक के लिए तो विशेषरूप से इसकी साधना
अनिवार्य है।

इन दोनों पर संयम की साधना से मनुष्य का जीवन चमक उठता है, उसके
आचरण में संयम की सौरभ महक उठती है। उसका इहलौकिक और पारलौकिक
जीवन भी सुखशान्तिमय एवं धार्मिक गुणों से समृद्ध बन जाता है। ✡

९

दो महारोग : व्यसन और फैशन

मनुष्य ने बहुत बड़ी साधना के बाद यह देवदुर्लभ मनुष्य जीवन पाया है। उसे इस जीवन में आगे की मोक्षाभिमुखी साधना करने के लिए बलवान् आत्मा और उत्तम शरीर ये दो बहुमूल्य चीजें मिली हैं। जिस मनुष्य जन्म की प्राप्ति की दुर्लभता के लिए सभी धर्म ग्रन्थ एक स्वर से पुकार-पुकार कर कहते हैं—"दुल्लहे खलु माणुसे भवे", मनुष्य जन्म अतीव दुर्लभ है। सभी धर्म ग्रन्थों और महापुरुषों का संकेत यही है कि दुर्लभ मनुष्यजन्म को पाया है तो इससे उत्तम धर्माचरण कर लो। यही मनुष्य जन्म को सार्थक करने का तरीका है। अतः मनुष्य को यह नहीं भूलना चाहिए कि यह मानव-तन मुझे भोगविलास और प्रमाद में बिताने के लिए नहीं, अपितु धर्म-साधना करके आत्मगुणों के विकास के लिए तथा मोक्ष की ओर प्रगति करने के लिए मिला है। इसलिए मुझे शरीर की ओर अधिक ध्यान न देकर आत्मा की ओर ही अधिक ध्यान देना चाहिए, बल्कि आध्यात्मिक प्रगति करने के लिए शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान करना चाहिए।

आज शरीर पर ही ध्यान अधिक

परन्तु दुःख की बात है कि आज का मानव आत्मा की ओर अधिक ध्यान देने की अपेक्षा शरीर की ओर ही अधिक ध्यान देता है। आप पूछेंगे कि शरीर के प्रति अधिक ध्यान देने का क्या कारण है? मेरी दृष्टि में सबसे पहला कारण है—शरीर की निकटता और प्रत्यक्षता। हमारे जीवन के दो भाग हैं—एक ओर आत्मदेव है, जो शरीर रूपी देवालय में विराजमान है, दूसरी ओर शरीर है, जो विविध अंगोपांगों सहित चमड़ी से मढ़ा हुआ है। आत्मा मूर्तिमान नहीं है, अरूपी है, इसलिए प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, जबकि शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। शरीर में जो हलचल होती है, पाँचों इन्द्रियाँ और मन जो कार्य करते दिखाई देते हैं, शरीर के विविध अंगोपांगों की शक्ति को मनुष्य प्रत्यक्ष देखता है, इसलिए वह शरीर को निकटवर्ती और प्रत्यक्ष होने के कारण विशेष शक्तिशाली मानकर उसी की सेवा-पूजा में लगा रहता है। शरीर को खिला-पिलाकर पुष्ट करने, उसे नहला-धुलाकर विविध सुगन्धित पदार्थों से सुसज्जित करके, तथा विविध शृंगार और वस्त्राभूषणों से विभूषित करने का प्रयत्न करता है, शरीर जरा-सा रोगी हो जाय, शरीर में जरा-सी कोई पीड़ा हो जाय, कोई

कष्ट आ पड़े, शरीर से कोई अधिक श्रम करना पड़े तो मनुष्य उसकी हिफाजत और सुरक्षा के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करता है। शरीर पर किसी प्रकार की आँच आ जाए तो मनुष्य चिन्तित हो उठता है। शरीर को ऐश-आराम और आमोद-प्रमोद में रखने का वह इसलिए प्रयत्न करता है कि शरीर अधिक से अधिक टिका रहे।

परन्तु क्या कभी आपने सोचा है कि इस शरीर को इतनी शक्ति कहाँ से मिलती है, शरीर के अंगोपांग, जो हलचल करते हैं, उन्हें कहाँ से यह ताकत मिलती है? और ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि जो इतना काम करती हैं, उनमें काम करने का बल कहाँ से प्राप्त होता है? जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, वे सब यही कहेंगे—आत्मा की शक्ति से ये सब काम करते हैं। अगर आत्मा से इन्हें शक्ति प्राप्त न हो तो शरीर कुछ भी हलचल नहीं कर सकता, इन्द्रियाँ बिलकुल निश्चेष्ट हो जाएँ, मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण भी बिलकुल काम करना बन्द कर दें। शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और अंगोपांगों में जो कुछ भी शक्ति है, वह उनकी अपनी नहीं है, वह आत्मा की शक्ति है। अगर शरीर आदि में अपनी ही शक्ति होती तो मृत्यु हो जाने के बाद भी इनमें शक्ति होनी चाहिए। परन्तु आप सब जानते हैं कि मुर्दे-शरीर में किसी प्रकार की शक्ति नहीं होती, वह कुछ भी हलचल नहीं कर सकता। अगर मरने के बाद भी मनुष्य के शरीर में शक्ति होती तो उसे पारिवारिक लोग जलाते ही क्यों? उससे भी काम लेते न? अतः आत्मा ही चैतन्यशक्ति का पावरहाउस है, उसी के पावर से शरीर आदि सभी काम करते हैं।

दोनों महारोगों का मूलस्रोत-शरीरासक्ति

इतना होने पर भी मनुष्य अज्ञान और मोहवश शरीर के प्रति ही अधिक ध्यान देता है, उसे ही पुष्ट और विकसित करने में लगा रहता है, आत्मा को पुष्ट और विकसित करने का लक्ष्य ही भूल जाता है। यही कारण है कि वह अपने कुसंस्कारों और अज्ञान के कारण शरीर का अत्यधिक लाड़ लड़ाने में लगा रहता है। वह शरीर को उन चीजों से भी सम्बद्ध कर देता है, जो आदत, कुटेव या व्यसन के रूप में भी मनुष्य के साथ चिपक जाती है। वह है व्यसन, और दूसरी ऐसी चीज है, जिसे मनुष्य शरीर के प्रति अत्यधिक लाड़ प्यार के कारण उसमें लगा लेता है, वह है फैशन। व्यसन और फैशन ये दो ऐसे महारोग हैं, जिन्हें मनुष्य एक बार अपनाकर जिन्दगी भर छोड़ने का नाम नहीं लेता। रात-दिन शरीर के साथ अत्यधिक ममत्व के कारण यानी जड़ सम्पर्क के कारण मनुष्य की बुद्धि—विचारशक्ति भी जड़-सी बन जाती है। वह इन दोनों महारोगों में गुण-ही गुण [illegible]ता है, इनके दोष देखने की दृष्टि ही बन्द हो जाती है। [illegible] ज्ञानशक्ति प[illegible] [illegible]रण आ जाता है, जिसमें [illegible]ह इन दोनों महारोगों को, [illegible] दोष होते [illegible] [illegible]में चिपकाए रखता है। शरीर के [illegible] [illegible] हो उसे [illegible] [illegible]न करने नहीं देती, उसे [illegible] देती। [illegible] [illegible] एक बार लगाव हो

[illegible]

व्यसन और [illegible]

[illegible]

व्यसनों से बरबादी

व्यसन का अर्थ है बद बुरी आदत या टेव, [illegible]

जैसे अनाज में घुन लग जाता है तो वह उस अनाज को [illegible] करके खोखला बना देता है, वैसे ही व्यसन मनुष्य के शरीर को घुणकर [illegible] और खोखला बना देता है। शरीर के साथ साथ मन पर भी व्यसनों का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। मनुष्य का मन भी व्यसनों के सेवन से अपराधी बन जाता है। उसमें अनेक दुर्गुण घुस जाते हैं। मन की सोचने विचारने की शक्ति मन्द पड़ जाती है। व्यसनों से असमय में ही बुढ़ापा घेर लेता है। उसका शरीर जर्जर हो जाता है। आँख, कान, दांत आदि शक्तिहीन हो जाते हैं। टांगों में अधिक चलने की ताकत नहीं रहती, लड़खड़ाता हुआ चलता है। व्यसनी मनुष्य के वचनों में भी प्रभावशीलता और शक्ति नहीं रहती। उसके शरीर की कान्ति फीकी पड़ जाती है, तेजस्विता समाप्त हो जाती है। कई बार व्यसन वंश-परम्परागत चलता है जो सारे ही वंश को बर्बाद एवं निःसत्त्व कर देता है। व्यसनी मनुष्य आए दिन डाक्टरों-वैद्यों के दरवाजे खटखटाते रहते हैं। बीमारी उनका पिंड ही नहीं छोड़ती। वही बीमारी फिर वे अपनी सन्तान को दे जाते हैं। व्यसनग्रस्त मनुष्य अपनी प्रत्यक्ष होती हुई हानि को भी देख नहीं पाता। वह व्यसन का इतना गुलाम बन जाता है कि कभी घड़ी भर बैठकर परमात्मस्मरण, आत्मचिन्तन या विश्व-कल्याण का चिन्तन नहीं कर सकता, क्योंकि उसके तन-मन-नयन में हर समय व्यसन की ही धुन रहती है। इसलिए व्यसन घोर अनर्थकर और हानिकर है। व्यसनी लोग अपने व्यसन को अच्छा बताने के लिए उसके साथ किसी न किसी महापुरुष का नाम जोड़ देते ताकि वे बदनाम न हों और उस व्यसन का पोषण करते रहें। परन्तु आरोग्य

धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक सभी दृष्टियों से व्यसन जीवन के लिए हानिकर है। व्यसन धन, धर्मकर्म और सब धातों को चौपट कर डालते हैं। इसलिए इनसे बचकर चलना चाहिए।

बहुत-से व्यसन कुसंग से लग जाते हैं, फिर उन्हें छोड़ना बहुत कठिन होता है। उदाहरणार्थ, एक लड़का स्कूल में पढ़ता है। वहाँ उसका एक सहपाठी उसे घुमाने के लिए बगीचे में ले गया। सहपाठी मित्र ने उस लड़के को एक बीड़ी पीने को दी। उसने पहले तो आनाकानी की—"मैं बीड़ी नहीं पीता।" सहपाठी ने कहा—"अरे यार! पी लो न। देख, कितना मजा आता है। मैं तुमसे पैसे थोड़े ही माँग रहा हूँ।" पहले दिन उसने शर्मा-शर्मी बीड़ी पी ली। घी पकवाया तो भी मित्र के लिहाज से आकर वह कुछ बोला नहीं। दूसरे दिन फिर उसी मित्र ने दो बीड़ियाँ दी, तीसरे दिन चार, इस प्रकार धीरे-धीरे बीड़ी पीने की आदत हो गयी। अब उस आदत के कारण उस लड़के को प्रति दिन ५-७ और कभी-कभी १५-२० बीड़ी पीना लाजमी हो गया। अब सहपाठी मित्र उसे मुफ्त में बीड़ी नहीं देता। इसलिए वह लड़का घर से पैसे चुरा-चुराकर बीड़ी का बण्डल लाता है। यों बीड़ी की आदत के साथ-साथ चोरी करने की और घर वालों के पूछने पर झूठ बोलने की आदत पड़ गई। इस तरह एक व्यसन के साथ-साथ तीन व्यसन लग गए। किसी दिन घर से पैसा नहीं रहता तो वह लोगों की जेबें काट कर उन पैसों से बीड़ी पी लेता। अब तो वह इतना अधिक बीड़ीबाज हो गया कि दो-दो मिनट के अनन्तर एक बीड़ी पीने लगा। उसके फेफड़े खराब हो गए। डॉक्टर को दिखाया गया। डॉक्टर ने उसके शरीर की जाँच करके एक्सरे लेने का कहा। एक्सरे की रिपोर्ट में टी. बी. बताया गया। अब टी बी का इलाज शुरू हुआ। हजारों रुपये दवा और डॉक्टरों पर खर्च हो गए। परन्तु वह बीड़ी पीना तो छोड़ता ही नहीं था। डॉक्टर ने उसे साफ-साफ कह दिया—"जब तक बीड़ी पीना न छोड़ोगे, तब तक तुम्हारा रोग ठीक नहीं होगा।" एक-दो दिन तो बीड़ी कम कर देता, फिर उसने पहले की तरह बीड़ी पीना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि एक महीने के अन्दर ही मौत का मेहमान बन गया। उसकी शव-यात्रा में जाने वाले कहने लगे—कितना अच्छा नौजवान था। अभी तो इसकी उम्र भी कुछ अधिक नहीं थी, सिर्फ २५ साल का था। हाय, बीड़ी के व्यसन ने इसका पिण्ड नहीं छोड़ा। बेचारा, चल बसा।"

इसी प्रकार सिनेमा का दुर्व्यसन भी आजकल बहुत-से युवकों को चेपी रोग की तरह लग जाता है। एक लड़का अपने पिता के [illegible] आया। उसके पिता ने कहा—"महाराज! यह [illegible] है। [illegible] गा।" मैंने कहा—"आप सिनेमा देखने के लिए पैसे [illegible] है?" [illegible] "क्या करें, महाराज! नहीं दें तो लड़ने को तैयार [illegible]। मेरी [illegible] चुरा कर ले जाता है।"
प्रतिदिन सिनेमा [illegible] लड़के [illegible] भी। [illegible]
हुई थीं। साल [illegible] पर [illegible]

था। मैंने उसके पिता को एकान्त में ले जाकर पूछा—"इसका शरीर अभी से इ
कमजोर क्यों हो गया ? क्या यह खाना-पीना नहीं है ?" उसके पिता ने कहा
"सिनेमा देखने के कारण इसे प्रतिदिन स्वप्न दोष हो जाता है। और इसे इसने
की बुरी लत पड़ गई है। खाना-पीना तो यह खूब है। सिनेमा देखने के साथ ही
पान, सिगरेट, लेमन, आदि पीता है, चाट-पकौड़ी भी खूब खाता है। परन्तु न
हुआ अंग नहीं लगता। सिनेमा देखने के इस दुर्व्यसन ने इसका जीवन बेकार
दिया। अब न तो यह पढ़ता-लिखता है और न ही कोई काम करता है। व्यवसाय
काम में इसका जी नहीं लगता। दिनभर आवारा लड़कों के साथ इधर-उधर घू
और मटरगश्ती करना, यही इसकी दिनचर्या है।"

मैंने उस लड़के को बहुत समझाया, रोज व्याख्यान सुनने के लिए कहा, प
वह न तो अपनी आदतें छोड़ता और न ही व्याख्यान सुनने आता। सिनेमा के दु
सन ने उसके जीवन को बर्बाद कर दिया। उसके शरीर को खोखला कर दिया
जिंदगी ही उसकी बेकार हो गई।

वेश्यागमन भी कई व्यसनों का संगी-साथी

बहुत-से लड़के कुसंग में पड़कर वेश्यागमन का इश्क लगा लेते हैं। यह मय
इश्क जब लग जाता है तो धन, धर्म, स्वास्थ्य और यश चारों को चौपट कर देता
वेश्या संसर्ग अग्नि की ज्वाला की तरह उसके जीवन को भस्म कर देता है। वे
गामी की समाज में कोई इज्जत नहीं होती, कोई उस पर विश्वास नहीं कर
वेश्यागमन के साथ-साथ उसके जीवन में भांग, अफीम या शराब पीने की आदत
जाती है। शराब पीने वाले की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। भांग या अफीम का
भी जब चढ़ जाता है तो मनुष्य कोई भी हित की बात नहीं सोच सकता।

ये नशा पैदा करने वाले व्यसन कितने खतरनाक !

शराब, भांग, अफीम, चरस, गांजा आदि जितनी भी नशीली चीजें हैं वे
तो बिगाड़ ही देती हैं। साथ ही अन्य दुर्व्यसनों को भी अपने साथ ले आते हैं
दुर्व्यसन उसके स्वास्थ्य पर इतना जबर्दस्त हमला करते हैं कि वह उन बीमारियों
इलाज कराते-कराते तंग आ जाता है। पैसा पानी की तरह बहाकर वह अपने
हुए स्वास्थ्य को पुनः नहीं प्राप्त कर पाता। नशीली चीजों का व्यसन जिस मनुष्य
लग जाता है, उसका परिवार दरिद्र हो जाता है। वह स्वयं अधिक कार्य करने य
नहीं रहता। उसकी सन्तानें प्रायः अशिक्षित, असंस्कारी और अपराधी बन जाती
कई बार तो शराबी की पत्नी भी आर्थिक तंगी से दुःखी होकर व्यभिचार का
अपना लेती है। अपना शरीर बेचकर उस पैसे से अपना और परिवार का गु
चलाती है।

नशीली चीजों का सेवन मनुष्य को गैर जिम्मेवार, आलसी, प्रमादी, धर्म
के प्रति अश्रद्धालु एवं असंयमी बना देता है।

र जरा भी नहीं लगना चाहिए। ऐसे व्यसनियों के गोष्ठी में भी नहीं बैठना
न्हिए, न मिलना चाहिए।

४. दो-चार दिन कुछ अटपटा-सा लगेगा उस समय मजबूत बना रहे यह
ना चाहिए। फिर तो स्वत सहज जीवन हो जाएगा।

५. अपने व्यसन को प्रोत्साहन देने वाला साहित्य न पढ़ना चाहिए न ही
वैसा दृश्य (चलचित्र आदि) देखना चाहिए।

६. पिछली गलतियों के प्रति पश्चात्ताप पूर्वक प्रायश्चित्त कीजिए। भविष्य
में ऐसी गलती न होने दीजिए। मन को जाग्रत रखिए।

व्यसनों पर काबू पा लिया तो आपका मन मजबूत होता जाएगा और एक
दिन आप मुक्ति की सीधी डगर पर होंगे।

दूसरा महारोग फैशन

संसार में व्यसन के बाद दूसरा महारोग है—फैशन। फैशन नदी की बाढ़ की
तरह संयम एव मर्यादा के तटों को तोड़ता हुआ तर्जी-सा बढ़ता चला आ रहा है। इस
फैशन के रोग के कारण हजारों परिवार तबाह हो गए हैं और हो रहे हैं। आज
खानदानी घर की बहू-बेटियाँ भी सिनेमा की तारिकाओं या वेश्याओं से फैशन में बाजी
मारने लगी हैं। पंजाब की कुलीन महिलाएँ फैशनपरस्ती में सबसे आगे हैं। खान में
फैशन, पीने में फैशन, वस्त्र पहनने में फैशन, शरीर को सजाने में फैशन, बोलचाल में
फैशन, रहन-सहन में फैशन, यहाँ तक कि हर काम में फैशन जीवन का अंग बन गई
है। क्या मर्द और क्या औरत सभी के पीछे फैशन का भूत लग गया है। खान-पीन
में फैशन यह घुस गया है, जहाँ पहले मनुष्य सादी रोटी घी, दूध, साग, दाल,
फल आदि से पेट भी भर लेता था, वह हजम भी हो जाता था, भूख भी लग
जाती थी। अब फैशन यह है कि पूरी, पराँठा, तली हुई वस्तुएँ, चटनी, आचार सेव,
दालमोठ, मिठाइयाँ आदि गरिष्ठ, दुष्पाच्य एव स्वास्थ्य के लिए हानिकर वस्तुएँ
मनुष्य अधिक पसन्द करता है। पहले तो वह चाय का नाम भी नहीं जानता था।
और बेड टी, फिर नाश्ते में चाय, फिर दोपहर को चाय, शाम को चाय और सोते वक्त
...य, यों चाय का फैशन हो गया है। दूध के तो वह मुँह भी नहीं लगाता। और
...ने के बाद पान के साथ कोकीन, सुरती, जर्दा, सिगरेट, बीड़ी और न जाने क्या-
क्या दिनभर चबाता रहता है। शराब भी, भाँग अथवा गांजा भी टानिक के रूप में
...सी लेता है। पहले के लोग सादे शास्त्रीय धार्मिक गीतों से अपना मनोरंजन करते
थे, अब रेडियो या ट्रांजिस्टर का बटन घुमाकर कोकिलकण्ठियों के मधुर शृंगार रस
के सिनेमा गीत सुनने का फैशन हो गया है। ट्रांजिस्टर तो आज हर व्यक्ति, यहाँ तक
कि खोंचे वाले के पास भी होगा, चाहे वह उन खबरों में कुछ भी न समझता हो, फिर
भी घड़ी और ट्रांजिस्टर ये वर्तमान युग के सभ्य मनुष्यों की निशानी समझकर रखता
है। स्वाभाविक सौन्दर्य को छोड़कर वर्तमान युग के फैशन परस्त लोग क्रीम, स्नो

पाउडर, लिपस्टिक आदि लगाते हैं। बहनें महावीर जो का-सा चोटा बाँधती हैं। जिसमे पहले तो टमाटर रखा जाता था, अब प्लास्टिक या रबर का बॉल रखा जाता है।

पहले के लोग सादे-सीधे सूती कपड़े पहनते थे, उन्हें तड़क-भड़क पसन्द नहीं थी। परन्तु आज तो सूती कपड़े फैशनपरस्तों को कम पसन्द आते है। अब तो रेशम को भी मात करने वाले नाइलोन, रेयोन, टेरिलीन, टेरीकोट आदि के कपड़े ही अधिकतर पहने जाते हैं। जिनमे छिद्र बहुत कम होते हैं, रोमकूपों को हवा मुश्किल से मिल पाती है। नाइलोन की साड़ियाँ पहनकर रसोईघर में चूल्हे के पास बैठने वाली बहुत-सी बहनें बुरी तरह आग से झुलस गयी हैं। आए दिन समाचार-पत्रों में ऐसी खबरें आती है। क्योंकि ये कपड़े आग को बहुत जल्दी पकड़ते हैं। और आग लगने पर ये शरीर से चिपक जाते हैं। और मर्दों की भी पूछिए मत। धोती की जगह पैंट ने ले ली है। पगड़ी, टोपी की जगह साफ मैदान है। बोलचाल में भी अब शिक्षित लोग अंग्रेजी भाषा का प्रयोग फैशन के तौर पर करते हैं। धनिकों के बालकों को आप किसी शहर मे जाकर देखिए, माता-पिता को वे मम्मी, डेडी या पापा कहेंगे। चाचा-चाची को अंकल-आण्टी कहेंगे। रहन-सहन मे भी फैशन घुस गयी है। आजकल का रहन-सहन बिलकुल कृत्रिम हो गया है। पहले के लोग ४-५ कोस जाना होता तो पैदल चले जाते थे, अब तो एक माइल भी जाना हो तो बस की इन्तजार मे घण्टों खड़े रहेंगे या मोटर, ताँगा या रिक्शा की सवारी के बिना कदम भी रखना अखरेगा। मेहमानों का मनोरंजन आज सिनेमा दिखाकर किया जाता है। आज छुट्टी के दिन सिनेमा देखने का तो आम रिवाज हो गया है। अब आइए, शादी-विवाहों के फैशन पर। आज तो शादी-विवाहो में बहुत ही दिखावा बढ़ गया है। रोशनी की जगमग, बाजों की गड़गड़ाहट और फिल्मी गानों की भरमार से शादियों मे बड़ी चहल-पहल होती है। अब तो मर्द और औरतें प्रायः शराब पीकर भगड़ा नृत्य करते हैं, जो नृत्यांगनाओं को भी मात कर देता है। दहेज दिखावे का फैशन तो इतना बढ़ गया है कि हर कौम इसमें बाजी मार ले गई है। भला जिस भारतवर्ष में लोग गरीबी से पीड़ित हों, भूख से त्रस्त हो, कपड़े भी तन ढकने को न हो, सिर छिपाने को झोंपड़ी भी मयस्सर न हो, वहाँ के लोग फैशनपरस्त बनकर बड़े-बड़े आलीशान वातानुकूलित बंगलों में रहें, मिठाइयाँ और शराब उड़ाएँ, दिखावे मे या रीति-रिवाजों के नाम पर फिजूलखर्च करें क्या यह शोभा देता है?

परन्तु फैशन भी जीवन का एक महारोग बन गया है। जहाँ मनुष्य आत्मा की ओर झाँकना छोड़ देता है, वहाँ वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित भौतिकता की ओर ही झाँकता है। विदेशों से नई-नई फैशन का आयात करता है फिर भले ही इन फैशनों को पालने मे शुद्ध धर्म चूर-चूर हो जाता हो, शरीर रोग का घर बन जाता हो, क्षणिक वैषयिक सुखों की चकाचौंध मे भले ही वह शाश्वत सुख को बिलकुल भूल

चाता हो, वह अपनी प्रतिष्ठा की, अहंकार की भूख मिटाता है, फैशन के नये-नये रूपों को अपनाकर।

दोनों महारोगों से अविलम्ब छुटकारा पाएँ

व्यसन मनुष्य को काले नाग की तरह डस जाते हैं और फैशन उसके जीवन की स्वाभाविकता को राक्षस की तरह चूस जाते हैं। इस तरह व्यसन और फैशन दोनों मानव को निःसत्व बना रहे हैं। अगर मानव को अविचल, मजबूत, आत्मपरस्त, शाश्वतसुख-परायण, स्वभावरत बनना हो तो इन दोनों महारोगों से अविलम्ब छुटकारा पाना चाहिए। इन दोनों महारोगों से छुटकारा पाते ही मनुष्य मोक्ष पथ पर चलने का अधिकारी बन जाएगा। वह फिर मोक्षपथ पर सरपट दौड़ लगा सकेगा, अन्यथा, इन रोगों को साथ में रखेगा तो पद-पद पर उसके मार्ग में ये अवरोध पैदा करेंगे। अतः व्यसन और फैशन इन दोनों को दूर से ही नमस्कार करके अलविदा कर दीजिए! इसी में ही मानवजाति का कल्याण निहित है।

१०
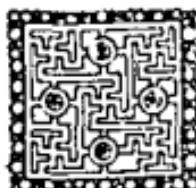
मद्य : जीवन का शत्रु

मद्यपान : जीवन के दोनों अंगों का नाशक

मानवजीवन के बाह्य और आभ्यन्तर दो अंग हैं। आभ्यन्तर अंगों में तो आत्मा और उसके निजी गुण ही मुख्य हैं। बाह्य अंगों में शरीर, मन, बुद्धि-इन्द्रियाँ तथा शरीर के विभिन्न अंगोपांग आदि हैं। मैं पूछता हूँ जो वस्तु मानव के इन बाह्य और आभ्यन्तर दोनों अंगों की चेतना को आवृत्त कर दे, मानव-जीवन की सभी शक्तियों को दुर्बल कर दे, उसके जीवन को अपने प्रभाव से क्षत-विक्षत कर दे, उसकी बुद्धि को लुप्त कर दे, क्या उसको कट्टर शत्रु नहीं माना जाएगा ? अवश्य, माना जाएगा। इस दृष्टि से मद्यपान मानव-जीवन का कट्टर शत्रु है, क्योंकि वह जीवन के बाह्य और आभ्यन्तर दोनों अंगों को समाप्त प्राय. कर देता है।

मद्यपान : खतरनाक शत्रु

साधारण शत्रु तो मनुष्य पर इसी जन्म में प्रहार करता है, उसे हानि पहुँचाता या मार डालता है, परन्तु मद्य ऐसा शत्रु है, जो सेवन करने वाले को तिल-तिल करके यहाँ भी मारता है, उसके बाह्य एवं अन्तरंग अंगों का नाश कर देता है, और परलोक भी उसका सर्वनाश करता है, उसे बहुत हानि पहुँचाता है।

बाह्य अंगों का नाशक : मद्य

अब हमें यह देखना है कि मद्यपान किस प्रकार मनुष्य के बाह्य अंगों को तिल-तिल करके खत्म कर देता है।

मद्य पीते ही वह मनुष्य की बुद्धि को लुप्त कर देता है। इसलिए मद्य पीने वाला मद्य का नशा चढ़ते ही अटसट बकने लगता है। जो बात उसके दिमाग पर चढ़ जाती है, उसे ही वह दोहराता रहता है। पागल की तरह रोता है, चिल्लाता है, कभी किसी को गालियाँ बकता है, कभी किसी पर डण्डे, लाठी या लोहे के छड़ आदि से प्रहार कर बैठता है। उस समय वह अपने आपे में नहीं रहता। इसीलिए मद्य का अर्थ प्राचीन नीतिकारों ने किया है—

> बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।

—जो द्रव्य बुद्धि को नष्ट कर देता है, वही मद्य या मादक कहलाता है। यद्यपि अफीम, भांग, गाँजा, चरस आदि सभी द्रव्यों का मादक होने के कारण मद्य में

शरीर में स्फूर्ति और शक्ति आ रही है, लेकिन कुछ समय बाद ही इसी श्वास-प्रश्वास क्रिया की गति धीमी हो जाती है। शराब की थोड़ी मात्रा लेने पर भी श्वास-प्रश्वास क्रिया की मात्रा आप ही घण्टे में बहुत धीमी हो जाती है।

शराब शरीर में पहले ही फेफड़ों में असर होता है। फिर क्षय (टी० बी०) न्यूमोनी, दमा आदि रोग उभर पाते हैं।

शराब का पहला शिकार शरीर में संचार करने वाला रक्त होता है। भूखे पेट पीते ही शराब ५ मिनट में रक्तचाप बढ़ा देती है, और भोजन करने के बाद पीने पर उसकी प्रतिक्रिया देर होती है, भोजन के बाद शरीर में अन्य गैसों के सब बने हुए कार्बोनिक एसिड गैस को शराब पीने से कमजोर बना हुआ रक्त बाहर निकाल नहीं पाता। वह गैस भीतर ही भीतर सड़ कर शरीर को दूषित करती है। शरीर अतिमूत्र हो जाता है, रक्त अपना कार्य ठीक से नहीं कर पाता। शराब पीने से शिराओं में रक्त बहना रुक नहीं पाता, फलतः उस स्थान से रक्त भारी मात्रा में बाहर निकलता है और रक्ताल्पता के कारण शराबी की मृत्यु हो जाती है।

एक युवक अत्यधिक शराब पीता था, फलतः उसकी आँतें खराब हो गईं उसकी आँतों से रक्त निकलना बन्द ही नहीं हो रहा था फलतः डॉक्टर ने उसके रक्त की जाँच की तो मालूम हुआ कि लाल कणों में तो गड़बड़ी नहीं है, किन्तु श्वेत कण (रक्ताणुओं) की रक्षात्मक शक्ति समाप्त-सी हो गई है। उसमें रक्त में चूने का तत्त्व आवश्यकता से अधिक बढ़ गया था, जिससे रक्त संस्थान का कार्य बहुत शिथिल हो गया था। वह अव्यवस्थित हो गया था, जिससे आँतों से खून निकलने लगता है डॉक्टर इलाज करें, इससे पहले ही उसकी मृत्यु हो गई।

शराब लगातार पीते रहने से शरीर की मांसपेशियाँ ढीली और कमजोर हो जाती है जिससे ऐसा व्यक्ति अधिक समय तक शारीरिक श्रम नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति शराब का नशा उतरते ही सुस्त हो जाता है, और शरीर में पुनः स्फूर्ति और शक्ति लाने के भ्रम से फिर शराब पीता है। ऐसा शराब पीकर अपनी किसी ड्यूटी पर ठीक से काम नहीं कर सकता। कितनी बड़ी हानि है शराब से ?

मैंने पहले बताया था कि शराब मस्तिष्क और रक्त पर शीघ्र प्रभाव डालती है, तब भला यह कैसे माना जाए कि वह मस्तिष्क के कोमल कोषों को स्वस्थ रहने देगी ? यही कारण है कि शराब कुछ ही समय में ऐसे कोमल व पेचीदा मस्तिष्क के कोषों पर चोट करने लगती है। जिसके कारण मस्तिष्क के कोषों पर बाहरी प्रभाव का न तो कोई संवेदन ही होता है, न ज्ञानेन्द्रियों या ज्ञानतन्तु मार्गों द्वारा बाहर से मस्तिष्क को सूचना मिलती है, न मस्तिष्क से बाहर शरीर के विभिन्न अंगों को आदेश पहुँचाया जा सकता है। क्योंकि शराब पीने के बाद ऐसे मस्तिष्क वाला न तो देख-सुन सकता है, न सूँघ सकता है, न स्वाद चख सकता है, न स्पर्श का अनु

कर पाता है। मस्तिष्क नियन्त्रण में नहीं रहता। जिससे लकवा तक हो जाता है। भला बताइए, शराब कितना अनिष्ट करती है।

शराब की बुरी आदत के कारण व्यक्ति की स्मृतियाँ तो लुप्त हो जाती है, या वह एक-दो वस्तु की ही स्मृति रख पाता है। कईबार स्मृति की भ्रान्ति हो जाती है। सचमुच शराब से स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश हो जाता है, बुद्धिनाश से व्यक्ति का सर्वनाश हो जाता है।

कुछ लोग कहते है कि थोड़ी-सी मात्रा में ली हुई शराब से मस्तिष्क पर कोई असर नहीं पड़ता। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। थोड़ी मात्रा में ली हुई शराब भी मस्तिष्क पर घातक आक्रमण कर देती है। शराब मस्तिष्क की रक्तशिराओ को फैला कर मोटी कर देती है, बल्कि उनकी दीवारों को छिद्रित भी कर देती है। जब कोई व्यक्ति पक्का पियक्कड़ हो जाता है, तब पी हुई शराब कुछ ही मिनिटों में रक्तमार्ग से होकर मस्तिष्क में ब्लडब्रेन बेरियर को तितर-बितर कर मस्तिष्क के कोषों तक पहुँच जाती है। जिससे उनकी ब्लडब्रेन बेरियर टूटने लगती है, और शराब के साथ आए हुए विषैले जीवाणु तथा नाड़ी सम्बन्धी विषाक्त तत्व उस सीमा को तोड़कर मस्तिष्क पर कुप्रभाव डालते हैं। फलस्वरूप सिरदर्द, चिड़चिड़ापन, तनाव, चक्कर आना आदि बीमारियों का सिलसिला शुरू हो जाता है।

एक व्यक्ति को शराब का इतना भयंकर चस्का पड़ गया कि वह सारा वेतन शराब पीने में स्वाहा कर देता था। कुछ वर्षों बाद नौकरी के अलावा कुछ नाजायज काम करके पैसा ऐंठता और शराब पीता। अब तो शराब का इतना आदी हो गया कि जो व्यक्ति उससे शराब बन्द करने का कहता उसे यही कहता—"मेरी जिन्दगी तो शराब पर ही टिकी हुई है।" अब उसे चक्कर आने लगते या अस्थिरता महसूस होती तो शराब पीता। धीरे-धीरे उसे शराब के नशे में रात को नींद नहीं आती, घबराहट बनी रहती, दम घुटने लगता। कुछ समय बाद उसके अंगों में चेतना-शून्यता आने लगी। शरीर अस्थिर होने लगा। लगातार शराब पीने से उसकी शरीरशक्ति क्षीण हो गई और शरीर के अधोभाग का लकवा हो गया। अतः उसमें अपने स्थान से उठने-बैठने की शक्ति न रही। बिछौने में ही टट्टी-पेशाब कर देता। गन्दगी में पड़े रहने के कारण उसके शरीर से दुर्गन्ध आने लगी। और एक दिन उसने मद्य के लिए आँखें मूंद ली।

बताइए, मद्य शत्रु है या मित्र? जो इसे मित्र मानते हैं, वे इसी तरह सड़-सड़ कर बुरी तरह मरते हैं।

अत्यधिक मात्रा में शराब पीने पर चक्कर आने लगते है, शरीर में अत्यन्त थकान आ जाती है। आलस्य तो पूरी तरह घेर ही लेता है। जबान और गले को भी घर दबोचता है। शराब उस व्यक्ति के श्वेत मस्तिष्क शिराओं में रक्त प्रवाह में दखल देता है। फिर उस व्यक्ति को नाड़ी सम्बन्धी लकवा हो जाता है। ऐसा

व्यक्ति यातना के कारण रात भर चिल्लाता है, चौंकता है और दुःख पाकर रि
रिबकर मरता है।

शराब से सम्पूर्ण लीवर में अव्यवस्थित फुलाव व सिकुड़नें आ जाती है
उसमें हजारों गाँठें पड़ी हुई दिखाई देती हैं। साथ ही लीवर के बाहर-भीतर मक
के दाने या बिनौले-सी छोटी-छोटी फुंसियाँ हो जाती हैं। लीवर कठोर हो जाता
जिससे रक्तसंचालन में बाधा आती है। अतः लीवर का सत्यानाश करने का
शराब को मुँह लगाना आत्महत्या करने जैसा कुकृत्य है।

शराब पीने से वह रक्त में मिलकर गुर्दों तक पहुँच जाती है। गुर्दे रक्त
परिमाण पर नियन्त्रण रखते हैं, विभिन्न कोषों में नष्ट हुए पदार्थों और रासायनि
प्रक्रियाओं से पैदा हुए पदार्थों से बने यूरिया तथा यूरिक एसिड आदि सबसे पेश
बनाकर बाहर निकालते हैं। लेकिन शराब के कारण वे गुर्दे खराब हो जाते
जिसके कारण मूत्रसंस्थान बिगड़ जाता है। पेशाब से भरे ब्लेडर में हानि होने लगती
है। कभी-कभी तो ब्लेडर फट भी जाता है, इससे पेशाब पेट में पहुँच जाता है, उ
झिल्ली में सूजन आने लगती है। क्या क्रियाशील गुर्दों को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली
शराब पीने योग्य है? कदापि नहीं।

शराब के कारण आँखों के ज्ञानतन्तु अपने आप विशृंखलित होने लगते हैं
और तब आँख पर पड़ने वाले बाहरी वस्तुओं के प्रतिबिम्ब मस्तिष्क के तत्सम्बन्धी
केन्द्र तक ठीक से पहुँच नहीं पाते, पहुँच भी जाते हैं, तो भी वह शराब के प्रभाव से
गड़बड़ाया हुआ होने से उन प्रतिबिम्बों का उचित निर्धारण नहीं कर पाता। प्रारम्भ
में आँखों में कुछ लालिमा दिखाई पड़ती है, लेकिन अन्त में आँखें देखने की शक्ति
से रहित हो जाती हैं। कभी-कभी एक ही वस्तु दो या अनेक रूपों में दिखाई
पड़ती है। अतः शराब के नशे में अन्धा व्यक्ति एक दिन सच्चा अन्धत्व भी प्राप्त
कर लेता है।

शराब के प्रभाव से जब मस्तिष्क गड़बड़ा जाता है, तब कान की सुनने की
शक्ति भी बहुत मारी जाती है, श्रवणसंवेदन भी कम हो जाता है। चूँकि शराब कान
की झिल्लियाँ, द्रव पदार्थों और ज्ञानतन्तुओं सभी को बुरी तरह प्रभावित कर देती है
तब बाहरी आवाज कान को कैसे सुनाई देगी?

जिस प्रकार जुकाम से नासिका बंद हो जाती है, तब हवा घ्राणकेन्द्र की
झिल्ली तक नहीं पहुँच पाती, इसी प्रकार शराब पीने के कारण इस घ्राणकेन्द्र के
ज्ञानतन्तु बिगड़ जाते हैं। तब ऐसी नासिका सुगन्ध-दुर्गन्ध का संवेदन नहीं कर
सकती।

शराब पीने वालों की जबान के स्वादकोष भी बिगड़ जाते हैं। शराब की
बूंदें स्वादकोषों को जड़ से भूनती हैं, तब से ही उनकी संवेदनशीलता नष्ट हो

लगती है। मतलब यह है कि शराब के कारण जीभ संवेदनहीन होकर स्वाद का अनुभव नहीं कर पाती।

शराब जब फेफड़ों को प्रभावित करती है, तब वह स्वरयंत्र को अछूता कैसे छोड़ सकती है? स्वरयंत्र के फैलने सिकुड़ने की क्रिया में बाधक बनकर शराब आवाज को खराब कर देती है, गले से मर्रायी हुई आवाज निकलती है। धीरे-धीरे शराब के आदी व्यक्ति अपनी स्वाभाविक आवाज को खो बैठते है। मतलब यह है कि कण्ठ और जबान पर भी शराब अपना कब्जा जमा लेती है।

शरीर के इन अंग-प्रत्यंगों को बेहद हानि पहुंचा कर शराब प्राणो के प्रवाह मे भयंकर गतिरोध उत्पन्न कर देती है। शराब से प्राणशक्ति के कार्य मे बहुत रुकावटें आती हैं। उसी के फलस्वरूप निराशा, थकान, कमजोरी, अनुत्साह आदि शराबी के जीवन मे प्रवेश कर जाते हैं। शराबी का रहन-सहन भी इसमे अनियमित हो जाता है।

शराबी को अपने जीवनकाल मे मधुमेह, क्षय, दमा आदि अनेक दुःसाध्य रोग लग जाते हैं, उसका शरीर रोगो के कारण जर्जर हो जाता है। इतना ही नहीं, प्राय शराबी अपनी सन्तान को भी ये ही रोग विरासत मे दे जाता है। शराबी की सन्तान प्रायः निर्वीर्य, दुर्बल, विक्षिप्त, विकलांग, मदबुद्धि, पागल, अल्पायु और अपराधी होती है। कभी-कभी तो दो पीढ़ी तक मे शराबी के ये अपराध उतर आते हैं।

क्या अब भी कोई सन्देह रह जाता है कि शराब जीवन के तमाम बाह्य अंगों को हानि पहुँचाने के कारण मानव-जीवन की पक्की दुश्मन है।

शराब : जीवन के आभ्यन्तर अगों के लिए भी घातक

शराब जैसे जीवन के बाह्य अंगो के लिए घातक है, वैसे आभ्यन्तर अंगो के लिए भी अत्यन्त घातक है। शराब से बुद्धि पर जब पर्दा पड़ जाता है, तब आत्मा या आत्मा के निजी गुणों-ज्ञानदर्शन-चारित्र का विकास तो हो ही कैसे सकता है! बल्कि आत्मगुणो के विपरीत हिंसा, असत्य, मासाहार, व्यभिचार, जुआ, चोरी आदि अनेक दुर्गुणों मे ऐसा मनुष्य फँस जाता है। धर्मध्यान मे उसकी रुचि ही नहीं होती। भोग-विलासो के विचारों में ही वह अहर्निश मग्न रहता है। आत्मा को वह पापकर्मों के बोझ से भारी बना देता है। इसी कारण नरक या तिर्यंच गति (दुर्गति) के सिवाय परलोक मे उसे कोई स्थान नहीं मिलता। वहाँ भी वह सद्बोध न पा सकने के कारण पुनः-पुनः नाना योनियो और गतियो मे भटकता है। इस दृष्टि से शराब मानवजीवन के अन्तरग-अगो के लिए कितनी हानिकारक है? इसका अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसीलिए योगशास्त्र मे कहा है—

> "विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा।
> मद्यात्प्रलीयते सर्वं, तृण्यां वह्निकणादिव ॥"

आग की चिनगारी से घास के ढेर के समान मदिरापान से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया, क्षमा आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

मद्यपान के अनेक दोष

इसी प्रकार मद्यपान जीवन के लिए आवश्यक नहीं है। जो लोग कहते हैं कि मद्यपान से शरीर में गर्मी आ जाती है, वे भी भ्रम में हैं। क्षणिक गर्मी के भरोसे रह कर मद्यपान करने वाला व्यक्ति शीघ्र ही सर्दी का शिकार होता देखा गया है। शक्ति प्राप्त होने की बात भी भ्रान्त है, मद्यपान से क्षणिक आवेश आ जाता है किन्तु वह शक्ति नहीं होती। बल्कि मद्यपान से शक्ति का ह्रास होता है। मद्यपान के १६ कष्टदायक दोष आचार्य हरिभद्रीय अष्टक की टीका में बताए हैं, जो आत्म को पतित कर देते हैं—(१) मद्यपान से शरीर कुरूप और बेडौल हो जाता है (२) व्याधियाँ शरीर में घर कर लेती हैं, (३) घर के लोग तिरस्कार करते हैं, (४ कार्य समय पर नहीं कर सकता, (५) द्वेष उत्पन्न होता है, (६) ज्ञान नष्ट हो जा है, (७-८) स्मृति और बुद्धि का नाश हो जाता है (९) सज्जनों से सम्बन्ध टूट जा है, (१०) वाणी में कठोरता आ जाती है, (११) नीचों की सेवा करनी पड़ती है (१२) कुल की शक्ति और प्रतिष्ठा खत्म हो जाती है, (१४-१५-१६) धर्म, काम अ अर्थ की हानि होती है।

सभी धर्मों में निन्दित

मद्यपान की सभी धर्मों ने निन्दा की है। जैन, बौद्ध वैदिक, इस्लाम अ ईसाई आदि सभी धर्मों ने मद्यपान को त्याज्य और निन्द्य बताया है। परन्तु अ एक-दो धर्मों को छोड़कर प्रायः सभी धर्मों के लोग इस बुराई को अपनाते जा रहे शादियों में कुलीन लोग भी बेशर्म होकर मद्य पीने लगे हैं। वास्तव में मद्यपान स पाप कर्मों का जनक है।[1]

अतः जितनी जल्दी हम इस महाशत्रु को, शहरों के राक्षस को परिवार, सम और राष्ट्र से विदा करेंगे, उतना ही जल्दी इनका कल्याण होगा।

मद्यपान का समर्थन : भ्रम

कई लोग इस दुर्व्यसन का समर्थन करने और अपनी नीच आदत का पो करने के लिए कहा करते हैं—मद्य पीए बिना योग-साधना यथार्थ रूप से नहीं सकती। बल्कि योगदर्शन में योग-साधना के लिए मद्य, मांस, मैथुन आदि से बिल दूर रहकर यम-नियमों का पालन, करना अनिवार्य बताया है। कई लोग सोमरस शराब के तुल्य बता देते हैं, किन्तु सोमरस तो सात्त्विक शीतल पेय था, जबकि तामसिक और सत्वनाशक जीवन-घातक पेय है। अतः मद्यपान को तो दूर से ति जलि दे देनी चाहिए।

---

१ एकतः सर्वपापानि मद्यपानं तथैकतः।

मद्यपान कैसे छूटे ?

कई लोग पूछते हैं कि शराब की आदत छोड़ने के लिए क्या किया जाए ? इस प्रश्न को शराबी व्यक्ति स्वयं शराब से होने वाले जीवन के सर्वनाश, विविध रोगों हानियों आदि को पूर्णतः या हृदय से समझे। तदनन्तर दृढ़ संकल्पपूर्वक मद्य का त्याग करे कि "न मैं पीऊँगा, न पिलाऊँगा।" कई व्यक्ति धीरे-धीरे शराब को सर्वथा छोड़ने के पक्ष में हैं। परन्तु इसमें सभी सफलता मिल सकती है जब व्यक्ति मन पर नियंत्रण रखकर दृढ़ निश्चय कर ले कि अमुक अवधि के बाद तो मुझे हर्गिज शराब छोड़ देनी है। जो ऐसा नहीं करते वे बार-बार हार-हार कर भी शराब का व्यसन नहीं छोड़ पाते। कुछ दिन के लिए शराब छोड़ कर फिर अपना लेते हैं। अतः यह दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि मुझे शराब न कभी फिर छूना है।

मद्य त्याग का संकल्प करने के बाद ऐसा साहित्य पुनः-पुनः पढ़ना चाहिए, जिसमें मद्यपान से होने वाली हानियों और बुराइयों का वर्णन हो। त्यागियों सन्यासियों तथा महान व्यक्तियों की जीवनी पढ़नी चाहिए ताकि मद्यत्याग की प्रेरणा मिलती रहे। धर्मगुरुओं के व्याख्यान सुनने चाहिए। पवित्र आचरण, शील एवं धर्ममय जीवन बिताना चाहिए। बहनें भी शराबी पुरुषों के विरुद्ध उपवासपूर्वक सत्याग्रह करके पुरुषों का हृदय-परिवर्तन करना चाहिए।

मद्यपायी पुरुष को किसी भी सभा, सोसाइटी या उत्सव, उच्च आसन नहीं देना चाहिए और न ही उसे समाज में प्रतिष्ठा देनी चाहिए, सार्वजनिक स्थान में ऐसे लोगों को कोई स्थान न होना चाहिए। तभी मद्यपान करने वाले लोग मद्य त्याग के प्रति सक्षम होंगे। तभी राष्ट्र और समाज का अभ्युदय होगा।

समय नजदीक आया देख उन्होंने अष्टमभक्त प्रत्याख्यान (तेले) की तपस्या करली थी उस समय पाक्षिक पौषध करने के लिए नवमल्लकि नौलिच्छवीयों १८ गणतन्त्र के राजा भी भगवान् महावीर की सेवा में आ पहुँचे थे। भगवान महावीर ने उस समय उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में ३६ अध्ययन फरमाए थे। भगवान् महावीर का अवशिष्ट आयुष्य पूर्ण हो गया, वे समस्त कर्मों से, काया से सदा-सदा के लिए सर्वथा मुक्त हो गए।

कहते हैं, देवों ने सारी पावापुरी नगरी सजाई। देव विमानों के प्रकाश से सारी पावापुरी जगमगा उठी। देवों ने भगवान् की देह का अन्तिम संस्कार किया। निर्वाण महोत्सव भी मनाया। उसमें देवों के अतिरिक्त विभिन्न देशों के राजा तथा प्रजाजन सम्मिलित हुए। भगवान् महावीर के अनुयायी राजाओं ने भगवान् महावीर के देहविलय के बाद एक सभा के रूप में परस्पर मिले और निर्णय किया कि 'गए से भावज्जुए दव्वज्जुए पवखेमो' अब वह भावप्रकाश तो बुझ गया, अब हमें द्रव्य प्रकाश करना चाहिए, जिससे भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति बनी रहे। उस दिन हम उस महाप्रकाश के सिद्धान्तों के बारे में चिन्तन कर सकें। बस, वह दिन था कार्तिक कृष्णा अमावस्या। राजाओं और प्रजाजनों ने उस दिन दीपों की माला अपने-अपने घरों में पंक्तिबद्ध स्थापित की। तब से प्रतिवर्ष भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति में यह दीपपर्व इसी तरह मनाया जाता है। यह दीपपर्व के पीछे ठोस ऐतिहासिक तथ्य है। इस तथ्य के पीछे बहुत से प्रमाण मौजूद हैं।

दीपपर्व की प्रेरणा

मैंने दीपपर्व से सम्बन्धित तीन प्रसंग आपके समक्ष प्रस्तुत किये। और भी प्रसंग इसके साथ जुड़े हुए हैं। जो भी हो, दीपपर्व के पीछे बहुत सुन्दर प्रेरणा निहित है। जिस समय सूर्य, चन्द्रमा आदि का प्रकाश न हो, उस समय मिट्टी का नन्हा-सा दीपक सारे घर को प्रकाशित कर देता है। दीपपर्व मनुष्यों को प्रेरणा करता है, अन्धकार चाहे जितना हो, डरो मत। ज्ञान का महाप्रकाश फैला दो, अज्ञान, अन्धविश्वास आदि का अन्धेरा दूर हो जाएगा। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' भारतीय संस्कृति का वज्र आघोष है। अन्धकार से प्रकाश में आने के लिए भारतीय जनता युग-युग से प्रयत्न करती आ रही है। नये-नये ज्ञान-विज्ञान की उपासना करके अज्ञान-अन्धकार को मिटाना भारतीय जनजीवन का प्राण है। भारतरत्न विज्ञानाचार्य श्री जगदीश बोस ने वनस्पति में चेतना सिद्ध करके अपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया और विश्व को ज्ञान की अपूर्व किरण दी।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के अयोध्या-आगमन की खुशी में जो दीपमाला उद्योतित की गई थी, उसके पीछे यह रहस्य है कि वनवास में श्रीराम, लक्ष्मण और सती सीता ने अनेक संकटों के बीच अपनी ज्ञानज्योति अडोल रखी। अनेक कष्टों

महावीर के निर्वाण की है। तथापि कालक्रम में जो घटनाएँ भगवान् महावीर के
निर्वाण से पहले की है, उन्हें पहले प्रस्तुत करना चाहिए। इस दृष्टि से मैं मर्यादा
पुरुषोत्तम श्रीराम से सम्बन्धित दीपावली की घटना का जिक्र करूँगा। मर्यादा
पुरुषोत्तम श्री राम का जीवनकाल बीसवें तीर्थंकर भगवान् श्री मुनिसुव्रत स्वामी के
शासन का है। श्री रामचन्द्रजी ने अपनी माता कैकेयी रानी को अपने पिता
राजा दशरथ के दिये हुए दो वचनों का पालन करने की दृष्टि से १४ वर्ष के लिए
वनवास स्वीकार कर लिया था। वनवासकाल परिपूर्ण होने के दौरान लंकाधिपति
राजा रावण के साथ महासती सीता के कारण घोर युद्ध हुआ। इसमें श्रीराम की
विजय हुई। रावण इस युद्ध में मारा गया था। लंका पर श्री राम की विजय हुई।
सीता सती रावण के बन्धन से मुक्त हुई।

लंका विजय के बाद श्रीराम, सती सीता, श्री लक्ष्मण जी, हनुमानजी आदि
सब धूमधाम से अयोध्या आए। श्रीराम के १४ वर्ष वनवास के बाद अयोध्या लौटने
की खुशी में सारी अयोध्या सजाई गई थी। अयोध्या के प्रत्येक घर में श्रीराम के
अभिनन्दन के उपलक्ष में पक्तिबद्ध दीपक जलाए गए थे। कहते हैं, यह दिन कार्तिक
कृष्णा अमावस्या का था। इसी दिन से प्रति वर्ष श्रीराम के अयोध्यागमन की स्मृति
को ताजी करने के लिए दीपपर्व मनाया जाने लगा।

दीपावली से सम्बन्धित दूसरा प्रसंग है २२वें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि के
युग का कर्मयोगी श्रीकृष्ण जी से सम्बद्ध। कहते हैं उस समय नरकासुर का बड़ा
उपद्रव था। उससे सब लोग त्रस्त थे। श्री कृष्णजी ने दीपावली के दिन नरकासुर को
मारा और उसके चंगुल से जनता को छुड़ाकर उसका उद्धार किया।

यह एक रूपक भी है। नरकासुर का मतलब है—गंदगी। चौमासे में वर्षाऋतु
के कारण सर्वत्र गंदगी का ढेर और कीचड़ हो जाया करता है। उस समय नरक
का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है। मच्छर, बिच्छू, खटमल तथा अन्य कीटाणु भारी
संख्या में पैदा हो जाते हैं और वे प्राणियों को त्रास पहुँचाते हैं। अतः गंदगी रूपी
नरकासुर के त्रास से जनता को मुक्त करने का कार्य कर्मयोगी श्री कृष्णजी ने किया।
उसके लिए उन्होंने रुक्मिणी आदि १६ हजार रानियों की भी सहायता ली। बस, इस
प्रकार नरकासुर को वहाँ से खदेड़ दिया। सर्वत्र स्वच्छता के दर्शन हुए। श्रीकृष्णजी
... सारे नगर में घरों की सफाई तथा उनकी धुलाई-पुताई का आदेश दे दिया। सारा
...र स्वच्छ व स्वर्गीय बन गया। उसी दिन दीपावलियों से सारा नगर जगमगा उठा।
...कासुर पर विजय के उपलक्ष में। बस, यहीं से दीपावली पर्व का प्रारम्भ होता है,
... किंवदन्ती है।

दीपावली से सम्बन्धित तीसरा प्रसंग श्रमणशिरोमणि अन्तिम तीर्थंकर भगवान्
...वीर के निर्वाण से सम्बन्धित है। भगवान् महावीर उस समय पावापुरी में
...ार राजा की कचहरी (प्राचीन रज्जुकसभा) में विराजमान थे। अपना अन्तिम

समय नजदीक आया देख उन्होंने अष्टमभक्त प्रत्याख्यान (तले) की तपस्या कर ली थी। उस समय पाक्षिक पौषध करने के लिए नवमल्लद नौलिच्छवीयों १८ गणतंत्र के राजा भी भगवान् महावीर की सेवा में आ पहुँचे थे। भगवान महावीर ने उस समय उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में ३६ अध्ययन फरमाए थे। भगवान् महावीर का अवशिष्ट आयुष्य पूर्ण हो गया, वे समस्त कर्मों से, काया से सदा-सदा के लिए सर्वथा मुक्त हो गए।

कहते हैं, देवों ने सारी पावापुरी नगरी सजाई। देव विमानों के प्रकाश से सारी पावापुरी जगमगा उठी। देवों ने भगवान् की देह का अन्तिम संस्कार किया। निर्वाण महोत्सव भी मनाया। उस समय देवों के अतिरिक्त विभिन्न देशों के राजा तथा प्रजाजन सम्मिलित हुए। भगवान् महावीर के अनुयायी राजाओं ने भगवान् महावीर के देहविलय के बाद एक सभा के रूप में परस्पर मिले और निर्णय किया कि 'गए से भावज्जुए दव्वज्जुए पवसेमो' अब वह भावप्रकाश तो बुझ गया, अब हमें द्रव्य प्रकाश करना चाहिए, जिससे भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति बनी रहे। उस दिन हम उस महाप्रकाश के सिद्धान्तों के बारे में चिन्तन कर सकें। बस, वह दिन था कार्तिक कृष्णा अमावस्या। राजाओं और प्रजाजनों ने उस दिन दीपों की माला अपने-अपने घरों में पंक्तिबद्ध स्थापित की। तब से प्रतिवर्ष भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति में यह दीपपर्व इसी तरह मनाया जाता है। यह दीपपर्व के पीछे ठोस ऐतिहासिक तथ्य है। इस तथ्य के पीछे बहुत से प्रमाण मौजूद हैं।

दीपपर्व की प्रेरणा

मैंने दीपपर्व से सम्बन्धित तीन प्रसंग आपके समक्ष प्रस्तुत किये। और भी प्रसंग इसके साथ जुड़े हुए हैं। जो भी हो, दीपपर्व के पीछे बहुत सुन्दर प्रेरणा निहित है। जिस समय सूर्य, चन्द्रमा आदि का प्रकाश न हो, उस समय मिट्टी का नन्हा-सा दीपक सारे घर को प्रकाशित कर देता है। दीपपर्व मनुष्यों को प्रेरणा करता है, अन्धकार चाहे जितना हो, डरो मत। ज्ञान का महाप्रकाश फैला दो, अज्ञान, अन्धविश्वास आदि का अंधेरा दूर हो जाएगा। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' भारतीय संस्कृति का वज्र आघोष है। अन्धकार से प्रकाश में आने के लिए भारतीय जनता युग-युग से प्रयत्न करती आ रही है। नये-नये ज्ञान-विज्ञान की उपासना करके अज्ञान-अन्धकार को मिटाना भारतीय जनजीवन का प्राण है। भारतरत्न विज्ञानाचार्य श्री जगदीश बोस ने वनस्पति में चेतना सिद्ध करके अपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया और विश्व को ज्ञान की अपूर्व किरण दी।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के अयोध्या-आगमन की खुशी में जो दीपमाला उद्योतित की गई थी, उसके पीछे यह रहस्य है कि वनवास में श्रीराम, लक्ष्मण और सती सीता ने अनेक संकटों के बीच अपनी ज्ञानज्योति अडोल रखी। अनेक कष्टों

खर्च न किया जाए, शराब, नाचगान, अन्य निरर्थक आमोद-प्रमोद में उसका धुआं न उड़ाया जाए और सत्कार्यों में उसका व्यय किया जाए, धर्मवृद्धि की जाए। जिन लोगों ने सत्कार्यों में, या धर्मवृद्धि के कार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया है उनसे लक्ष्मी प्रसन्न हुई है, और उनके यहां लक्ष्मी वर्द्धित होकर रही है। इस रहस्य की प्रेरणा दीपपर्व देता है।

श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के साथ ही श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर को ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय रूपी आभ्यन्तर लक्ष्मी प्राप्त हुई थी। उनके अन्तर में केवलज्ञान रूपी दीपक जगमगा उठा था। जिसके लिए भक्तामरस्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुंग सूरि ने कहा था—

'दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाश'

हे नाथ! आप समस्त जगत् को प्रकाशित करने वाले अद्वितीय दीपक हैं।

बस, इसी प्रकार के दीपक प्राप्त करने की प्रेरणा दीपपर्व देता है। इस प्रकार का विश्व का आलोक पुञ्ज दीपक जिस आत्मा को प्राप्त हो जाता है, वह आत्मा फिर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की आत्मलक्ष्मी से जगमगा उठता है।

दीपावली के दिन इसी भाव दीपक-सम प्रकाशपुञ्ज भगवान महावीर का स्मरण करें और उनकी विश्व ज्योति को प्राप्त करने की आराधना करें। इसी में दीपपर्व मनाने की सार्थकता है।

२

ज्ञानपंचमी : श्रुतसेवा और धर्म-प्रचार

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ और बहनो !

आज एक महत्त्वपूर्ण पर्व की आराधना करने के लिए हम सब एकत्रित हुए है। उस पर्व का नाम है—ज्ञानपंचमी। इस पर्व को श्रुत पंचमी भी कहते हैं। जैन इतिहास में यह पर्व अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। हजारों साधक इकट्ठे होकर इसे मनाते रहे है। अत्यन्त हर्ष और उत्साह के साथ यह पर्व हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक मनाया जाता रहा है।

जैन संस्कृति में पर्वों का बहुत बड़ा महत्त्व है। जैनधर्म के प्रत्येक पर्व के पीछे कोई न कोई आध्यात्मिक प्रेरणा और उच्च आदर्श हमारे सम्मुख रहा है। ये पर्व खाने-पीने और आमोद-प्रमोद करने की भावना को लेकर नहीं चलते। इन पर्वों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना के द्वारा आत्म-विशुद्धि की भावना ही मुख्य होती है।

ज्ञानपंचमी या श्रुतपंचमी भी इसी आध्यात्मिक भावना को लेकर प्रचलित हुई। जैन इतिहास के पृष्ठों में आज के दिन का महत्त्व बहुत सुनहरे अक्षरों में अंकित है। यह पवित्र दिन हमारे जीवन में स्वर्णिम प्रकाश फैलाने वाला है। काफी लम्बा समय व्यतीत हो जाने पर भी इस दिन की पवित्र स्मृति हमारे मनमस्तिष्क में पुनः तरोताजा हो जाती है। जैन संघ का अस्तित्व जब तक इस भूमण्डल पर रहेगा, तब तक इस दिन को विस्मृत नहीं किया जाएगा, पुनः-पुनः प्रतिवर्ष इस दिन का श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता रहेगा।

हम उन युगद्रष्टा आचार्यों के महान् ऋणी है, जिन्होंने समय की गतिविधि को जानकर साधकों की स्मृति से ओझल होते हुए श्रमण-भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रीय ज्ञान या श्रुत को लिपिबद्ध करके सुरक्षित रखा, जैन वाङ्मय को विस्मृति के तिमिर में विलीन होने से बचाकर उसे अक्षरबद्ध कर दिया।

प्राचीन आचार्यों की ज्ञान आराधना

सुदूर अतीत में ज्ञान की धारा साधकों के उर्वर मस्तिष्क में बहती रहती थी। हमारा जितना भी पूर्वों का ज्ञान था, अथवा बारह अंगों का ज्ञान था, वह सब लिखा हुआ नहीं था, किसी ने उन्हें लिपिबद्ध नहीं किया था, वह ज्ञान भंडार केवल साधकों

के उर्वर मस्तिष्क में सुरक्षित रखता था। गुरु के मुख से शिष्य सुनता और अपने स्मृतिकोष में उसे सुरक्षित रखता था। फिर वह मस्तिष्क में सुरक्षित उस श्रुतज्ञान की बार-बार आवृत्ति करता रहता था, अपने शिष्य को वाचना देता रहता, बार-बार उस शास्त्र के सम्बन्ध में चर्चा विचारणा करता रहता, कभी-कभी धर्मसंघ चिन्तन भी करता था, और श्रोताओं के सम्मुख उस पर व्याख्यान भी करता था। इस स्वाध्याय द्वारा उस श्रुतज्ञान की विशिष्ट आराधना करके परम्परागत ज्ञान की सुरक्षा करता था। ऐसा करने में वह ग्रन्थ, पुस्तक-पन्नों या अन्य किसी बाह्य साधन का अवलम्बन नहीं लेता था। आजकल की तरह उस समय टेपरिकार्ड नहीं थे कि गुरुमुख से निकले हुए प्रवचन को टेपरिकार्डित कर लिया जाता। सब कुछ उनके स्मृति कोष में रहता था। जिसका उर्वर मस्तिष्क, सुलझा हुआ स्वस्थ मस्तिष्क होता, उनका [illegible] कारण जिनके मस्तिष्क में काम, क्रोध, मद आदि विकार अपना अड्डा जमा लेते हैं, वहाँ स्मरण शक्ति क्षीण होने लगती है, स्मृति धुंधली पड़ जाती है। परन्तु उन महान् आत्माओं का स्मृति पट अत्यन्त साफ-सुथरा, निर्मल, निर्विकार था, तभी तो वे इतने विशाल ज्ञान भण्डार को अपने दिमाग में सुरक्षित रख सके। पूर्वों का ज्ञान कितना है! उसे भी अपने मस्तिष्क कोष में सञ्चित करना कितना कठिन कार्य था! वे उस श्रुतज्ञान को अनन्य श्रद्धा भक्ति के साथ, दुनियादारी के प्रपंचों से दूर रहकर ही सुरक्षित रख सके। उनके मस्तिष्क में श्रुत का क्षीरसागर इसीलिए एकत्रित रह सका कि वे बाह्य प्रभावों से प्रभावित नहीं थे। इसीलिए एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में उनका वह विशाल ज्ञान आता गया। इस प्रकार ज्ञानाराधना का क्रम चल रहा था।

ज्ञानपंचमी का भव्य इतिहास

अचानक समय ने पलटा खाया। ज्ञानाराधना में विघ्न उपस्थित होने लगे। बीच में द्वादशवर्षीय दुष्काल की मार ने साधकों की ज्ञानसाधना फीकी कर दी। जो साधक पहले नियमित रूप से शास्त्रों का स्वाध्याय करते थे, वे अब दुष्काल के प्रभाव में शरीर बल और मनोबल क्षीण हो जाने के कारण स्वाध्याय में लड़खड़ाने लगे। उनकी स्मृतियाँ भी काल की चोट के कारण धुंधली पड़ने लगी।

समय भी द्रुतगति से व्यतीत हो रहा था। अगर हमारे महान् आचार्य समयज्ञ न होते तो बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता, क्योंकि गया हुआ समय फिर हाथ नहीं आता। समय किसी के साथ रियायत नहीं करता। वह अपनी गति से आगे सरकता चला जाता है। जो साधक समयज्ञ नहीं होते, उनमें समय का सदुपयोग करने की शक्ति उत्पन्न नहीं होती, उनमें समय को पकड़ने की कला नहीं होती, उनका मनोबल क्षीण से क्षीणतर होता जाता है, और समय के प्रवाह के साथ अपनी साधना को एडजस्ट न करने वाले आखिर बहुत पिछड़ जाते हैं।

किन्तु हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि हमारे वे महान आचार्य दूरदर्शी थे। समय की गतिविधि को परखने में कुशल थे। उन्होंने भलीभाँति अनुभव कर लिया

ज्ञानपंचमी क्यों मनाएँ?

अब कदाचित् यह प्रश्न उठा सकते हैं कि हम स्वयं ज्ञान पढ़ें, सुनें, यह तो ठीक है, किन्तु ज्ञानपंचमी क्यों मनाएँ? इसके उत्तर में मैंने पहले आपको बताया था आचार्यों की महती कृपा से जो शास्त्रज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, उसे सुरक्षित रखने एवं इस दिन के स्मरण के लिए कर्तव्य-भावना से हमें इस पर्व की आराधना करनी चाहिए। जिन महान् मुनिवरों ने अथक पुरुषार्थ करके जिस शास्त्रज्ञान को सुरक्षित रखा है, क्या अब उनके बाद हमारा—चतुर्विध संघ का यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम उस श्रुतनिधि को सहेज कर सुरक्षित रखें? उन्होंने काफी वर्षों तक शास्त्रज्ञान की रक्षा की तो अब हमारा दायित्व है कि हम भी शास्त्रज्ञान की रक्षा करें। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका चारों का ही महान् कर्तव्य है कि वे अपनी-अपनी सीमा में रहते हुए इस ज्ञाननिधि को सुरक्षित रखें।

परन्तु शास्त्रीय ज्ञान में वर्तमान युग के साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं की कितनी रुचि है? यह किसी से छिपा नहीं है। कुछ पुराने श्रावकों की ओर से वर्तमान साधुओं के बारे में यह शिकायत है कि वे शास्त्र नहीं पढ़ते या शास्त्र पर व्याख्यान नहीं देते। परन्तु मुझे लगता है कि इसमें साधुओं की अपेक्षा श्रावक-श्राविकाओं का दोष अधिक है। शास्त्रीय व्याख्यान कुछ क्लिष्ट और पारिभाषिक शब्दों के घेरे में बँधा होने से उन्हें रुचिकर नहीं लगता। शास्त्रीय व्याख्यान को वर्तमान श्रावक वर्ग पसन्द नहीं करता, इसलिए ऐसे व्याख्यान के समय उसे नींद के झोंके आने लगते हैं। इसलिए कवि ने श्रावक वर्ग पर व्यंग्य कसा है—

> "शास्त्र का व्याख्यान अब क्यों कर भला आए पसन्द?
> भैरवी की बहार में, मशगूल होते इन दिनों।
> श्रावकों ने अपना सब गौरव गँवाया इन दिनों॥"

श्रावक वर्ग श्रोता होता है। श्रोता वर्ग की रुचि जब शास्त्रीय प्रवचन पर नहीं होती, तब वक्ता साधु वर्ग सोचता है—शास्त्रीय व्याख्यान रूपी माल के ग्राहक तो यहाँ हैं नहीं, इन्हें तो सस्ता, चटपटा और मनोरंजक माल चाहिए, तब वह भी अपने व्याख्यान के लिए वैसा ही मसाला ढूंढ कर एकत्रित करता है। फिर सिनेमा की तर्जों के गीत, मनोरंजक किस्से कहानियाँ और हलका-फुलका उपदेश ही साधु-वर्ग देता है। और सारे श्रोता वर्ग में प्रायः ऐसी रुचि वाले लोग हैं, इसलिए साधु-वर्ग शास्त्रीय अध्ययन भी कम करता है, उसकी रुचि भी अपने व्याख्यान को मनोरंजक और अच्छे ढंग से सजाने की हो जाती है।

परन्तु यह बात निःसन्देह कही जा सकती है कि साधु-साध्वियों को भी अपने कर्तव्य (शास्त्रीय ज्ञान की सुरक्षा) की ओर ध्यान देना है और श्रावक वर्ग को भी शास्त्रीय ज्ञान को प्रोत्साहन देना है। जब वह स्वयं शास्त्रीय ज्ञान को श्रद्धा, भक्ति और रुचि के साथ सुनेगा, तो साधु-साध्वी भी शास्त्रीय ज्ञान को सुन्दर ढंग से

समझदारी से समझाने का प्रयत्न करेंगे। वे इसके लिए विशेष अध्ययन भी करेंगे।

ज्ञान पंचमी कैसे मनाएँ ?

ऐसी स्थिति में हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञानपंचमी मना कर शास्त्रज्ञान को सुरक्षित रखने के कर्तव्य-पालन का स्मरण करना है, यह तो ठीक है, परन्तु ज्ञान पंचमी मनाएँ कैसे ? इसका अर्थ यह हुआ कि हम शास्त्रज्ञान की सुरक्षा के लिए क्या-क्या करें ? मैं मोटे तौर पर कुछ सूत्र प्रस्तुत करता हूँ —

(१) हम ज्ञान की स्वयं आराधना करें, श्रद्धापूर्वक शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करें।

(२) श्रुत और श्रुतधरों के प्रति विनय, भक्ति, श्रद्धा और सेवा करें।

(३) सम्यक् ज्ञान के महत्त्व को समझ कर जो भी व्यक्ति शास्त्र ज्ञान प्राप्त करना चाहता हो, उसे शास्त्र, ग्रन्थ, पुस्तक, विद्वान आदि का सहयोग दें। स्वयं शास्त्रज्ञ हों तो जिज्ञासुओं को शास्त्रज्ञान दें।

(४) ज्ञान प्राप्ति के साथ ज्ञान को आचार में परिणत करने का प्रयत्न करें।

(५) धन वृद्धि के बदले ज्ञान वृद्धि की ओर ध्यान दें। ज्ञान के विकास के लिए चिन्तन-मनन करें।

(६) घर में सत्साहित्य का संग्रह रखें। अपनी सम्पत्ति में से ज्ञान खाते के लिए कुछ धनराशि अवश्य निकालें।

आइए, अब हम क्रमशः इन सूत्रों पर विचार कर लें—

जो व्यक्ति शास्त्रज्ञान की आराधना करना चाहते हैं, उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्र हमारे लिए मार्गदर्शक है। भगवद्गीता में शास्त्र की महत्ता बताते हुए कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते, कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

शास्त्र कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का स्पष्ट मार्गदर्शन देने में प्रमाणभूत हैं। शास्त्र—खास कर लोकोत्तर शास्त्र तो हित शिक्षा के लिए होते हैं। इसलिए ज्ञान-साधना करते समय शास्त्र-स्वाध्याय रुचिपूर्वक करना अभीष्ट है। आज जैनों में जितनी धन कमाने की ओर रुचि है, उतनी सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने की ओर रुचि नहीं है। यही कारण है कि अज्ञान-अन्धकार में लोग भटक रहे हैं।

शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में वर्तमान में अधिकांश शास्त्र के नाम पर काम-प्रेरक या अर्थ साधक साहित्य पढ़ते हैं। उसे पढ़कर मस्तिष्क और चित्त भ्रान्त नहीं होगा तो क्या होगा ? भले ही ऐसे साहित्य में कुछ बातें अच्छी भी मिल जाती हैं,

को काटने के लिए श्रद्धापूर्वक ज्ञानाराधना प्रारम्भ की। 'नमो नाणस्स' मंत्र का नौलाख जाप किया। फलस्वरूप थोड़े ही वर्षों में पूर्वबद्ध गाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हुए, उसकी मूढ़ता और मूकता दूर हो गई। वह बोलने लगी। दिव्य सरस्वती उसके मुख पर प्रकट हो गई। उसके पश्चात् गुणमंजरी ने ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यक् आराधना करके अपना कल्याण किया।

यह है, ज्ञानविराधना से बचकर ज्ञानाराधना करने का उपाय।

ज्ञान को सर्वोपरि महत्त्व दो

परन्तु आज तो सम्यग्ज्ञान की महत्ता भुला दी गई है। अधिकांश लोग ज्ञानावरणीय कर्म को काटने की चिन्ता नहीं करते, वे चिन्ता करते हैं, वेदनीय और अन्तराय, इन दो कर्मों की। एक तो आने या अपनों के सुख-दुःख की चिन्ता उन्हें बहुत सताती है, या फिर धन या सुख के साधन न मिलने पर अन्तराय कर्म की चिन्ता रहती है। मतलब यह है कि आज अधिकांश लोग वेदनीय और अन्तराय, इन दो कर्मों से जूझने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, साधु-साध्वियों के पास आकर भी वे इन दो कर्मों का ही प्रायः रोना रोते हैं और इन दो कर्मों को काटने के लिए तो नहीं, परन्तु मंत्र-यंत्र-तंत्र आदि सरलतम उपायों से इन्हें हटाने के लिए पूछा करते हैं। वे चाहते हैं कि संसार का उत्तमोत्तम सुख और धनसम्पत्ति हमें मिल जाए। किन्तु अन्तराय और वेदनीय कर्म से जूझने के लिए जिस सम्यग्ज्ञान एवं विवेकबुद्धि की जरूरत है, उसे प्राप्त करने की उन्हें चिन्ता नहीं। परन्तु याद रखिए, जितने भी दुःख, अन्तराय आदि आते हैं, वे सब अज्ञानजन्य हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—

जावंतऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुंपंति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए॥'

—जितने भी अविद्यावान—अज्ञानी पुरुष हैं, वे सब अपने अज्ञान से दुःख पैदा करते हैं और मूढ़ होकर इस अनन्त संसार में अनेक बार जन्म-मरण करते हैं।"

अतः दुःख, अशान्ति और अन्तराय का मूल अज्ञान है। पहले अज्ञान को दूर किये बिना असातावेदनीय दुःख, या अन्तराय को दूर नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि शास्त्रकारों ने आठ कर्मों में सबसे पहले ज्ञानावरणीय कर्म को स्थान दिया है। यही कर्म सबसे भयंकर है, इसे ही सर्वप्रथम तोड़ने का प्रयास करना चाहिए। परन्तु आज ज्ञान को सर्वोपरि महत्त्व नहीं दिया जाता। अगर सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाय तो व्यक्ति दुःख में भी आनन्द मान सकता है, वह दुःख को भी सुखरूप बनाने की कला हस्तगत कर लेता है। अज्ञानी जीव जहाँ सुख के साधन होते हुए भी सम्यग्ज्ञान के अभाव में दुःखी रहता है, प्रत्येक दशा में हाय-हाय करता है, वहाँ ज्ञानवान् आत्मा सुख-साधनों के अभाव में भी सम्यग्ज्ञान के कारण सुखी रहता है, वह कभी अपनी प्रसन्नता भंग नहीं करता, हर हाल में मस्त रहता

है। वह परिवार, मानवजाति राष्ट्र और विश्व की सभी समस्याओं को सुलझा सकता है। और इनका भौतिक या आध्यात्मिक विकास कर सकता है।

आज पास धन सम्पत्ति, मकान, परिवार सुख सामग्री आदि सब कुछ हो, मगर बुद्धि न हो ज्ञान न हो तो कुछ भी नहीं है। मनुष्य आँख से अन्धा, मूक और बहरा हो लेकिन उसके पास ज्ञान हो तो 'हेलन केलर' की तरह वह आनन्द प्राप्त कर लेता है आत्मतृप्त हो जाता है। ज्ञान से मनुष्य के जीवन में अपूर्व बल प्राप्त हो जाता है, वह काम, क्रोध मद, लोभ आदि बड़े-बड़े विकार योद्धाओं से लड़ सकता है, परिस्थितिशत्रुओं से हँसते-हँसते जूझ सकता है। इन सबको परास्त करने की उसमें शक्ति आ जाती है। ज्ञान मनुष्य में अन्यान्य आत्मगुणों—अहिंसा, सत्य आदि को ले आता है। अज्ञानी कामादि विकारों से लड़ नहीं सकता, उनके सामने घुटने टेक देता है, परिषहों को समभाव से सहने की शक्ति उसमें नहीं होती, वह दुःख के समय हिंसा असत्य आदि को अपनाने के लिए तैयार हो जाता है। परन्तु अधिकांश लोग ज्ञान प्राप्त करने-कराने की चिन्ता नहीं करते, जितनी वे रोग संकट आदि को दूर करने की चिन्ता करते हैं। सम्यग्ज्ञान वृद्धि के लिए अधिकांश लोगों के घरों में साहित्य नहीं होता। वे विवाहों, उत्सवों और कुरूढ़ियों में हजारों-लाखों रुपये खर्च कर सकते हैं, परन्तु ज्ञानवृद्धि के लिए घर में सत्साहित्य, जीवन-कल्याणकारी साहित्य नहीं रखेंगे, न किसी को सम्यग्ज्ञान के लिए सत्साहित्य भेंट करेंगे। उनका बजट ज्ञानवृद्धि के लिए नहीं बनता, मौजशौक, आमोद-प्रमोद या चुनाव जीतने, पद पाने के लिए अनापसनाप धन खर्च करने का बजट वे बना सकते हैं, यही तो अज्ञानदशा है। जिस ज्ञान के द्वारा सब कुछ सुख और अन्य पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं, उसे प्राप्त करने-कराने के लिए प्रयत्न बहुत ही कम होते हैं।

मैं आपसे पूछता हूँ कि एक देव आपके पास आए और कहे कि धन सम्प और सुख-सम्पदा जितनी चाहिए उतनी ले लो, मगर बदले में तुम्हारी बुद्धि दे दो तो क्या आप ऐसा सौदा पसन्द करेंगे? मैं समझता हूँ, आप बुद्धि देकर, ऋद्धि लेन सन्द नहीं करेंगे। परन्तु आप अपने पुत्र को धन देकर सुखी बनाना चाहते हैं, उसे न देकर सुखी बनाने की आपको फिक्र नहीं है। आपको यह मालूम होना चाहिए धन शाश्वत नहीं है, वह चचल है, पता नहीं, पुत्र को दिया गया धन उसके पास ..गा या नहीं, परन्तु ज्ञान शाश्वत है, वह हिताहित का भान कराने वाला है। उससे सभी प्रकार के कल्याण के द्वार खुल जाते हैं। इसलिए ज्ञान को सर्वोपरि स्थान दो, तभी सच्ची ज्ञानाराधना हो सकती है।

ज्ञान का आचरण करो

इसके पश्चात् ज्ञान की आराधना करने का उपाय है, जो भी ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसका आचरण किया जाय। आप पूछेंगे कि ज्ञान को आचार में कैसे परिणित किया जाए? यही तो जैनधर्म की विशेषता है। आप लोग ज्ञान और

आचार को अलग-अलग मानते हैं, मगर जैनधर्म ने ज्ञान को भी आचार मे समाविष्ट करके एक अद्भुत आदर्श विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है। शास्त्रो मे पाच प्रकार के आचार बताये हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार। इन पाच आचारो मे सर्वप्रथम ज्ञानाचार है। अर्थात् ज्ञान को आचार मे परिणत करने की साधना है। जैन धर्म मे ज्ञान सिर्फ जानकारी ही नहीं है, अपितु आत्म-कल्याण का सर्वोत्तम साधन है, मोक्षमार्ग का एक अग है। वह केवल बौद्धिक व्यायाम या वाणीविलास ही नहीं है, अथवा ज्ञान यहाँ केवल तोतारटन ही नही है, अपितु भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तो का श्रवण मनन-चिन्तन करके जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करना है। वीतराग प्ररूपित तत्वो को अनुभव की आँच में तपा कर, या उनका भलीभाति परिमार्जन एव परिष्कार करके जन-समुदाय के सामने रखना है। ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ आचरण यही है कि उसके प्रकाश मे स्वय संकट आने पर, कोई गुत्थी उलझ जाने पर या कष्ट आ पड़ने पर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करे, हिताहित का विवेक करे। ज्ञान का यह आचार जीवन को पवित्र मार्ग पर ले जाता है, स्व-स्वरूप मे रमण करने मे प्रवृत्त करता है, परभावो से विकारो से हटाकर आत्मा के निज गुणों मे लीन करता है।

ज्ञान आचार में परिणत हुआ है, इसकी पहचान यही है कि मनुष्य को पर-भावों, सासारिक पदार्थों या विभावो से विरक्ति और क्रमशः विरति हो जाती है, हिंसा, असत्य आदि से ज्ञानी पुरुष विमुख हो जाता है। क्योंकि ज्ञान का फल विरति है। ज्ञानवान पुरुष स्वयं ज्ञान पाकर अन्य साधु-साध्वियो या गृहस्थो को ज्ञान का प्रकाश करता है। उनके जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को ज्ञान द्वारा सुलझाता है, सम्यक् मार्गदर्शन देता है।

ज्ञानाराधना का व्यावहारिक उपाय

ज्ञान पंचमी के पवित्र दिवस को श्रुतसेवा का सकल्प लें। जो भी सम्यक् श्रुत (शास्त्र) हैं, ग्रन्थ है, पुस्तकें हैं, उन्हे ज्ञानपिपासुओं, ज्ञानार्थियो को एव श्रुत-धरों को दे, उनकी भक्तिश्रद्धा, विनय करे। जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं को ज्ञानदान स्वय न दे सकें तो ज्ञानशाला खोल कर या ऐसे विद्वानों को रख कर ज्ञानदान मे सहयोग दे। साथ ही जो लोग अबोध हैं, जिनमे अभी मनुष्यता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है, जिन्हें नीति, धर्म का बोध नही है, ऐसे लोगों मे शुद्ध नीति एवं सद्धर्म का ज्ञान-प्रसार करने के लिए, धर्म-प्रचार करने के लिए सक्रिय सहयोग दे। इस प्रकार श्रुतसेवा होगी, ज्ञानाराधना होगी, और सद्धर्म प्रचार होगा। ये ज्ञानाराधना के व्यावहारिक उपाय हैं। आज के पवित्र दिन से इन्हें अपनाइये और ज्ञानाराधना का सुफल प्राप्त कीजिए।

卐

३

अक्षयतृतीया : महत्त्व और प्रेरणा

अक्षयतृतीया का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के इतिहास में अक्षय तृतीया का बहुत बड़ा महत्त्व है। समग्र भारतीय जन-जीवन में अक्षय तृतीया को बहुत पावन दिवस माना जाता है। इसे जनभाषा में आखातीज या अक्खयतीज के नाम से भी पुकारा जाता है। पड़ोसी धर्मों में भी यह तिथि बहुत ही पवित्र मानी जाती है। सारी भारतीय जन-चेतना वैशाख शुक्ल तृतीया को अक्षय तृतीया के नाम से त्यौहार के रूप में मनाती है। जैन-वैदिक दोनों धर्मों में अक्षय तृतीया को समान रूप से स्मरण किया जाता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार साढ़े तीन मुहूर्त स्वयं सिद्ध माने जाते हैं, उनके लिए पंचांग देखने की जरूरत नहीं पड़ती। वे हैं—चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया), आश्विन शुक्ला दशमी (विजया दशमी) और कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा। इनमें प्रथम तीन मुहूर्त पूर्ण बली और अन्तिम चौथा मुहूर्त अर्धबली माना जाता है। इस दृष्टि से अक्षय तृतीया का मुहूर्त पूर्णबली और स्वयं सिद्ध है।

प्रश्न हो सकता है—वैशाख शुक्ला तृतीया को ही अक्षय तृतीया क्यों कहा जाता है, अन्य तृतीया तिथियों को क्यों नहीं? जैन इतिहास कहता है—भगवान् ऋषभदेव के वर्षीतप का पारणा इसी दिन हुआ था। उसकी पुण्यस्मृति में यह तिथि अमर हो गई, यह तिथि भारतीय जनता की स्मृति में से क्षीण होने वाली नहीं है, इसलिए यह 'अक्षय' कहलाने लगी। मानव जाति के समक्ष भगवान् ऋषभदेव ने एक वर्ष तक निराहार एवं निर्जल समौन आत्म-स्वभाव में लीन रह कर तपश्चर्या का श्रेष्ठ कीर्तिमान स्थापित किया था। जैनशास्त्रों में इससे लम्बी तपस्या और कोई नहीं मानी जाती। तप के उत्तुंग हिमाद्रि शिखर पर चढ़कर भगवान् ऋषभदेव ने जनता को मानव शक्ति का अद्भुत परिचय देकर चमत्कृत कर दिया। इसीलिए इस तप को वर्षीतप कहा जाने लगा। उसी वर्षीतप की पूरक तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया थी, अतः तप के सर्वोच्च कीर्तिमान की स्थापना के उपलक्ष्य में वैशाख शुक्ला तृतीया अक्षय-अमर हो गई। इसलिए अक्षयतृतीया को तप शक्ति की पराकाष्ठा का प्रतीक माना गया।

वार्षिक तप क्यों स्वीकार किया ?

आप पूछ सकते हैं कि क्या भगवान ऋषभदेव को आहार नहीं मिलता था, जिसके कारण उन्होंने एक वर्ष तक सभीन तपश्चरण किया ? कुछ कथाकार भगवान ऋषभदेव की जीवनगाथा को इसी प्रकार चित्रित करते हैं कि भगवान ऋषभदेव ने मुनि दीक्षा ली, तब जनता आहार देना जानती नहीं थी। भगवान ऋषभदेव घर-घर गोचरी के लिए जाते थे परन्तु साधु को कैसे भिक्षा दी जाती है ? इस बात से लोग अनभिज्ञ थे, वे सोचते थे कि ये तो राजा हैं, महान् पुरुष हैं, इन्हें रोटी आदि आहार क्या दें ? इन्हें तो कोई बहुमूल्य और प्रिय चीज देनी चाहिए ? ऐसा सोच कर कोई हाथी उपस्थित करता, कोई घोड़ा और कोई रथ, परन्तु मुनि जीवन में इन चीजों की कोई आवश्यकता न होने से भगवान ऋषभदेव अस्वीकार करके वहाँ से आगे बढ़ जाते। फिर कोई उनके आजीवन जीवन निर्वाह के लिए मोतियों का या रत्नों का हार प्रस्तुत करता, कोई सोने-चाँदी के आभूषण देने लगता, परन्तु भगवान ऋषभदेव को इन वस्तुओं से भी कोई मतलब नहीं था, इसलिए वे अस्वीकार करके आगे बढ़ जाते। कोई अपनी कन्या को शृंगारित करके उपस्थित करते कि भगवान् ! इसे स्वीकारो। यह आपकी सेवा जीवन भर करेगी। परन्तु भगवान् पूर्ण ब्रह्मचारी और गृहस्थ से सेवा लेने से निरपेक्ष थे। इसलिए इसे भी कैसे स्वीकार करते ? कथाकार कहते हैं, यों भगवान् ऋषभदेव एक वर्ष तक घर-घर और द्वार-द्वार घूमते रहे। मगर कहीं भी उन्हें विधिपूर्वक आहार नहीं मिला। परन्तु साल भर तक आहार न मिलने के कारण उन्होंने तप किया या नहीं ? इसका कोई जिक्र कथाकार नहीं करते। सम्भवतः कथाकारों के दिमाग में ऐसी कल्पना उत्पन्न न हुई हो। वार्षिक तप करते तो उसका प्रत्याख्यान एक साथ ही करके वे अपने स्थान पर ही रहते। फिर उन्हें घर-घर घूमने की जरूरत ही नहीं रहती। क्योंकि कोई भी दो, तीन, चार या मासिक उपवास करने वाला साधु तपस्या का संकल्प करने के बाद घर-घर गोचरी के लिए नहीं जाता। कुछ लोग इसका समाधान यों करते हैं कि भगवान् ऋषभदेव ने तप तो वर्ष भर तक किया था, परन्तु उन्होंने एक साथ ही वार्षिक तप करने का संकल्प नहीं लिया था। वे रोजाना भिक्षा के लिए जाते थे, लेकिन भिक्षा न मिलने पर वापिस लौट आते और उस दिन का उपवास कर लेते। यों क्रमशः उपवासों की शृंखला आगे से आगे साल भर तक बढ़ती गई। इसलिए वर्षीतप कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

परन्तु इस सम्बन्ध में एक तर्क उपस्थित होता है कि भगवान् ऋषभदेव तीन ज्ञान के धारक तो जन्म से ही थे, और मुनिदीक्षा लेते ही उन्हें चौथा मनःपर्याय ज्ञान हो गया था। वे अपने ज्ञानबल से इतना तो जान ही सकते थे कि आज मुझे भिक्षा मिलेगी या नहीं ? अथवा मुझे कब तक आहार नहीं मिलेगा ? क्योंकि चार ज्ञान के धारक में इतना जान लेने की तो शक्ति होती है। जब वे अपने ज्ञानबल से जान

[illegible] करना ही [illegible] वास्तविक [illegible] है। अपनी आत्मा का सम्मान करने के साथ-साथ दूसरों की आत्मा का सम्मान करना ही समाज रक्षा का गुर है। यही जीवन का अंग है। अतः जीवन के उत्थान एवं दूसरों का [illegible] करे, अपने पवित्र विचार, पवित्र भावनाओं से समाज का अहित न करे और संसार से [illegible]।

रक्षापर्व : आत्मरक्षा का प्रेरक भी

रक्षापर्व जैन समाज [illegible] को [illegible] पीड़ित, दरिद्र, दुःखी, असहाय, दीन-हीन भाई-बहनों की रक्षा की प्रेरणा देता है, वैसे वह आत्म रक्षा की भी प्रेरणा देता है। आत्म-रक्षा से साधारण लोग शरीर की रक्षा ही समझते हैं, परन्तु जैनधर्म शरीर की रक्षा का इतना महत्त्व नहीं देता। वह कहता है, जब तक जीव का आयुष्य प्रबल है, तब तक उसके शरीर की रक्षा होने ही वाली है, आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को कोई भी शक्ति बचा नहीं सकती। जैनधर्म में मुख्यतया आत्मरक्षा पर जोर दिया गया है। आज अधिकांश लोग, यहाँ तक कि तथाकथित अध्यात्मवादी भी शरीर और शरीर से सम्बद्ध (धन-धान्य, शिष्य-शिष्या, प्रतिमा, पूजा आदि) वस्तुओं की रक्षा की ओर ही ध्यान देते हैं, आत्मरक्षा की ओर उनका चिन्तन बहुत ही कम होता है। वे आत्मा, परमात्मा की बारीक से बारीक बातों पर वे घण्टों बहस कर लेंगे, परन्तु उनकी स्वयं की आत्मा कितने पानी में है? वे कहाँ तक अपनी आत्मा की कषायों से, विषयों से, राग-द्वेषादि विकारों से रक्षा कर पाते हैं या करते हैं? इसका विचार शायद ही करते हैं। बहुत-से लोग तो आत्म रक्षा क्या है और वह कैसे हो सकती है? यह भी नहीं जानते। दुनियाभर की सम्पदा इकट्ठी कर लेने या अपनी संस्थाओं के लिए चन्दा लेने से, बहुत ही सुन्दर भाषण दे देने से, बहुत-से शिष्य-शिष्याओं को मूड़ लेने से या लाखों अनुयायी बना लेने से, अथवा सुन्दर भोजन, वस्त्र एव आवास प्राप्त कर लेने से कहीं आत्मा की रक्षा होती है? यह आत्मा की रक्षा का मार्ग नहीं है।

जब आपको क्रोध आता है तो आप आपे से बाहर हो जाते हैं, जब आपके दिमाग में धन का, ज्ञान का, बल का, प्रतिष्ठा एव परिवार का नशा छा जाता है, तब आप अहंकार की आग में जलने लग जाते हैं, ऐश्वर्य के मद में आकर आप स्वार्थी बन जाते हैं, अपने या अपने परिवार के लिए बढ़िया भोजन, वस्त्र, एव आवास हो इस प्रकार की लोभवृत्ति आ जाती है, भोले-भाले, निर्बल लोगों को दबाने, उन्हें लेने, लूट लेने, उनका सर्वस्व हरण कर लेने एव उनके साथ धोखेबाजी करने मायावृत्ति आ जाती है तो आपकी यह आत्मरक्षा नहीं, आत्म-हत्या है।

रक्षापर्व के दिन आप आत्मरक्षा के इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर भी विचार करें। यह दुःखद है कि पररक्षा में ही आत्मरक्षा है, पर की उपेक्षा में ही आत्मा की उपेक्षा है। जब देश में भुखमरी का ताण्डवनृत्य हो रहा हो, देश के होनहार बालक, अनुभवी वृद्ध एव सत्कर्मपरायण जवान अकाल में ही काल के गाल में चले

जा रहे हों, उस समय कोई व्यक्ति स्वार्थी बनकर आत्मरक्षा के नाम पर अपने या अपनों की शरीररक्षा का ही विचार करे, या यों फिलासाफी झाड़ने लगे कि कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? अपनी आत्मरक्षा स्वयं ही हो सकती है, इत्यादि, तो समझना चाहिए, यह आत्मवंचना है। जब देश पर संकट के बादल छाए हों, पड़ौसियों और देशवासियों का आर्त्तनाद सुनाई दे रहा हो, उस समय व्यक्ति अपने देहपिण्ड में ही बँधा रह जाए, दया की भावना लेकर बाहर न निकले, सहानुभूति और सहृदयता को तिलांजलि दे दे तो समझना चाहिए, यह आत्मरक्षा नहीं, आत्महत्या है।

जिसके अन्तःकरण में आत्मरक्षा की प्रबल भावना उद्भूत होती है, वह महात्मा गाँधीजी की तरह नोआखाली की भयंकर आग में भी निर्भय होकर सभी पीड़ित और अज्ञान के कारण परस्पर लड़ाई-झगड़े में ग्रस्त लोगों को समझाने और उनकी रक्षा करने हेतु अपने प्राणों का बलिदान देने के लिए निकल पड़ेगा। वह अपनी वासनाओं, लालसाओं, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि को कम करेगा, अपनी आवश्यकताओं को गौण करके दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में लगेगा, रन्तिदेव की तरह स्वयं भूखे-प्यासे रहकर दूसरों की भूख-प्यास मिटाने को तत्पर रहेगा, दूसरों के लिए अपनी बुद्धि, शक्ति और समय को अर्पित कर देगा। आत्मरक्षा का यही मूलसूत्र है। इसे जीवनभर बाँध लेना ही रक्षाबन्धन है परन्तु जो धन का एवं विषयवासनाओं का गुलाम बन रहा है, जो अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बेचैन रहता है, अपने जीवन में स्वार्थभावना और अहंकारवृत्ति को ही सदैव प्रधानता देता है, वह आत्महत्या करता है, अपने धर्म की वह हत्या कर रहा है। अतः रक्षा-बन्धन के पवित्र पर्व पर आप अपनी आत्मरक्षा का प्रबल संकल्प कीजिए, इससे आपका जीवन महान् बनेगा।

प्रति मन मे किसी प्रकार द्वेषादि दुर्भाव रखा, और न ही मन मे किसी प्रकार क
संक्लेश किया। इसी परम क्षमा के प्रभाव से वे एक ही रात मे अपने समस्त कर्मो
का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।

आप कह सकते हैं, ये क्षमा के उदाहरण तो बहुत ही प्राचीन काल के हैं, क्या
आज कोई इस प्रकार का क्षमाभाव रख सकता है? महात्मा गांधी जी तो इसी युग मे
हुए हैं। उनके क्षमाभाव का उदाहरण लीजिए—

जब अफ्रीका मे गांधीजी रहते थे, तब काले लोगो पर गोरे लोगो की ओर से
बड़े घृणाजनक काले प्रतिबन्धक कानून लागू कर दिये गये थे। गांधीजी और अन्य
भारतीयो को ये गलत कानून बहुत अखरते थे। अतः गांधीजी ने भारतीयो को संगठित
करके उक्त काले कानूनो का विरोध प्रदर्शन करने के लिए तैयार किया। उस समय
के गवर्नर को पता लगा तो उसने गांधीजी को बुलाकर समझाया और आश्वासन दिया
कि हम अमुक कानूनो को रद्द कर देंगे। आप लोग इसके विरोध मे आन्दोलन न करें।
अतः गांधीजी और उनके कुछ साथियो ने आन्दोलन न करना स्वीकार कर लिया।
आलमगीर नामक एक पठान को यह पता लगा तो उसने उत्तेजित होकर कहा—अगर
गांधीजी उक्त कानूनो के मसविदे पर हस्ताक्षर करने जाएँगे तो मैं उनका सिर
दूंगा।" और जब गांधीजी हस्ताक्षर करने जा रहे थे तो आलमगीर पठान ने उन
घातक प्रहार किया। वे बेहोश होकर गिर पड़े। जब होश मे आए तो उनके परिचि
अंग्रेज मित्रो ने आलमगीर पर मुकद्दमा चलाकर उसे सजा दिलाने को कहा। लेकि
गांधीजी ने कहा—मैं अपने उस नासमझ भाई पर मुकद्दमा नही चला सकता। मैं उ
क्षमा करता हूँ वह जब समझेगा तो अवश्य ही उसे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होगा।
वास्तव मे गांधीजी की क्षमा का उस पर अचूक प्रभाव पड़ा वह पानी-पानी हो गया।
उसने गांधीजी से अपनी भूल के लिए माफी मांगी, गांधीजी ने उसे क्षमादान दिया।

क्षमापर्व का सच्चा आराधक

परन्तु क्षमापर्व का सच्चा आराधक वही है, जो आत्म-निरीक्षण, चिन्तन-
मनन पूर्वक मनुष्य से लेकर एकेन्द्रिय प्राणी तक के साथ विधिवत् क्षमा मांगता हो
और उनकी गलतियो के लिए उन्हें क्षमा देता हो। वह क्षमा मांगना कायरता नहीं,
ीरता समझता है। साथ ही वह यह समझता है कि क्षमा से अहिंसा की तो उत्कृष्ट
ाधना होती ही है, पूर्वबद्ध कर्मदल एकदम क्षय हो जाता है। जिसने आत्मा पर जो
र्मो का बोझ था, वह हलका हो जाता है। क्षमा से शाप, वैरी, विरोधी या कट्टर
कट्टर शत्रु भी अपना वैरभाव छोड़कर मित्र बन जाता है। क्षमा न करने से या
.. का बदला लेने से वह वैर-परम्परा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। श्रमण
भगवान महावीर ने कहा है—

'खमावणयाए णं जीवे पल्हायणभावं जणयइ'

क्षमापना करने से जीव को प्रह्लादभाव—आनन्द एवं प्रसन्नता की अनुभूति

होती है। उसकी व्यक्त ही नहीं, अव्यक्त चेतना में भी शान्ति, शीतलता एवं कृतकृत्यता की अनुभूति होती है। वह अपने मन-मस्तिष्क को अत्यन्त हल्का एवं प्रसन्न करता है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है—

"जो उवसमइ अत्थि तस्स आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा॥"

—जो क्षमापना द्वारा कलह-कषाय को उपशान्त कर देता है, उसी की धर्माराधना-पर्वाराधना-सफल होती है किन्तु जो क्रोध, वैर, कलह आदि का उपशमन नहीं करता, उसकी धर्माराधना या पर्वाराधना व्यर्थ जाती है। राख पर लीपने के समान उसका तप, त्याग, कष्ट सहन, सब व्यर्थ जाता है।

क्षमा से सहिष्णुता, तितिक्षा एवं धीरता का गुण प्रगट होता है। इसलिए क्षमावृत्ति सब संकटों पर विजय प्राप्त कराने में सहायक है। क्षमा से साधक परिग्रह को जीत लेता है।

अतः क्षमा का आराधक शान्तिपूर्वक ठंडे दिलदिमाग से इस पर्व के दिन क्रमशः आत्म-निरीक्षण करता है कि पिछली संवत्सरी से इस संवत्सरी तक मैंने किस-किस जीव का कितना अपराध किया? कितना किसे किस रूप में सताया? तंग किया, हैरान किया, किसे मारा-पीटा या धमकाया? किसे कुचला? किसके साथ कलह किया, वैर बाँधा, किसके साथ द्वेष, ईर्ष्या या घृणा की? किसको कटुवचन, व्यंग्यवचन या अपशब्द कहे? सर्वप्रथम वह पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्यों से, उनमें भी परिवार के सभी मनुष्यों के साथ हुए व्यवहार को टटोलता है, अपने पिता, पितामह, माता, मातामह, चाचा, ताऊ, छोटे-बड़े भाई, भाभी, पत्नी, बहनें, पुत्र-पुत्री, सास-ससुर आदि से हुए व्यवहार के लिए क्षमायाचना करेगा, क्षमा भी देगा। फिर अपने पड़ोसी मित्र, दूर-निकट के सम्बन्धी नौकर-नौकरानी, मुनीम-गुमाश्ते, कर्मचारी, दरबार के अफसर, समाज के सभी सम्बन्धित लोगों से क्षमा का आदान-प्रदान करेगा। तत्पश्चात् शेष ज्ञात-अज्ञात मनुष्यों से क्षमापना करके फिर अपने पालतू पशुओं, पक्षियों आदि से क्षमायाचना करेगा। जिन पशुओं को दुःख दिया है, जिन पशुओं पर

से क्षमायाचना करनी चाहिए। यद्यपि एकेन्द्रिय जीवों के मनुष्य पर अनन्य उपकार हैं, उन्हीं के कारण मनुष्य जीवन धारण करता है, फिर भी उनका उपयोग लाचारी-वश या जानबूझकर निरर्थक या बिना उपयोग के किया हो, उनका उपमर्दन हुआ हो, उसके लिए भी क्षमायाचना करनी आवश्यक है।

यद्यपि पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी आदि या चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय एवं एकेन्द्रिय प्राणी हमारी भाषा एवं भावों को नहीं समझते, तथापि हमें अपनी आत्म-शुद्धि के लिए उनसे हुए व्यवहारों के विषय में क्रमशः क्षमायाचना कर ही लेनी चाहिए। यद्यपि वर्तमान जीव-विज्ञान (Biology) ने यह सिद्ध कर दिया है और जैन-शास्त्रों में तो पहले से बता दिया है कि ये सभी प्राणी सुख-दुःख का संवेदन करते हैं, और किसी न किसी रूप में निन्दा-प्रशंसा किए जाने पर नाराजी या प्रसन्नता व्यक्त करते हैं, चाहे हम उनके भावों को समझ न सकें। जो भी हो, मनुष्य को अपनी ओर से उनसे क्षमायाचना कर लेनी चाहिए।

आजकल प्रथा के तौर पर बहुत-से लोग ऐसे आदमियों से तो 'खमाऊँ सा खमाऊँ सा' कहकर क्षमायाचना कर लेते हैं, पर जिनसे वास्ता पड़ा है, जिन्हें नाराज किया है, जिनके साथ मनमुटाव हुआ है, उनसे क्षमायाचना नहीं करते। वैर-विरोध की वह गांठ जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक चलती है, बल्कि परलोक में भी वे उस वैर की गांठ बांध कर ले जाते हैं। यह क्षमापर्व की आराधना नहीं, विराधना है। क्षमा-पर्व का सच्चा आराधक पर्व की आत्मा को पकड़ता है और अन्तर्मन में किसी के प्रति जरा भी वैर या द्वेष का भाव नहीं रखता, परलोक में साथ ले जाना तो दूर रहा, वह तो इहलोक में मनमुटाव या वैर-विरोध होने पर तुरन्त क्षमायाचना करके उस बात को रफादफा कर देता है। सचमुच वही व्यक्ति सच्चा आराधक है, जो क्षमापना करने में विलम्ब या टालमटूल नहीं करता।

क्षमा वीरों का आभूषण है

कुछ लोग कहा करते हैं—क्षमा करना कायरता का लक्षण है। कायर लोग ही क्षमा किया करते हैं। वीर तो पूरी तरह से डटकर मुकाबला करते हैं, विरोधी को छठी का दूध याद दिला देते हैं। अथवा क्षमा करना साधुओं का काम है, हम ठहरे गृहस्थ। हम क्षमा करने लगे तो उद्दण्ड लोग हमें सुख से नहीं जीने देंगे।' 'सेर पर सवा सेर' का हुनर रहने से ही सुख से मनुष्य जी सकता है।" परन्तु यह सब भ्रान्ति है। क्षमा करना कायरता नहीं, वीरता है। स्टर्न नामक एक अंग्रेज लेखक ने कहा है—

"A coward never forgives The brave only know how to forgive"

"कायर आदमी कभी क्षमा करना नहीं जानता। जो बहादुर होता है, वही क्षमा देना जानता है।"

वस्तुतः कायर को यह शंका होती है कि अगर मैंने इसे क्षमा दे दी तो यह बलवान् होते ही मुझ पर चढ़ बैठेगा, मुझे मार डालेगा।

इसीलिए कहा है—'क्षमा वीरस्य भूषणम्' क्षमा वीर का आभूषण है। उद्दण्ड तभी तक उद्दण्ड रहता है, जब तक उसके समक्ष उद्दण्ड या क्रोधी क्रोध करता रहता है, परन्तु जब उसके समक्ष कोई उद्दण्डता करने वाला ही नहीं रहता, तब वह अपने आप शान्त हो जाता है। इस सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

"क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ?
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ॥"

—जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकता है। घासफूस या तिनके से रहित स्थान में गिरी हुई अग्नि स्वयं ही ठंडी हो जाती है।

वास्तव में महान् पुरुषों का लक्षण ही यही है कि वे क्षमा के द्वारा मानव से दानव शत्रु को भी वश में कर लेते हैं।

चण्डप्रद्योत कितना घातक और लुटेरा था, उद्दण्ड और अविनयी था। उसने कौशाम्बी नरेश उदायन की दासी स्वर्णगुलिका को कामांधतावश चुराई और रातोरात भगा कर उज्जयिनी ले गया। राजर्षि उदायन ने जब सुना तो उन्होंने निर्णय किया कि चण्डप्रद्योत मुझे कायर समझकर चोरी करके मेरी दासी को ले गया है, अतः मुझे उसने चुनौती दी है। मुझे इसे अन्याय-अनीति का दण्ड देना ही चाहिए।

बस, उदायन राजा अपनी सेना सहित उज्जयिनी पहुँचे। चारों ओर घेरा डाल दिया। चण्डप्रद्योत राजा को उन्होंने दूत के द्वारा चुराई हुई वस्तुओं को वापस लौटाने अथवा द्वन्द्व युद्ध या विग्रह करने का संदेश भेजा। किन्तु अहंकारी चण्डप्रद्योत ने चुराई हुई वस्तु को लौटाने से साफ इन्कार कर दिया। आखिर युद्ध हुआ और युद्ध में चण्डप्रद्योत को जीवित पकड़कर बन्दी बना लिया गया। विजय होने पर चण्ड को बन्दी बनाकर उदायन ने वहाँ से वापस प्रस्थान किया। रास्ते में दशपुर नामक नगर में वर्षाकाल आया और पर्युषणपर्व होने से उस दिन का उपवास [illegible] किया। उदायन [illegible] भी [illegible] था। पर्युषण के [illegible] दिन उदायन ने [illegible] के निमित्त, [illegible] था। उदायन के [illegible] थे—[illegible] हैं, [illegible] को [illegible], [illegible], [illegible] चण्डप्रद्योत [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]।"

[illegible]

सत्तरे में पड़ी थी। शक्तिमद में अन्धा होकर शक्तिसम्पन्न शासक दूसरे छोटे-छोटे शासकों को पैरों तले रौंद डालना चाहता था। नारीजाति अपने प्रति अन्याय-अत्याचार के खिलाफ कुछ भी मुंह नहीं खोल सकती थी। राम का उद्देश्य इसी अन्याय अत्याचार के खिलाफ जेहाद करना था। छोटी-छोटी सत्ताओं में प्राण फूंकना था कि ऐसे अन्याय अत्याचार के खिलाफ लड़ें। श्रीराम ने अपने प्राणों की बाजी लगाकर शक्तिभर संघर्ष किया, वानर जाति और राक्षसजाति के कई नरवीर राम के पक्ष में हो गये। इसी प्रकार पीड़ित जनता का समर्थन भी राम को मिला। अन्यथा, कहाँ तो रावण के पास प्रचण्ड विशाल सेना, और कहाँ राम के पास मुट्ठी भर वानरी सेना! मगर न्याय-नीति का प्रश्न था, इसलिए वानरी सेना भी उस समय विदेशी ही थी। अयोध्या की कोई सेना राम के साथ नहीं थी। शुरू में तो राम और लक्ष्मण दो ही थे। फिर हनुमानजी, सुग्रीव, नल, नील, जाम्बवन्त, विभीषण आदि वीर और इनके सैन्य सहयोग में आ डटे। वानर जाति के वीर निःस्वार्थभाव से आये थे। उन्हें पता था कि रावण की उद्दण्ड शक्ति के मुकाबले में हमारे पास कितनी अल्प शक्ति है। फिर भी उन्होंने अन्याय, अत्याचार का प्रतीकार करने के लिए प्रचण्डशक्ति, धन, सत्ता और वैभव की कोई परवाह नहीं की। वास्तव में पीड़ित जनता के अश्रुओं ने राम को वह शक्ति प्रदान की एवं उसी प्रेरणा से वानरजाति के वीर योद्धा राम के पक्ष में आ डटे थे। उनका उद्देश्य सत्य था, प्रशस्त था, इसीलिए अल्पसाधन होते हुए भी श्रीराम को विजय की प्राप्ति हुई।

इसी दिन अर्थात् आश्विन शुक्ला १० को न्याय-नीतिपरायण श्रीराम ने अन्याय-अनीतिपरायण राजा रावण को मारकर उस पर विजय प्राप्त की थी। सत्य और न्याय विजयी हुआ और इसी दिन विजयादशमी का महापर्व स्थापित हो गया, उसी सत्य एवं न्याय की विजय की चिरस्मृति के लिए।

यह है विजयादशमी पर्व की ऐतिहासिक कथा। कहते हैं, इसी विजयादशमी के दिन दुर्योधन के अन्याय के खिलाफ पाण्डवों ने विजय के लिए शस्त्र उठाये थे। विजयादशमी के दिन अनेक ऐसे महापुरुषों का जन्म भी हुआ है, जिन्होंने जगत् को शान्ति का सन्देश दिया है, अपने जीवन को विजयी और अमर बनाया है। काका कालेलकर कहते हैं—विजयादशमी के पीछे भारतीय इतिहास की अनेक पर्तें जमी हुई हैं। जैसे अभ्रक के टुकड़े की एक-एक परत उखाड़ी जाती है, इसी प्रकार विजयादशमी पर्व के पीछे भी अनेक ऐतिहासिक पर्तें उखाड़ी जा सकती हैं। परन्तु इस पर्व का मूलस्वर है—अधर्म पर धर्म की विजय, अन्याय-अत्याचार पर न्याय, नीति और सदाचार की विजय हो, इस प्रकार का [illegible]

हम यहीं देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया ! क्या इतने से विजयपर्व मनाने का सन्तोष कर लें ? नहीं, विजयपर्व का मूलस्वर यह नहीं है । विजय पर्व का मूलस्वर अपने सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमें अपने हृदयस्थ राम को आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करानी चाहिए । आज भारत में चारों ओर से विविध शक्तियाँ छा रही हैं । अन्याय, अत्याचार उभर रहे हैं । अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं । अत: आज एक सीता का प्रश्न नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है ।

आज रावण तो हजारों हैं, पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं ? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारों रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे हैं, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं । चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सकें । आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे । जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और असत्य की विजय हो रही हो, वहाँ अपने-प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं । भारतीय संस्कृति के अनुसार हमें रावण से नहीं लड़ना है, रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है ।

रावण ने सीता का अपहरण किया । राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की । यह तो कथा का बाह्य कलेवर है । इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमें सद्विजय का प्रयास करना चाहिए । हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं । राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है । दोनों का सतत युद्ध चल रहा है । राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनों का था । उसका निर्णय भी झटपट हो गया । राम की विजय और रावण की हार हो गई । परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिंदगी के अन्तिम क्षण तक चलता है । सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है । वह राम के सपर्क में, साहचर्य में रहना चाहती है । परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरीवृत्ति अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है । सत्ता, सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है । राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है । ज्ञानी पुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, पुराणेतिहासिक ने इसे शैतान कहा है, गीता में उसे आसुरीशक्ति वाला असुर कहा है । रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम *मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ।* इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अंदाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोहरूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और *तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।*

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी *बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद* पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यहीं देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया। क्या इतने से विजयादशमी मनाने का सन्तोष कर लें? नहीं, विजयपर्व का मूलस्वर यह नहीं है। विजय पर्व का मूलस्वर आज सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमें अपने हृदयस्थ राम का आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करनी चाहिए। आज भारत में चारों ओर से विविध शक्तियाँ छा रही हैं। अन्याय, अत्याचार उभर रहे हैं। अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं। अतः आज एक सीता का प्रश्न नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है।

आज रावण तो हजारों हैं पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारों रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे हैं, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं। चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सकें। आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के आदर्श सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे। जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और असत्य की विजय हो रही हो, वहाँ अपने-प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमें रावण से नहीं लड़ना है, रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है।

रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की। यह तो कथा का बाह्य कलेवर है। इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमें सद्विजय का प्रयास करना चाहिए। हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं। राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है। दोनों का सतत युद्ध चल रहा है। राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनों का था। उसका निर्णय भी झटपट हो गया। राम की विजय और रावण की हार हो गई। परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिंदगी के अन्तिम क्षण तक चलता है। सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है। वह राम के सम्पर्क में, साहचर्य में रहना चाहती है। परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरीबल अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है। सत्ता, सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है। राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है। ज्ञानी पुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानेशरीफ ने इसे शैतान कहा है, गीता में उसे आसुरीशक्ति वाला असुर कहा है। रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुडा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अंदाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे ? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह-रूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यहीं देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया ! क्या इतने से विजयपर्व मनाने का सन्तोष कर लें ? नहीं, विजयपर्व का मूलस्वर यह नहीं है । विजय पर्व का मूलस्वर अपने सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमें अपने हृदयस्थ राम को आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करानी चाहिए । आज भारत में चारों ओर से विविध शक्तियाँ छा रही हैं । अन्याय, अत्याचार उभर रहे हैं । अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं । अतः आज एक सीता का प्रश्न नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है ।

आज रावण तो हजारों हैं, पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं ? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारों रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे हैं, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं। चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सकें । आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे । जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और असत्य की विजय हो रही हो, वहाँ अपने प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमें रावण से नहीं लड़ना है, रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है ।

रावण ने सीता का अपहरण किया । राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की । यह तो कथा का बाह्य कलेवर है । इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमें सद्विजय का प्रयास करना चाहिए । हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं । राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है । दोनों का सतत युद्ध चल रहा है । राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनों का था । उसका निर्णय भी झटपट हो गया । राम की विजय और रावण की हार हो गई । परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिंदगी के अन्तिम क्षण तक चलता है । सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है । वह राम के संपर्क में, साहचर्य में रहना चाहती है। परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरीवृत्ति अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है । सत्ता, सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है । राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है। ज्ञानी पुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानेशरीफ ने इसे शैतान कहा है, गीता में उसे आसुरीशक्ति वाला असुर कहा है । रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर बड़ा सवाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नज़र-अंदाज़ कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्ज़े से कैसे छूटे? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, त्याग, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह-रूपी रावण को दूर कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्ज़े से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यही देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया ! क्या इतने से विजयपर्व मनाने का सन्तोष कर लें ? नही, विजयपर्व का मूलस्वर यह नही है । विजय पर्व का मूलस्वर अपने सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमे अपने हृदयस्थ राम को आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करानी चाहिए। आज भारत मे चारो ओर से विविध शक्तियाँ छा रही है। अन्याय, अत्याचार उभर रहे है। अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं। अत आज एक सीता का प्रश्न नही, हजारो सीताओ का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है।

आज रावण तो हजारो है, पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं ? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारो रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे है, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए है। चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सके। आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखो मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तो को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे। जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वो का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और असत्य की विजय हो रही हो, वहाँ अपने-प्राणो की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमे रावण से नहीं लड़ना है, रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है।

रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चगुल से मुक्त की। यह तो कथा का बाह्य कलेवर है। इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमे सद्विजय का प्रयास करना चाहिए। हमारी आत्मा मे राम और रावण दोनो शक्तियाँ बैठी है। राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है। दोनो का सतत युद्ध चल रहा है। राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनो का था। उसका निर्णय भी झटपट हो गया। राम की विजय और रावण की हार हो गई। परन्तु यहाँ आत्मा मे राम और रावण दोनो का युद्ध जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक चलता है। सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है। वह राम के सम्पर्क मे, साहचर्य मे रहना चाहती है। परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरीतत्त्व अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है। सत्ता, सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है। राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है। ज्ञानी पुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानेशरीफ ने इसे शैतान कहा है, गीता में उसे आसुरीशक्ति या असुर कहा है। रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अंदाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह-रूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यहीं देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया। क्या इतने से विजयपर्व मनाने का सन्तोष कर लें? नहीं, विजयपर्व का मूलस्वर यह नहीं है। विजय पर्व का मूलस्वर अपने सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमें अपने हृदयस्थ राम को आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करनी चाहिए। आज भारत में चारों ओर से विविध शक्तियाँ छा रही हैं। अन्याय, अत्याचार उभर रहे हैं। अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं। अब आज एक सीता का प्रश्न नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है।

आज रावण तो हजारों हैं पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारों रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे हैं, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं। चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सकें। आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे। जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और अन्याय की विजय हो रही हो, वहाँ अपने-प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमें रावण से नहीं लड़ना है, रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है।

रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की। यह तो कथा का बाह्य कलेवर है। इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमें सद्विजय का प्रयास करना चाहिए। हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं। राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है। दोनों का सतत युद्ध चल रहा है। राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनों का था। उसका निर्णय भी झटपट हो गया। राम की विजय और रावण की हार हो गई। परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक चलता है। सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है। वह राम के सम्पर्क में, साहचर्य में रहना चाहती है। परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरीवृत्ति अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है। सत्ता, सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है। राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है। ज्ञानी पुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानशरीफ ने इसे शैतान कहा है, गीता ने उसे आसुरीशक्ति वाला असुर कहा है। रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अंदाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे ? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह-रूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु *आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर* लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यहीं देखकर सन्तुष्ट हो जाते [illegible] महासती सीता का अपहरण किया इसलिए उसे दण्ड मिल गया। [illegible] नहीं, विजयपर्व का पुरस्कार [illegible] नहीं है, [illegible] समाज को सन्तोष कर लें? न समान अन्याय अत्याचार का व्यवहार किया [illegible] पर हो रहा है या किसी अबला पर [illegible] रूपी दो कुमारिका अपने हृदयस्थ राम को आह्वान [illegible] हो तो उस समय हमें चाहिए। आज भारत में [illegible] रावण पर विजय करानी चार उभर रहे हैं। अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं। अन्याय अत्या- प्रश्न नहीं, हजारों [illegible] का प्रश्न हमारे सामने [illegible] है।

आज रावण तो हजारों [illegible] मैं पूछता हूँ उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं? भारतीय संस्कृति रूपी सीता, पर आज हजारों रावण अन्याय अत्याचार कर रहे हैं, उनका [illegible] करने के लिए तुले हुए हैं। चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान व्यक्ति जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सकें। आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे पर राम के सत्य न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे। जहाँ-जहाँ सत्य प्रेम न्याय नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और असत्य की विजय हो रही हो वहाँ अपने-प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार हम रावण से नहीं लड़ना है रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है।

रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की। यह तो कथा का बाह्य कलेवर है। इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हम सद्विजय का प्रयास करना चाहिए। हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं। राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है। दोनों का सतत युद्ध चल रहा है। राम-रावण का युद्ध तो युद्ध ही महीनों का था। उसका निर्णय भी झटपट हो गया। राम की विजय और रावण की हार हो गई। परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिंदगी के अन्तिम क्षण तक चलता है। सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है। राम के संपर्क में, साहचर्य में रहना चाहती है। परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि को रावण रूपी आसुरीबल अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है। सत्ता, सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है। राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है। महापुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानेशरीफ ने इसे शैतान कहा है, गीता ने आसुरीशक्ति वाला असुर कहा है। रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अदाज कर देते है। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह-रूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते है। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुन पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का सकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यहीं देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया। क्या इतने से विजयपर्व मनाने का सन्तोष कर लें ? नहीं, विजयपर्व का मूलस्वर यह नहीं है। विजय पर्व का मूलस्वर अपने सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमें अपने हृदयस्थ राम को आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करानी चाहिए। आज भारत में चारों ओर से विविध शक्तियाँ छा रही हैं। अन्याय, अत्याचार उभर रहे हैं। अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं। अतः आज एक सीता का प्रश्न नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है।

आज रावण तो हजारों हैं, पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं ? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारों रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे हैं, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं। चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता का छुड़ा सके। आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे। जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और अन्याय की विजय हो रही हो, वहाँ अपने-प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमें रावण से नहीं लड़ना है रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है।

रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की। यह तो कथा का बाह्य कलेवर है। इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमें सद्विजय का प्रयास करना चाहिए। हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं। राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है। दोनों का सतत युद्ध चल रहा है। राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनों का था। उसका निर्णय भी झटपट हो गया। राम की विजय और रावण की हार हो गई। परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक चलता है। सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम आत्मा की पत्नी है। वह राम के सम्पर्क में, सान्निध्य में रहना चाहती है। परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरी शक्ति अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है। सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है। राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है। अतः, अपने पुरखों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानेशरीफ ने इसे शैतान कहा है, गीता में इसे आसुरी शक्ति अथवा असुर कहा है। रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अन्दाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह-रूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यहीं देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया। क्या इतने से विजयपर्व मनाने का सन्तोष कर लें? नहीं, विजयपर्व का मूलस्वर यह नहीं है। विजय पर्व का मूलस्वर अपने सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमें अपने हृदयस्थ राम को आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करानी चाहिए। आज भारत में चारों ओर से विविध शक्तियाँ छा रही है। अन्याय, अत्याचार उभर रहे हैं। अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं। अतः आज एक सीता का प्रश्न नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है।

आज रावण तो हजारों हैं, पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारों रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे हैं, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं। चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सकें। आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे। जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और असत्य की विजय हो रही हो, वहाँ अपने-प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं। भारतीय संस्कृति के अनुसार हमें रावण से नहीं लड़ना है रावणत्व से लड़ना है और रावणत्व पर विजय दिलानी है।

रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की। यह तो कथा का बाह्य कलेवर है। इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमें सद्विजय का प्रयास करना चाहिए। हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं। राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है। दोनों का सतत युद्ध चल रहा है। राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनों का था। उसका निर्णय भी झटपट हो गया। राम की विजय और रावण की हार हो गई। परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक चलता है। सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है। वह राम के संपर्क में, सान्निध्य में रहना चाहती है। परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरीवृत्ति अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है। सत्ता, सम्पत्ति, रूप शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है। राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है। ज्ञानी पुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानशरीफ ने इसे शैतान कहा है, वेद से उसे आसुरीशक्ति वाला असुर कहा है। रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि ह मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अंदाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आ मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह रूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा ख्याल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अंदाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे से कैसे छूटे ? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोहरूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।

हम यही देखकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि रावण ने महासती सीता का अपहरण किया, इसलिए उसे दण्ड मिल गया । क्या इतने से विजयपर्व मनाने का सन्तोष कर लें ? नहीं, विजयपर्व का मूलस्वर यह नहीं है । विजय पर्व का मूलस्वर अपने सामने सीता के समान अन्याय-अत्याचार का व्यवहार किसी सुशीला, पतिव्रता स्त्री या कुमारिका पर हो रहा है, या किसी अबला पर अत्याचार, अन्याय हो रहा हो तो उस समय हमें अपने हृदयस्थ राम को आह्वान करके अन्याय-अत्याचाररूपी रावण पर विजय करानी चाहिए । आज भारत में चारों ओर से विविध शक्तियाँ छा रही हैं । अन्याय, अत्याचार उभर रहे हैं । अनेक रावण आज सिर उठा रहे हैं । अतः आज एक सीता का प्रश्न नहीं, हजारों सीताओं का प्रश्न हमारे सामने मुँह बाए खड़ा है ।

आज रावण तो हजारों हैं, पर मैं पूछता हूँ, उन पर विजय प्राप्त करने के लिए राम बनने वाले कितने हैं ? भारतीय संस्कृति रूपी सीता पर आज हजारों रावण अन्याय-अत्याचार कर रहे हैं, उसका सदाचार नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं । चाहिए राम बनने वाले उदार और निष्ठावान् व्यक्ति, जो उन रावणों के चंगुल से भारतीय संस्कृति रूपी सीता को छुड़ा सकें । आज राम के शरीर की पूजा करने वाले तो लाखों मिलेंगे, पर राम के सत्य, न्याय और प्रेम के व्यापक सिद्धान्तों को अपनाने वाले विरले ही मिलेंगे । जहाँ-जहाँ सत्य, प्रेम, न्याय-नीति आदि तत्त्वों का ह्रास हो रहा हो, अधर्म और असत्य की विजय हो रही हो, वहाँ अपने-प्राणों की बाजी लगा कर लड़ने वाले और संस्कृति की रक्षा करने वाले ही राम के सच्चे पुजारी हैं । भारतीय संस्कृति के अनुसार हमें रावण से नहीं लड़ना है, रावणत्व से लड़ना है और रामत्व को विजय दिलानी है ।

रावण ने सीता का अपहरण किया । राम ने उस पर विजय प्राप्त करके सीता को उसके चंगुल से मुक्त की । यह तो कथा का बाह्य कलेवर है । इसके भीतर छिपे हुए रहस्य को खोजने का प्रयत्न करके हमें सद्विजय का प्रयास करना चाहिए । हमारी आत्मा में राम और रावण दोनों शक्तियाँ बैठी हैं । राम हमारी दैवी शक्ति है, रावण आसुरी शक्ति है । दोनों का सतत युद्ध चल रहा है । राम-रावण का युद्ध तो कुछ ही महीनों का था । उसका निर्णय भी झटपट हो गया । राम की विजय और रावण की हार हो गई । परन्तु यहाँ आत्मा में राम और रावण दोनों का युद्ध जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक चलता है । सीता रूपी बुद्धि राम रूपी परम-आत्मा की पत्नी है । वह राम के सम्पर्क में, साहचर्य में रहना चाहती है । परन्तु हमारी सीता रूपी बुद्धि का रावण रूपी आसुरीबल अपहरण करना चाहता है, कर भी लेता है । सत्ता, सम्पत्ति, स्थूल शक्ति से वह सीता रूपी बुद्धि को प्रभावित करके अपने अधीन करने का प्रयत्न करता है । राम के पास यह बाह्य वैभव, सत्ता या सम्पत्ति नहीं है । ज्ञानी पुरुषों ने इस रावण को मोह कहा है, कुरानेशरीफ ने इसे शैतान कहा है, गीता में उसे आसुरीशक्ति वाला असुर कहा है । रावण-रूपी मोह या शैतान हमारी बुद्धि-

रूपी सीता का बार-बार हरण करता है। क्या कभी आपने विचार किया है कि हम मोहरूपी रावण द्वारा अपहृत हमारी निर्मल बुद्धि रूपी सीता को उसके पंजे से छुड़ा कर वापस लाएँ। इस पर मेरा खयाल है, आप बहुत ही कम विचार करते होंगे। आप इस बात को नजर-अंदाज कर देते हैं। आप सोचते हैं, कौन झंझट में पड़े, बल्कि आप मोहरूपी रावण के सामने स्वयं हथियार डाल देते हैं, तब बुद्धि रूपी सीता उसके कब्जे में कैसे छूटे? बुद्धि रूपी सीता को मोह रूपी रावण के चंगुल से छुड़ाने के लिए तो उसके साथ अनासक्ति, सत्य, न्याय, धर्म आदि के शस्त्रों से जूझना पड़ता है और मोह-रूपी रावण को हरा कर उसे मारना पड़ता है, तभी उस पर विजय प्राप्त हो सकती है और तभी निर्मल बुद्धि सीता वापस आ सकती है।

विजय के लिए—सच्चे विजय के लिए मोहरूपी रावण से युद्ध करना अनिवार्य है। विजय पाना हो तो संघर्ष अवश्यम्भावी है। हमारे तीर्थंकर भी रागद्वेष विजेता कहलाते हैं। बाह्य संग्राम में बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेना और लाखों सुभटों को मार डालना और बात है, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं—अन्दर में बैठे रावणों पर विजय पाना और बात है। पहली विजय शाश्वत विजय नहीं है, अस्थायी विजय है, शत्रु प्रबल हुआ तो पुनः पूर्व विजय को पराजय में परिणत कर सकता है। परन्तु आन्तरिक विजय शाश्वत विजय है। एक बार पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर फिर उनके साथ लड़ने का और पराजित होने का कोई प्रश्न नहीं रहता।

विजय पर्व की यही प्रेरणा है कि आप मोहरूपी रावणासुर के साथ संघर्ष करके उस पर विजय प्राप्त करें और अपनी निर्मल बुद्धि रूपी सती सीता को उसके कब्जे से विमुक्त करें।

हम अपनी निर्मल बुद्धि को मोहादि के अधीन न बनने दें, सतत इसकी सावधानी रखें। अन्यथा बुद्धि व्यभिचारिणी हो जाएगी। इतनी मर्दानगी रखें कि हमारी बुद्धि हमारी आत्मा के अधीन रहे, मोहादि रावणों के अधीन न बने। अन्यथा पद-पद पर आपकी हार है। यही विजयादशमी का मूल सन्देश है। इस दिन आप विजय—आन्तरिक विजय प्राप्त करने का संकल्प करें यही हमारी शुभकामना है।